उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

स्नातक (हिंदी) तृतीय वर्ष; षष्ठ सत्र

हिंदी निबंध

BAHL(N)-302

मानविकी विद्याशाखा

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

विशेषज्ञ समिति	
प्रो. रेनू प्रकाश मानविकी विद्याशाखा, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय	प्रो.शिरीष कुमार मौर्य कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल
प्रो.प्रभा पंत हिन्दी विभाग एमबीपीजी कॉलेज, हल्द्वानी	डॉ. जगत सिंह बिष्ट हिन्दी विभाग सो. सिं. जी. विश्वविद्यालय, अल्मोडा
डॉ. शशांक शुक्ला एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	डॉ. राजेन्द्र कैड़ा असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ. मंगलम कुमार रस्तोगी असिस्टेंट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	डॉ. अनिल कुमार कार्की असिस्टेंट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी
डॉ. पुष्पा बुढ़लाकोटी असिस्टेंट प्रोफेसर,हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	
पाठ्यक्रम समन्वयक, संयोजन एवं संपादन	
डॉ. शशांक शुक्ला एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल	डॉ. राजेन्द्र कैड़ा असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ. मंगलम कुमार रस्तोगी असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल	डॉ. अनिल कुमार कार्की असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल
डॉ. पुष्पा बुढ़लाकोटी असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय हल्द्वानी, नैनीताल	

हिंदी निबंध BAHL(N) 302

इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
प्रो प्रभा पंत हिंदी विभाग, एम बी पी जी कॉलेज, हल्द्वानी	1
डॉ मंगलम कुमार रस्तोगी सहायक प्राध्यापक हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल	2,3,7,10,13
डॉ राजेंद्र कैड़ा सहायक प्राध्यापक हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल	4,5,6,15
डॉ अनिल कार्की सहायक प्राध्यापक हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल	8
डॉ पुष्पा बुढ़लाकोटी सहायक प्राध्यापक हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल	9,12,14
डॉ शशांक शुक्ल सह-आचार्य हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग उत्तराखंड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी नैनीताल	11

कापीराइट@उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

नोटः - इस पुस्तक के समस्त इकाईयों के लेखन तथा कॉपीराइट संबंधी किसी भी मामले के लिये संबंधित इकाई लेखक जिम्मेदार होगा। किसी भी विवाद का निस्तारण नैनीताल स्थित उच्च न्यायालय अथवा हल्द्वानी स्थित सत्रीय न्यायालय में किया जायेगा।

संस्करण: 2025

प्रकाशकः उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी ,नैनीताल -263139

मुद्रक :

ISBN -

BAHL(N)-302-1(004504)

हिंदी निबंध BAHL(N)-302

खण्ड 1 – हिंदी निबंध : सिद्धांत	**पृष्ठ संख्या**
इकाई 1 – हिंदी निबंध साहित्य का स्वरूप और तात्विक विवेचन	4-17
खंड 2 – हिंदी निबंध : पाठ और मूल्यांकन	
इकाई 2 – भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो? (भारतेंदु हरिश्चंद्र) : पाठ और मूल्यांकन	18-35
इकाई 3 – कवि और कविता (महावीर प्रसाद द्विवेदी): पाठ और मूल्यांकन	36-55
इकाई 4 – करुणा (आचार्य रामचंद्र शुक्ल): पाठ और मूल्यांकन	56-75
इकाई 5 – पंडितों की पंचायत (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी):पाठ एवं मूल्यांकन	76-93
इकाई 6 – उत्तराखण्ड में संत मत (डॉ पीताम्बर दत्त बड़थवाल): पाठ एवं मूल्यांकन	94-106
इकाई 7 – कछुआ धर्म (चंद्रधर शर्मा गुलेरी): पाठ और मूल्यांकन	107-120
इकाई 8 – मजदूरी और प्रेम (सरदार पूर्ण सिंह): पाठ और मूल्यांकन	121-132
इकाई 9 – गेहूँ और गुलाब (रामबृक्ष बेनीपुरी): पाठ और मूल्यांकन	133-143
इकाई 10– मेरे राम का मुकुट भीग रहा है (विद्यानिवास मिश्र): पाठ और मूल्यांकन	144-164
इकाई 11 – यथार्थ जगत और साहित्य (डॉ रामविलास शर्मा): पाठ और मूल्यांकन	165-182
इकाई 12 – व्यापकता और गहराई (डॉ नामवर सिंह): पाठ और मूल्यांकन	183-198
इकाई 13 – निषाद बाँसुरी (कुबेरनाथ राय): पाठ और मूल्यांकन	199-218
इकाई 14 – कला में सोद्देश्यता का प्रश्न (रामधारी सिंह दिनकर): पाठ और मूल्यांकन	219-230
इकाई 15 – साहित्य क्यों (डॉ विजयदेव नारायण साही): पाठ और मूल्यांकन	231-247

इकाई 1 हिन्दी निबन्ध साहित्य का स्वरूप एवं तात्त्विक विवेचन

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 निबन्ध का अर्थ, तात्पर्य और स्वरूप
1.4 निबन्ध के प्रकार
1.5 निबन्ध : तात्त्विक विवेचन
1.6 सारांश
1.7 शब्दावली
1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची
1.9 अभ्यासों के उत्तर
1.10 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आप जानेंगे कि 'निबन्ध' शब्द का अर्थ एवं तात्पर्य क्या है ? इसका स्वरूप कैसा होता है? निबन्ध के तत्त्व कौन-कौन से हैं, तथा उनकी विवेचना कैसे की जाती है। इसके साथ ही आप यह भी जान सकेंगे कि निबन्ध लेखन, साहित्य की अन्य विधाओं से किस तरह भिन्न है।

'निबन्ध' साहित्य की एक ऐसी विधा है, जिसमें लेखक अपने मौलिक चिंतन तथा गम्भीर विचारों को तार्किकता के साथ कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करता है। फ्रांसीसी विद्वान मॉन्तेन ने 1580 में व्यक्तिगत दशाओं को अभिव्यक्त करते हुए जिस विधा में लिखा था, उसे 'ऐस्साइ' की संज्ञा दी।

मॉन्तेन को आधुनिक निबन्ध का जन्मदाता माना जाता है; वे निबन्ध को विचारों, उद्धरणों और कथाओं का सम्मिश्रण मानते थे। भारत में हिन्दी 'निबन्ध' लेखन की परम्परा का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु हरिश्चंद्र से माना जाता है।

1.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़कर आप जान सकेंगे -

निबन्ध का अर्थ, तात्पर्य क्या है ?
निबन्ध का स्वरूप कैसा होता है ?
निबन्ध कितने प्रकार के होते हैं ?
निबन्ध के प्रमुख तत्त्व कौन से हैं ?
निबन्ध साहित्य अन्य विधाओं से भिन्न क्यों है।

1.3 निबन्ध का अर्थ, तात्पर्य एवं स्वरूप

शब्दिक अर्थ में 'निबन्ध' का अर्थ है- पूर्ण रूप से बँधा हुआ, अर्थात् एक ऐसी साहित्यिक विधा जिसमें लेखक द्वारा अपने मनोभावों एवं विचारों को सम्यक् रूप से एकत्र करके कलात्मक शैली में स्वछन्दतापूर्वक अभिव्यक्त किया जाता है। संस्कृत साहित्य में स्मृतियों की व्याख्याओं, तथा भोजपत्रों में लिखित मौलिक रचनाओं को सँवारकर ग्रथित करने या बाँधने के लिए 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग मिलता है; किन्तु हिन्दी में इस अर्थ की दृष्टि से 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता। यद्यपि हिन्दी में निबन्ध शब्द परम्परा से आया; किन्तु अर्थ की दृष्टि से वह अंग्रेजी के 'एस्से' का पर्यायवाची है। अंग्रेजी का 'एस्से' शब्द, प्राचीन फ्रांस के 'एस्साइ' से बना; जो मूलतः लैटिन में 'एग्जाजियर' से व्युत्पन्न है; जिसका अर्थ है- निश्चिततापूर्वक परीक्षण करना।

विभिन्न विद्वानों के मत

यह तो आप जानते ही हैं कि किसी भी व्यक्ति, वस्तु अथवा विषय के संबंध में प्रत्येक व्यक्ति के अपने विचार और अपना दृष्टिकोण होता है, जो दूसरे से कुछ भिन्न होता है; यही कारण है कि निबन्ध के संबंध में भी विभिन्न भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं। आइये जानें , किसकी दृष्टि में निबन्ध क्या है- फ्रेंच विद्वान मॉन्तेन ने निबन्ध के लिए 'ऐस्साइ' शब्द का प्रयोग किया है; उनके लिए यह निष्छल आत्माभिव्यक्ति का पर्याय है। वे कहते हैं- "मेरी इच्छा है कि मुझे सच्चे सीधे, सहज, साधारण रूप में ही जाना जाए; उसमें कोई लाग-लपेट, दिखावा-बनाना, छल-छंद, नकलीपन ना हो, क्योंकि अपने निबंधों में मैं स्वयं को चित्रित करता हूँ अथवा मैं स्वयं ही पुस्तक का विषय हूँ।" भारतीय विद्वान जयनाथ 'नलिन' ने निबन्ध को परिभाषित करते हुए लिखा है- "निबन्ध स्वाधीन चिन्तन और निष्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाशन है।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबन्ध को गद्य की कसौटी मानते हैं। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा 'एस्से' के बताए गए लक्षणों के आधार पर वे, निबन्ध के विषय में कहते हैं- ''निबन्ध उसी को कहना चाहिये, जिसमें व्यक्तित्त्व अर्थात् व्यक्तिगत विषेषता हो।''

जॉनसन का मत है- "एस्से स्वछन्द मन की तरंग है, जिसमें विश्रृंखलता का प्राधान्य होता है।

बाबू गुलाबराय निबन्ध को परिभाषित करते हुए कहते हैं- "निबन्ध उस गद्य रचना को कहना चाहिये, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विषेष निजीपन, स्वछन्दता, सौष्ठव एवं सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।

उपर्युक्त परिभाषाएं को पढ़कर आप यह जान ही चुके होंगे कि सभी विद्वानों ने निबन्ध के विषय में कुछ-न-कुछ विषेष बात अवश्य कही है। आइये, अब यह भी जानें कि हिन्दी साहित्य में निबन्ध लेखन का शुभारम्भ कब से हुआ, और हिन्दी के प्रमुख निबन्धकार कौन-कौन हैं।

अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य में जब भारत का संपर्क अंग्रेज़ी ज्ञान-विज्ञान से बढ़ने लगा, तब पाश्चात्य साहित्य की विविध विधाओं से प्रभावित होकर, अनेक भारतीय भाषाओं के साहित्यकारों ने उनमें साहित्य सृजन करना प्रारम्भ किया। इन्हीं विधाओं में से एक विधा थी- निबन्ध; जो आज भी

हिन्दी गद्य साहित्य का अभिन्न अंग है। हिन्दी 'निबन्ध' लेखन की परम्परा का आरम्भ उन्नीसवीं शताब्दी में 'भारतेन्दु हरिष्चन्द्र' से माना जाता है। उनके समकालीन लेखकों में पंड़ित बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र तथा बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का नाम उल्लेखनीय है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू गुलाबराय, वासुदेवशरण अग्रवाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ.नगेन्द्र, कुबेरनाथ राय, महादेवी वर्मा आदि साहित्यकारों ने हिन्दी निबन्ध लेखन को उत्कर्ष पर पहुंचाया। हिन्दी साहित्य जगत में शुक्ल युग को गद्य साहित्य के सर्वांगीण विकास का युग माना जाता है, इस युग के प्रवर्तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल थे। हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में 'निबन्ध' लेखन के लिए चिंतन एवं विचार गाम्भीय एवं बोधगम्यता को आवश्यक तत्त्व मानकर, निबन्ध को परिभाषित करते हुए लिखा है- "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।...आधुनिक पाष्चात्य लक्षणों के अनुसार निबन्ध उसी को कहना चाहिए, जिसमें व्यक्तित्व अर्थात् व्यक्तिगत विषेषता हो। बात तो ठीक है, यदि ठीक तरह से समझी जाय। व्यक्तिगत विषेषता का यह मतलब नहीं कि उनके प्रदर्षन के लिए विचारों के श्रंखला रखी ही न जाए, या जान-बूझकर जगह-जगह से तोड़ दी जाए; भावों की विचित्रता दिखाने के लिए ऐसी अर्थयोजना की जाए, जो उसकी अनुभूति के प्रकृत या लोकसामान्य रूप से कोई सम्बन्ध ही ना रखे, अथवा भाषा से सरकस वालों की-सी कसरतें या हठयोगियों के से आसान कराए जाएँ, जिनका लक्ष्य तमाशा दिखाने के सिवा और कुछ न हो।

अभ्यास प्रश्न

1. किसका कथन है-

   "एस्से स्वछन्द मन की तरंग है, जिसमें विश्रृंखलता का प्राधान्य होता है।"

   "यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है, तो निबन्ध गद्य की कसौटी है।"

   "निबन्ध स्वाधीन चिन्तन और निश्छल अनुभूतियों का सरस, सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकशन है।"

2. आइये, एक बार दोहराएँ -

   1. हिन्दी निबन्ध लेखन का प्रारम्भ कब से माना जाता है ?
   2. आचार्य शुक्ल निबन्ध का आवश्यक तत्त्व किसे मानते थे ?
   3. भारतीय साहित्य में निबन्ध का प्रयोग किस अर्थ में मिलता है ?
   4. एस्से शब्द की व्युत्पत्ति किस शब्द किस से मानी जाती है ?
   5. हिन्दी गद्य साहित्य के सर्वांगीण विकास का युग किसे कहा जाता है ?

1.4 निबन्ध के प्रकार

वर्तमान समय में निबन्ध आत्मनिष्ठता से वस्तुनिष्ठता की ओर उन्मुख हुए हैं; यही कारण है कि आज वे केवल आत्माभिव्यक्ति का माध्यम नहीं रह गए हैं, वरन् उसका फलक अत्यन्त विस्तृत हो गया है। इस आधार पर निबन्धों को मुख्यतः तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है -

1. व्यक्तिप्रधान निबन्ध
2. विषयप्रधान निबन्ध
3. ललित निबन्ध

1. व्यक्ति-प्रधान निबन्ध - निबन्ध का प्रमुख तत्त्व है- आत्मीयता; इसलिए व्यक्ति प्रधान निबन्धों में 'निज' अर्थात आत्मतत्त्व की प्रधानता होना स्वाभाविक है। जब लेखक अपनी स्मृति में अंकित किसी भाव, घटना या बातचीत के किसी प्रसंग को श्रृंखलाबद्ध करके, उसे वैचारिक, अथवा भावात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है, तब व्यक्ति प्रधान निबन्ध का जन्म होता है। इस प्रकार के निबन्धों में हमें लेखक के व्यक्तित्त्व की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। किसी भी व्यक्ति में भाव एवं विचार दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं, इस आधार पर व्यक्ति प्रधान निबन्धों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है-

अ. भावात्मक
आ. विचारात्मक
इ. आत्मपरक

अ. भावात्मक निबन्ध -

जिनमें हृदय की प्रधानता रहती है, उन्हें भावात्मक निबन्ध कहते हैं। भावात्मक निबन्धों में हमें- कल्पना के विस्तृत आकाष में हृदय की उन्मुक्त उड़ान, भावनाओं की तीव्रता के साथ दिखाई देती है। हर्ष-विषाद, अनुरक्ति-विरक्ति, आकर्षण-विकषर्ण हृदय के विविध उद्गार प्रयुक्त होते हैं। जब लेखक किसी परिस्थिति विशेष, घटना विषेष, अथवा अनुभव विशेष को भावावेग में कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है, तब ऐसी स्थिति में भावात्मक निबन्ध का जन्म होता है। भावात्मक निबन्धों में वाक्य छोटे, अनुभूति की गहनता तथा भावों की तीव्रता होती है। माधव प्रसाद मिश्र, पूर्ण सिंह, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डॉ. रघुवीर सिंह, गुलाबराय, आदि की गणना श्रेष्ठ भावात्मक निबन्धकारों में की जाती है। भावात्मक निबन्धों का चरम विकास हमें पूर्णसिंह जी के निबन्धों में दिखाई देता है। 'आचरण की सभ्यता' में वे मौन की अभिव्यक्ति करते हुए कहते हैं- ''प्रेम की भाषा शब्द रहित है। नेत्रों की, कपोलों की, मस्तक की भाषा भी शब्द रहित है। जीवन का तत्व भी शब्द से परे हैं। सच्चा आचरण-प्रभाव, शील, अचल-स्थित-संयुक्त आचरण न तो साहित्य के लम्बे व्याख्यानों से गठा जा सकता है, न वेद की श्रुतियों के मीठे उपदेश से, न अंजील से, न कुरान से, न धर्म-चर्चा से न केवल सत्संग से।"

आ. विचारात्मक निबन्ध-

जिन निबन्धों में चिन्तन-पक्ष की प्रधानता रहती है, उन्हें विचारात्मक निबन्ध कहते है। वैचारिक पक्ष की महत्ता के कारण विचारात्मक निबन्धों में हमें तार्किकता तथा विश्लेष्णात्मकता दिखाई देती है; जिससे हमें लेखक की अन्तःदृष्टि, चिंतन-मंथन के साथ ही उसके दृष्किोण की नवीनता, तथा विष्लेषण करने की क्षमता का भी ज्ञान होता है। निबन्ध के विचारात्मक होने का तात्पर्य यह नहीं है कि उसमें भावों की उपेक्षा की जाती हो, इसका अर्थ यह है कि विचारात्क निबन्धों में भाव, विचारों के अनुवर्ती बनकर रहते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी ने हिन्दी साहित्य का इतिहास में विचारात्मक निबन्धों को श्रेष्ठ एवं महत्वपूर्ण माना है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, श्यामसुन्दर दास, नन्द दुलारे वाजपेयी, डॉ॰ नगेन्द्र, डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल आदि के निबन्ध विचारात्मक निबन्धों के उत्कृष्ट उदाहरण है। आधुनिक युग के निबन्धकारों में प्रमुख, शुक्ल जी के शिष्य डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने अपने प्रसिद्ध निबन्ध 'गाँधी और कबीर' में उन्होंने गाँधी जी के प्रति अपने चिंतन को कौन-सी दिषा प्रदान की है, एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है- "प्रार्थना में गाँधी जी का ध्यान निराकार सर्वव्यापी प्रभु की ओर रहता हैं। राम जिनको वो पूजते हैं, उनकी कल्पना का है न तुलसी-रामायण का ना वाल्मीकि का। ईश्वर अवतार लेता है अवश्य, परन्तु उसी अर्थ में जिसमें प्रत्येक मनुष्य ईश्वर का अवतार है। कबीर का अनुसरण करते हुए गांधी सबके हृदयस्थ परमात्मा की ओर संकेत कर जन समाज के सामने महत्व का अभिनव मार्ग खोल रहे है।"

इ. आत्मपरक निबन्ध-

जिनमें भावात्मक एवं विचारात्मक दोनों प्रकार के निबन्धों की विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं, उन निबन्धों को आत्मपरक निबन्ध कहते हैं। आत्मपरक निबन्धों में लेखक के निज में विष्व को अपनी निजता का अनुभव होता है; क्योंकि इनमें लेखक अपने व्यंग्य-विनोद, सहज-सरल भाषा, मनमौजी व्यक्तित्त्व के साथ, पाठक को संवाद करता प्रतीत होता है। शान्तिप्रिय द्विवेदी, पंड़ित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास निवास मिश्र आदि के निबन्ध आत्मपरक निबन्धों के सशक्त उदाहरण हैं।

2. विषय-प्रधान निबन्ध - विषय-प्रधान निबन्धों में 'परात्मकता' को अधिक महत्त्व दिया जाता है, अर्थात् विषय-प्रधान निबन्धों में वर्ण्यविषय की प्रधानता रहती है। निबन्ध की विषयवस्तु चाहे सामाजिक हो, अथवा राजनीतिक; आर्थिक हो या फिर सांस्कृतिक, साहित्यक, मनोवैज्ञानिक आदि कुछ भी हो, किन्तु अच्छे निबन्ध के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है - उसकी प्रस्तुति। जब किसी विशिष्ट विषय की केवल शुष्क एवं वैचारिक विवेचना की जाती है तो वह निबन्ध न होकर, लेख बनकर रह जाता है; इसके विपरीत यदि लेखक किसी सामान्य विषय पर लिखते समय उसमें अपने मौलिक विचारों को अनुभवों से सजीवता व जीवन्तता प्रदान करता है, तो सहज ही वह निबन्ध बन जाता है। विषयप्रधान निबन्धों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं-

(क) वर्णनात्मक

(ख) विवरणात्मक

क. वर्णनात्मक निबन्ध -

जब निबन्धकार अनुभूति, विचार, कल्पनातत्त्व तथा अभिव्यंजना कौषल के सहारे किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, अथवा प्रकृति आदि के स्थिर रूप का वर्णन करता है, तब वर्णनात्मक निबन्धों का जन्म होता है। वर्णनात्मक निबन्धों में विषयवस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है; किन्तु उसकी व्याख्या नहीं की जाती। माधव प्रसाद मिश्र का 'रामलीला' महावीर प्रसाद द्विवेदी का 'प्रभात', बालकृष्ण भट्ट का 'महाकवि माघ का प्रभात वर्णान' राहुल सांकृत्यायन का 'गोमती की उपत्यका में बिखरे मंदिर' आदि में हम वर्णनात्मक निबन्ध की विशेषताएँ देख सकते हैं। कलात्मक अभिव्यंजना, प्रवाहमयी भाषा; वर्णनात्मक निबन्धों को जीवन्तता प्रदान करती है। वर्णनात्मक निबन्धों में कल्पना-तत्त्व का भी समावेश रहता है, और चिंतन-पक्ष प्रायः गौण दिखाई देता है।

ख. विवरणात्मक निबन्ध-

इन्हें आख्यात्मक अथवा कथात्मक निबन्ध भी कहा जाता है; क्योंकि इस प्रकार के निबन्धों में लेखक किसी ऐतिहासिक घटना, काल्पनिक इतिवृत्त, पौराणिक आख्यान, उत्सव-मेले, पर्वतारोहण, अथवा दुर्गम प्रदेश की यात्रा का आश्रय लेकर निबन्ध लिखता है। विवरणात्मक निबन्धों में वर्ण्यविषय का रूप गतिशील दिखाई देता है; जिसे लेखक अपनी कल्पना से रंजित करके प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के निबन्धों में व्यंजनापूर्ण भाषा, तथा सामासिक शैली का प्रयोग मिलता है। राहुल सांकृत्यायन, रामधारी सिंह 'दिनकर' गुलाबराय आदि द्वारा लिखित इस प्रकार के अनेक निबन्ध मिलते हैं। गुलाबराय के निबन्ध 'आत्म-विष्लेषण' से एक उदाहरण दृष्टव्य है- "तुलसीदास की भाँति न तो मैं कभी छाछी को ललचाता रहा और न बड़े होने पर सौंधे दूध की मलाई को नखरे और नाराजगी से खाया - 'छाछी को ललात जे ते राम नाम के प्रसाद , खाद खुनसात सौंधे दूध की मलाई है ।' मैंने दूध का हर एक रूप में स्वागत किया है (सपरेटा को छोड़कर) । दूध मैंने गरम ही पीना चाहा है । असावधानी मेरा जन्मगत दोष है; क्योंकि बसंत से एक दिन पूर्व ही मैं इस संसार में आया, किंतु मैं उससे (दूध से) जला नहीं हूँ , इसलिए छाछ को फूंक-फूंक कर पीने की आवश्यकता नहीं पडी। जीवन में पर्याप्त लापरवाही रही।"

3. ललित निबन्ध-

ललित निबन्धों की सुदीर्घ परम्परा रही है। यूँ तो स्वतन्त्रता से पूर्व भी ललित निबन्ध लिखे गए, किन्तु स्वतन्त्रता के पश्चात हमें ललित निबन्धों का एक स्वतन्त्र एवं सुव्यवस्थित रूप दिखलाई देता है। जब निबन्धकार आत्मीयता और खुलेपन से कथ्य में निहित सौंदर्य को निखारता है, अर्थात् किसी भी मनःस्थिति अथवा भाव को अभिव्यक्त करने के लिए वह अपनी अनुभूतियों को निष्छलता एवं सरसता से पाठक के समक्ष रख देता है, तब ललित निबन्ध का जन्म होता है। आधुनिक युग के महत्त्वपूर्ण निबन्धकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ललित निबन्धों के माध्यम से सर्जनात्मक साहित्य की सरसता एवं सौंदर्य को अत्यन्त प्रभावशाली ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत है 'अशोक के फूल' से एक उदाहरण- "कहते हैं, दुनियाँ बड़ी भुलक्कड़ है। केवल उतना ही याद रखती है जितने में

उसका स्वार्थ सधता है बाकी को फेंककर आगे बढ़ जाती है। शायद अशोक ने उसका स्वार्थ नहीं साधा। क्यों उसे वह याद रखती ? सारा संसार स्वार्थ का अखाड़ा ही तो है।" व्यंग्यात्मकता, कोमलकान्त पदावली, माधुर्य गुणयुक्त भाषा तथा गद्यात्मक लालित्य जैसी विलक्षणता से युक्त होने के कारण, इन्हें ललित निबन्ध कहा जाता है। ललित निबन्धकारों में हजारी प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, सरदार पूर्णसिंह, सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय', बनासीदास चतुर्वेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रभाकर माचवे, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथराय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। रामविलास शर्मा, अमृतराय नागर, गोपाल प्रसाद व्यास, हरिष्कर परसाई, शरद जोषी आदि हास्य-व्यंग्यकारों का भी ललित निबन्धों की विकासयात्रा में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। डा. नगेन्द्र ने ललित निबन्धों के विषय में लिखा है- "ललित निबंध का प्राणतत्त्व व्यक्तित्व का अभिव्यंजन ही है। रचना में व्यक्तित्व की खोज, आत्मानुभूति की विवृति, और वैयक्तिकता का रागमय संस्पर्ष पाठक और विवेचक, दोनों जरूरी समझने लगे है।"

ललित निबन्धों का पल्लवन भावात्मक निबन्धों से बताते हुए डा. हरिमोहन ने लिखा है- "ललित निबंध का पल्लवन भावात्मक निबंधों से हुआ है। भावात्मक निबंधों की ही भाँति भावात्मकता, कल्पना प्रणवता, सरसता, रोचकता, पाण्डित्य और व्यापक ज्ञानस्रोत- ललित निबंध के लिए भी अनिवार्य है। ललित निबंध 'व्यक्तिप्रधान' व्यक्तित्व प्रधान अथवा व्यक्तिगत आत्मपरक लघु गद्यखण्ड है, जिसमें काव्यात्मक भाषा का प्रयोग होता है।"

आइये, अब हम एक निबन्धों के प्रकार एवं उनकी पहचान दोहराएँ -

अभ्यास प्रश्न

3. रिक्त स्थान की पूर्ति करें-

1. .....आख्यात्मक अथवा कथात्मक निबन्ध भी कहा जाता है।
2. आत्मपरक निबन्धों में.....दोनों प्रकार के निबन्धों की विशेषताएँ विद्यमान रहती हैं।
3. ..... परात्मकता को अधिक महत्त्व दिया जाता है।
4. ..... लेखक के व्यक्तित्त्व की स्पष्ट छाप दिखाई देती है।
5. ललित निबंध का पल्लवन ..... निबन्धों से हुआ है।

4. अपने शब्दों में लिखिये-

1. 'निबन्ध' किस भाषा का पर्यायवाची शब्द हैं ?
2. व्यक्ति-प्रधान निबन्ध से आप क्या समझते हैं ?
3. भावात्मक और विचारात्मक निबन्ध में क्या अंतर है ?
4. वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्ध में क्या अंतर है ?
5. ललित निबन्ध की प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं ?

1.5 निबन्ध : तात्त्विक विवेचन

स्वछन्दता,आत्मनिष्ठता, वैचारिकता, भावात्मकता, तार्किकता, विषयनिष्ठता, शृंखलाबद्धता, व्यंग्यात्मकता, कलात्मकता, जीवन्तता तथा संक्षिप्तता निबन्ध के प्रमुख तत्त्व हैं।

स्वच्छन्दता - वैयक्तिक्ता के कारण निबन्ध लेखन में स्वच्छन्दता आना स्वाभाविक है; किन्तु स्वच्छन्दता का आशय विश्रृंखलता नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार - ''निबन्ध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्द गति से इधर-उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता हुआ चलता है, यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है।.....निबंध लेखक जिधर चलता है, उधर अपनी संपूर्ण मानसिकता सत्ता के साथ अर्थात् बुद्धि तथा भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए। जो करुण प्रकृति के हैं उनका मन किसी बात को लेकर अर्थ-सम्बन्ध-सूत्र पकड़े हुए करूण स्थलों की ओर झुकता और गम्भीर वेदना का अनुभव करता चलता है। जो विनोदशील हैं उसकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है, जिन्हें सामने पाकर कोई हँसे बिना नहीं रह सकता।''

आत्मनिष्ठता - निबन्ध में लेखक अपने व्यक्तिगत विचारों एवं हृदयगत भावों की अभिव्यक्ति करता है। यह सत्य है कि निबन्ध की यात्रा आत्मीयता से प्रारम्भ हुई; किन्तु उसकी विकास-यात्रा विषयवस्तु की प्रेरणा से वैचारिक धरातल का आश्रय लेकर चलती रही। गद्य की अन्य विधाओं में लेखक अपने व्यक्तित्त्व को छिपा सकता है, परन्तु निबन्ध में वह चाहकर भी ऐसा नहीं कर सकता; क्योंकि आत्मनिष्ठता निबन्ध का एक अनिवार्य तत्त्व है। यही कारण है कि निबन्ध में लेखक का व्यक्तित्त्व इस प्रकार भासित होता है- जैसे निर्मल जलाशय में आकाश।

वैचारिकता - गद्य की अन्य विधाओं- कहानी, उपन्यास, नाटक, संस्मरण, जीवनी आदि की अपेक्षा निबन्ध में बौद्धिकता की अधिक प्रधानता होती है। डॉ.शिव प्रसाद मिश्र लिखते हैं- ''निबन्ध वही कहा जा सकता है जो विचारों को उत्तेजना दे।'' यद्यपि व्यक्ति के अनुरूप निबन्धों में मनोविकारों का गुम्फन होता है किन्तु लेखक का ध्यान मात्र समरसता पर केन्द्रित नहीं होता। वह अपनी वैचारिक-शक्ति के माध्यम से, पाठक की ज्ञान पिपासा को भी जाग्रत करता है। निबन्ध लेखन के लिए वैचारिक क्षमता का होना नितान्त आवश्यकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल विचारात्मकता को निबन्ध का आवश्यक तत्त्व मानते थे, यही कारण है कि उन्होंने अधिकांश निबन्ध विश्लेषणात्मक शैली में लिखे है। उदाहरणार्थ उनके 'भय' निबन्ध की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं- ''भय की इस वासना का परिहार क्रमश: होता चलता है। ज्यों-ज्यों वह नाना रूपों में अभ्यस्थ होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी धड़क खुलती जाती है। इस प्रकार अपने ज्ञान बल, हृदय बल और शरीर बल की वृद्धि के साथ वह दु:ख की छाया मानो हटाता चलता है। समस्त मनुष्य-जाति की सभ्यता के विकास का भी यही क्रम रहा है।''

भावात्मकता - निबन्ध का एक प्रमुख तत्त्व है आत्मीयता; अर्थात् लेखक का व्यक्तिगत व्यक्तित्त्व। निबन्ध लेखन के लिए बुद्धितत्त्व के साथ भावतत्त्व का होना नितान्त आवश्यक है, भावतत्त्व के अभाव में निबन्ध लेख बनकर रह जाता है। निबंध में विचार होते हैं, किन्तु वे मस्तिष्क के शुष्क चिन्तन पर ही

आधारित नहीं होते, उनके पीछे हृदय की तरल रागात्मकता भी होती है। मनोवैज्ञानिकता तथा गीतात्मकता के कारण निबन्धों में जिस सजीवता एवं सरसता के दर्शन होते हैं, वह भावात्मकता का ही परिणाम है। निबन्ध के भावात्मकता के विषय में डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त का कथन है- "निबंध में विचारों का प्रतिपादन करते हुए भी उसमें भावोत्तेजन की क्षमता होनी आवश्यक है। निबंध में भावोत्तेजना का यह गुण तभी आ सकता है, जब कि इनमें रचयिता के व्यक्तित्व का जीवित स्पर्श हो।"

संक्षिप्तता - आज के व्यस्तम जीवन में व्यक्ति के पास इतना समय भी नहीं है कि वह स्वयं को समझ सके। ऐसी स्थिति में विस्तृत निबन्धों को पढ़ने के लिए समय निकालना असंभव प्रतीत होता है। यही कारण है कि वर्तमान काल में संक्षिप्तता निबन्ध का आवश्यक गुण प्रतीत होता है। निबन्ध में वैचारिक गहनता के साथ, सरसता एवं सारगर्भितता भी होनी चाहिये, जिससे कि प्रतिपाद्य विषय को सहज ही पाठक तक पहुँचाया जा सके। संक्षिप्तता को निबन्ध का महत्त्वपूर्ण तत्त्व मानते हुए बाबू गुलाबराय ने कहा है- "निबन्ध उस गद्य रचना को कहना चाहिये, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विषेष निजीपन, स्वछन्दता, सौष्ठव एवं सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

तार्किकता - निबन्ध में विषयवस्तु के माध्यम से लेखक अपना दृष्टिकोण प्रकट करता है, इसे प्रकट करते हुए वह जिस शृंखलाबद्धता का सहारा लेता है वही निबन्ध की तार्किकता है। तार्किकता द्वारा लेखक अपने मौलिक विचारों को ऐसे प्रस्तुत करता है कि उसके विचारों से पाठक अभिभूत हो उठे। तार्किकता के अभाव में विषयगाम्भीर्य समाप्त हो जाएगा, और निबन्ध अपरिपक्व रचना बनकर रह जाएगी। इसके अतिरिक्त अपनी बात को पुष्ट करने के लिए, मीमांसा तथा दार्शनिक विषयों को स्पष्ट करने के लिए भी तार्किकता की आवश्यक ता पड़ती है। अतः तार्किकता निबन्ध का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

कलात्मकता - कलात्मकता से तात्पर्य है - उसके प्रस्तुतिकरण से; प्रस्तुतिकरण, अर्थात् ऐसी भाषा एवं शैली का प्रयोग करना जो निबन्ध को सर्वग्राह्य बनाने के साथ, अपनी उत्कृष्टता, सरसता, प्रौढ़ता तथा लालित्य से पाठक को आदि से अन्त तक पढ़ने के लिए उसे विवश कर दे। उत्कृष्ट निबन्ध के लिए आवश्यक है कि उसकी भाषा-शैली अर्थात् उसका प्रस्तुतिकरण कलात्मक होना चाहिए, ताकि वह पाठक को अपने आकर्षणपाश में बाँधे रखे। कलात्मकता साधारण विषय को भी सुरूचिपूर्ण आकार प्रदान कर देती है। निबन्ध की श्रेष्ठता उसके अनुभूति पक्ष तथा अभिव्यक्ति पक्ष पर निर्भर करती है। अभिव्यक्ति पक्ष का संबंध रचनात्मक कला के सौंदर्य से है; और कलात्मक पक्ष के मुख्यतः चार अंग हैं - भाषा-शैली , अलंकार, ध्वनि, और औचित्य।

तारतम्यता - जब लेखक अपनी हृदयानुभूति को अथवा अपने विचारों को किसी एक विषय के माध्यम से शीर्षक, प्रस्तावना, विस्तार, तथा परिणाम के आधार पर विकसित करता है, तो उसमें आदि से अन्त तक तारतम्यता बनी रहती है। यदि निबन्ध में आरम्भ, मध्य और अन्त में संगति नहीं होगी तो वह मात्र प्रलाप बनकर रह जाएगा। निबन्ध का प्रारम्भ भूमिका द्वारा होता है; जिसमें लेखक विषय का

संकेतात्मक परिचय देता है। निबन्ध के मध्य भाग में लेखक, विषय को अपने बौद्धिक विवेचन, भावनाओं, अनुभवों, व्यंग्यों तथा विवरण आदि के माध्यम से विस्तार देता है; तथा अन्ततः प्रभावोत्पादक भाषा-षैली के माध्यम से सम्पूर्ण विवेचन का निचोड़ प्रस्तुत करता है।

भाषा - सामान्यतः भाषा संप्रेषणीयता , अर्थात् अपनी बात को दूसरे तक पहुँचाने का सहज माध्यम है, किन्तु निबन्ध लेखन में भाषा का महत्त्व इससे कुछ अधिक है; क्योंकि इसमें निबंधकार के लिए भाषा, केवल अपने भावों एवं विचारों को पाठक तक पहुँचाने का साधन मात्र नहीं होती। इसमें लेखक विषय को प्रभावषाली बनाने के लिए शब्द-चयन, वाक्य-रचना तथा भाषा में नवीनता लाकर निबन्ध को निखारने का प्रयास भी करता है। यही कारण है कि निबन्ध में हमें, कहीं सरल शब्द और छोटे वाक्य दिखाई देते हैं; तो कहीं कठिन शब्दों तथा अनेक उपवाक्यों से मिलकर बने लम्बे वाक्यों का प्रयोग मिलता है। यह सत्य है कि निबन्ध की भाषा और शैली के माध्यम से ही हम, निबन्ध-लेखक के व्यक्तित्त्व से भी परिचित होते हैं; किन्तु निबन्ध की लोकप्रियता के लिए आवश्यक है कि उसकी भाषा ऐसी हो, जो विषयवस्तु को सहजग्राह्य बनाने में सफल हो सके।

शैली - प्रत्येक रचनाकार का व्यक्तित्त्व दूसरे से भिन्न होता है, यही कारण है कि एक लेखक की निबन्ध-शैली दूसरे से भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त निबन्धकार अपने भावों एवं विचारों को जिस रूप में प्रस्तुत करता है, अभिव्यक्ति के उस तरीक़े को ही निबन्ध की शैली कहा जाता है। कुछ लोग अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए किसी लोकोक्ति-मुहावरे, दोहे-चौपाई, श्लोक, अथवा जीवन-अनुभवों के उदाहरणों का सहारा लेते हैं, तो कुछ सीधे-सपाट तरीक़े से अपनी बात कहते हैं; कुछ अपनी बात इतनी आत्मीयता से कहते हैं कि पाठक भी उस भाव-प्रवाह में बहता चला जाता है, और कुछ लेखक इतना गहन वैचारिक-विष्लेषण प्रस्तुत करते हैं कि हम उनके चिंतन-मंथन और अंतर्दृष्टि का लोहा माने बिना नहीं रहते। निबन्ध बोधगम्य बन सके इसके लिए आवश्यक है कि निबन्धकार शब्द-चयन करते समय, तथा वाक्य-संरचना समय इस बात ध्यान रखे कि वे दुरूह व जटिल न हों; क्योंकि भाषा-शैली ही वह संजीवनी है जो निबन्ध को जीवन्तता प्रदान करती है।

गद्यात्मकता - उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त निबन्ध का सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व है - गद्यात्मकता; किन्तु केवल गद्यात्मक शैली में लिखे जाने से ही कोई रचना निबन्ध नहीं कही जा सकती। यद्यपि निबन्धों में उदाहरण स्वरूप किसी व्यक्ति के जीवन का उल्लेख हो सकता है, किन्तु लेखक का उद्देश्य उस व्यक्ति का जीवनचरित्र प्रस्तुत करना नहीं होता, इसलिए यह जीवनी से भिन्न है; निबन्ध में किसी स्थान विशेष की यात्रा का ज़िक्र भी हो सकता है, किन्तु यात्रावृत्तान्त प्रस्तुत करना लेखक का उद्देश्य नहीं होता; इसी तरह निबन्धों में कहानी की रंजकता, नाटक की रमणीयता, संस्मरण की मधुरता तथा रेखाचित्र की चित्रात्मकता हो सकती है; किन्तु लेखक का उद्देष्य न कथा कहना, और न नाटक, संस्मरण या रेखाचित्र आदि लिखना ही होता है।

निबन्ध के जनक मोंतेन एवं सभी पाश्चात्य समीक्षकों, तथा हिन्दी के ग्रंथकारों- हजारीप्रसाद द्विवेदी बाबू गुलाबराय, जयनाथ नलिन आदि ने निबन्ध में व्यक्तित्त्व की प्रधानता को स्वीकार किया

है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल निबन्ध में आत्मनिष्ठता के साथ, विचार गाम्भीर्य और भाषा की सामासिकता को अधिक महत्त्व देते हैं। निबन्ध का उद्देश्य एक ओर मनोरंजन के साथ जनजागृति लाना या समसामयिक समस्याओं का उद्घाटन करना है, तो दूसरी और भाव एवं कल्पना का प्राधान्य होने के कारण कलात्मकता पाठक को आद्योपान्त पढ़ने के लिए विवश कर भी देती है। निबन्धकारों के एक वर्ग ने राचन्द्र शुक्ल की भाँति निबन्ध को गम्भीर विचार-प्रकाशक माना तो दूसरे वर्ग ने 'विनोदी तत्वों' को भी निबन्ध के लिए आवश्यक माना। बाबू गुलाबराय ने 'काव्य के रूप' में निबंध के अनेक तत्त्वों को समेटते हुए निबंध की एक सन्तुलित परिभाषा देते हुए लिखा है- "निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिनमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विषेष निजीपन, स्वच्छता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और सम्बद्धता के साथ किया गया हो।"

डॉ. नलिन ने निबंध विषयक उपर्युक्त सभी परिभाषाओं का निचोड़ प्रस्तुत करते हुए 'हिन्दी निबन्धकार' में लिखा है- "किसी विषय पर स्वाधीन चिन्तन और निष्छल अनुभूतियों का सरस , सजीव और मर्यादित गद्यात्मक प्रकाषन ही निबन्ध है।"

अभ्यास प्रश्न

4. नीचे लिखे कथनों में से सही और ग़लत को छाँटिये -

(क) निबन्ध का जनक मांतेन को माना जाता है। (सही/ग़लत)

(ख) एस्से और निबन्ध के अर्थ में अन्तर होता है। (सही/ग़लत)

(ग) निबन्ध में व्यक्ति की आत्मकथा होती है। (सही/ग़लत)

(घ) निबन्ध गद्य-पद्य दोनों शैलियों में लिखे जाते हैं। (सही/ग़लत)

(ङ) आत्मनिष्ठता निबन्ध का अनिवार्य तत्त्व है।(सही/ग़लत)

6. निबन्ध शब्द का अर्थ एवं स्वरूप स्पष्ट कीजिये।

.....

.....

.....

7. निबन्ध कितने प्रकार के होते हैं ?

.....

.....

.....

8. निबन्ध के प्रमुख तत्त्व कौन-कौन से हैं ?

.....

.....

.....

9. निबन्ध के तत्त्वों से आप क्या समझते हैं, तथा उनका क्या महत्व है ? (दस पंक्तियों में उत्तर दीजिये)

.....

.....

.....

1.6 सारांश

इस इकाई को पढ़कर आप जान चुके हैं कि निबन्ध का अर्थ क्या है . साथ ही साथ आप ये भी जान चुके होंगें कि निबंध का तात्पर्य और उसकी प्रमुख परिभाषाएं क्या हैं। इसके साथ ही आपने यह भी जाना कि निबन्ध कितने प्रकार के हो सकते हैं, निबंध का स्वरूप क्या है तथा निबन्ध के तत्त्व कौन-कौन से हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप हिन्दी साहित्य के अंतर्गत निबंध विधा का सम्पूर्ण परिचय भी प्राप्त कर चुके हैं

1.7 शब्दावली

1.	आत्मनिष्ठ	-	अपने में लगा रहने वाला।
2.	बोधगम्यता	-	समझ में अपने लायक या जिसे आसानी से समझा जा सके।
3.	आकर्षणपाश	-	खिंचाव से बाँधकर रखना,
4.	विवरणात्मक	-	व्याख्या संबंधी
5.	वैयक्तिक	-	व्यक्तिगत अर्थात जिसमें अपना सोच-विचार चिंतन दिखाई दे।
6.	विशृंखलता	-	बिखरा हुआ
7.	विश्लेषणात्मकता	-	छान-बीन संबंधी
8.	लालित्य	-	रमणीयता
9.	आद्योपान्त	-	प्रारम्भ से अन्त तक
10.	दुरूह	-	कठिन
11.	आत्माभिव्यक्ति	-	अपने मनोभावों को प्रकट करना
12.	जटिल	-	उलझा हुआ
13.	सहजग्राह्य	-	आसानी से समझ आने वाला
14.	शृखंलाबद्धता	-	क्रम युक्त
15.	प्रभावोत्पादक	-	प्रभाव डालने वाला
16.	तारतम्यता	-	क्रमबद्धता
17.	तार्किकता	-	सुविचारित बात, चमत्कारपूर्ण कथन
18.	तात्त्विक विवेचन	-	परीक्षण के आधार पर किसी तत्त्व के विषय में विस्तार से बताना

1.8 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
2. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य सिद्धान्त, गणपतिचन्द्र गुप्त
3. साहित्य सहचर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी
4. साहित्य शास्त्र, डॉ. रामशरण दास गुप्ता, प्रो. राजकुमार शर्मा
5. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास,बच्चन सिंह
6. हिन्दी साहित्य कोश, धीरेन्द्र वर्मा

1.9 अभ्यास प्रश्न के उत्तर

1. किसका कथन है:-
   जॉनसन
   रामचन्द्र शुक्ल
   जयनाथ 'नलिन'
2. आइये दोहराएँ -
   अ. उन्नीसवीं शताब्दी से।
   आ. चिंतन, विचारगाम्भीर्य एवं बोधगम्यता।
   इ. मौलिक रचनाओं को ग्रथित करने या बाँधने के लिए।
   ई. लैटिन के एग्जाजियर से।
   उ. शुक्ल युग से।
3. रिक्त स्थानों की पूर्ति:-
   क. विवरणात्मक
   ख. भावात्मक और विचारात्मक
   ग. विषय-प्रधान
   घ. व्यक्ति-प्रधान
   ङ. भावात्मक
4. अपने शब्दों में लिखिये-

(क) अंग्रेजी के 'एस्से'।

(ख) जिन निबन्धों में व्यक्ति की अर्थात् आत्मतत्त्व की प्रधानता होती है।

(ग) भावात्मक निबन्धों में भावों की प्रधानता होती है। वाक्य छोटे, तथा भाषा काव्यात्मक होती हैं। विचारात्मक निबन्धों में चिंतन की प्रधानता होती है, तथा भाव विचारों के अनुवर्ती बनकर रहते हैं।

(घ) वर्णनात्मक निबन्धों में वर्ण्यविषय का रूप स्थिर, तथा विवर्णनात्मक निबन्धों में गतिषील दिखाई जाता है। वर्णनात्मक निबन्धों में विषयवस्तु का वर्णन विस्तारपूर्वक किया जाता है, और विवर्णनात्मक निबन्धों में उसकी व्याख्या की जाती है।

(ङ) ललित निबन्धों में लेखक अपने भावों एवं विचारों को निश्छलता एवं सरसतापूर्वक पाठक के समक्ष रख देता है। आत्मीयता के कारण इसकी भाषा में काव्यात्मक-सौंदर्य दिखाई देता है।

5. सही-ग़लत:-

(क) सही, (ख) सही, (ग) ग़लत, (घ) ग़लत, (ङ) सही

6. निबन्ध का शाब्दिक अर्थ है- भलीभाँति बाँधना। निबन्ध एक ऐसी गद्य रचना है- जिसमें निबन्धकार किसी साधारण अथवा विशेष विषय पर अपने मौलिक चिंतन तथा गम्भीर विचारों को सोद्श्य, कलात्मक ढ़ंग से प्रस्तुत करता है।

7. निबन्ध मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं- 1. व्यक्ति-प्रधान, और 2. विषय-प्रधान।

1.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1 . निबन्ध का अर्थ बताते हुए, उसका तात्विक विवेचन कीजिये ?

2 . हिन्दी साहित्य के अंतर्गत निबंध विधा का संक्षिप्त विवेचन कीजिए तथा निबंध का महत्त्व भी स्पष्ट कीजिए ?

इकाई 2 : भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? (भारतेंदु हरिश्चंद) : पाठ एवं मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा
2.1 उद्देश्य
2.2 प्रस्तावना
2.3 भारतेंदु हरिश्चंद्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
2.4 निबंध का वाचन : भारत वर्षो की उन्नति कैसे हो सकती है?
2.5 निबंध का सार
2.6 संदर्भ सहित व्याख्या
2.7 अंतर्वस्तु
    2.7.1 विचार पक्ष
    2.7.2 भाव पक्ष
2.8 संरचना शिल्प
    2.8.1 भाषा
    2.8.2 शैली
2.9 प्रतिपाद्य
2.10 सारांश
2.11 शब्दावली
2.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.13 संदर्भ ग्रंथ सूची
2.14 सहायक पाठ्य सामग्री
2.15 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप हिंदी के आरंभिक निबंधकार भारतेंदु हरिश्चंद्र के निबंध 'भारत वर्षो की उन्नति कैसे हो सकती है?' से परिचित हो सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- 'भारत वर्षो की उन्नति कैसे हो सकती है?' से परिचित हो सकेंगे और उसके महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या कर सकेंगे।
- निबंध में अभिव्यक्त भावों और विचारों का विश्लेषण और विवेचन कर सकेंगे।
- निबंध की विशिष्टताओं को समझने के साथ 'भारत वर्षो की उन्नति कैसे हो सकती है?' की भाषा और शैलीगत विशेषताओं को समझ सकेंगे।

- 'भारत वर्षो की उन्नति कैसे हो सकती है?/' के मूल प्रतिपाद्य को समझ सकेंगे।

2.2 प्रस्तावना

भारतेंदु हरिश्चंद्र (9 सितंबर, 1850-6 जनवरी, 1885) को भारतीय नवजागरण का अग्रदूत और हिन्दी गद्य का पितामह माना जाता है। भारतेंदु ने आधुनिक हिंदी गद्य को भाषा और विचार दोनों ही स्तरों पर सँवारा। भारतेंदु के प्रयासों से हिन्दी गद्य का जो स्वरूप बना उसे 'हिंदी नई चाल में ढली' कहा गया। इस समय नवजागरण और स्वाधीनता आंदोलन के कारण राष्ट्रीय चेतना, समाज-सुधार, आधुनिकता इत्यादि का मुद्दा केंद्रीय था। छापाखाना के आगमन से ज्ञान-विज्ञान और विचार-चिंतन के प्रसार में अहम योगदान मिला। आधुनिकता की समझ ने राष्ट्रीय स्वाधीनता की चेतना को एक नया आकार मिला और जातीयता की चेतना ने आकार लेना शुरू किया। हिंदी में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भाषा उन्नति, समाज उन्नति और देश उन्नति के भाव को संरक्षित करने का उपक्रम अपने नाटकों और निबंधों में किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने हिंदी को बौद्धिक विचार-विनिमय और लेखन की भाषा बनाया। बालमुकुंद गुप्त ने कहा है कि "हरिश्चंद्र के समय में हिन्दी के भाग्य ने पलटा खाया। उन्होंने हिंदी को उत्तम बनाने की चेष्टा की। कई एक अच्छी-अच्छी पोथियाँ लिखकर उन्होंने सुंदर हिंदी का नमूना खड़ा किया।"

भारतेंदु हरिश्चंद्र का निबंध भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? या भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है? मूलतः उत्तर प्रदेश के बलिया के ददरी मेले में दिया गया व्याख्यान है; जो बाद में निबंध के रूप में प्रकाशित हुआ। यही वजह है कि इसमें व्याख्यान शैली और संबोधन शैली का रूप देखने को मिलता है। इसे बलिया व्याख्यान भी कहा जाता है। यह व्याख्यान आर्य देशोपकारिणी सभा के बुलावे पर बलिया के तत्कालीन जिला कलेक्टर डी.टी. रॉबर्ट्स की अध्यक्षता में नवम्बर 1884 में दिया गया था जो बाद में हरिश्चंद्र चंद्रिका के दिसम्बर 1884 के अंक में प्रकाशित हुआ। यह निबंध भारतेंदु की व्यंग्य, आत्मालोचन और आलोचन शैली का पता देता है। देशोन्नति और देशवत्सलता के भावना और आपसी फुट और बैर को रेखांकित करते हुए यह निबंध धर्म और सांप्रदायिकता से उत्पन्न वैमनस्व से छुटकारा पाने की अपील हिंदुओं और मुसलमानों से करता है। यह निबंध समाज-धर्म को रेखांकित करता है। आलोचकों में वसुधा डालमिया, सुधीर चंद्र, क्रिस्टोफर किंग, वीर भारत तलवार ने भारतेंदु के अंतर्विरोधों को भी परिलक्षित करता है। डॉ. नामवर सिंह ने आलोचना का एक अंक इस व्याख्यान पर केंद्रित कर सम्पादित किया है। निबंध निलय में डॉ. सतेंद्र ने लिखा है कि "भारतेंदु जी की भाषा बहुत प्रांजल और साफ़-सुथरी थी। वह संयत और सधी हुई भाषा जो द्विवेदी काल के परिमार्जन और विन्यास का आधार बनी, भारतेंदु के उन निबंधों में मिल जाती है, जिनमें वे विषय का गम्भीरतापूर्वक प्रतिपादन करते हैं, अथवा जिन्हें लिखते समय उनके मन में उस विषय की रोचक चर्चा अभीष्ट नहीं होती जितना कि उसका ज्ञान प्रस्तुत करना।"

2.3 भारतेंदु हरिश्चंद्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

भारतेंदु हरिश्चंद्र को जीवन बहुत कम मिला था। महज 35 वर्ष की उम्र में उन्होंने अपनी उपस्थिति से समूचे साहित्य को बदल दिया। हरिश्चंद्र चंद्रिका की भाषा ने यह संभव किया कि लोगों ने यह कहना शुरू किया कि 'हिंदी नई चाल में ढली'।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का जन्म 9 सितंबर, 1850 में काशी के प्रसिद्ध सेठ अमीचन्द के वंश में हुआ। इनके पिता बाबू गोपाल चंद्र ब्रजभाषा के साहित्यकार थे। भारतेंदु जी विलक्षण प्रतिभा के धनी थे।

इनकी प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ हैं—

मौलिक नाटक : वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति; सत्य हरिश्चंद्र; श्रीचन्द्रावली; विषस्य विषमौषधम, भारत दुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी

काव्य-कृतियाँ : भक्तसर्वस्व; प्रेममालिका; प्रेम माधुरी; प्रेम-तरंग; उत्तरार्ध भक्तमाल; प्रेम-प्रलाप; होली; मधुमुकुल; राग-संग्रह; वर्षा-विनोद; विनय प्रेम पचासा; फूलों का गुच्छा; प्रेम फुलवारी; कृष्णचरित्र

निबंध संग्रह : सुलोचना, मदालसा, लीलावती, परिहास वंचक, दिल्ली दरबार दर्पण

यात्रा-वृतांत : सरयू पार की यात्रा, लखनऊ की यात्रा

जीवनी : सूरदास, जयदेव, महात्मा मोहम्मद

इतिहास : अग्रवालों की उत्पत्ति, महाराष्ट्र देश का इतिहास तथा कश्मीर कुसुम

2.4 निबंध का वाचन : भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? : भारतेंदु हरिश्चंद्र

"आज बड़े आनंद का दिन है कि छोटे-से नगर बलिया में हम इतने मनुष्यों को एक बड़े उत्साह से एक स्थान पर देखते हैं। इस अभागे आलसी देश में जो कुछ हो जाए वही बहुत कुछ है। बनारस ऐसे-ऐसे बड़े नगरों में जब कुछ नहीं होता तो हम यह न कहेंगे कि बलिया में जो कुछ हमने देखा वह बहुत ही प्रशंसा के योग्य है। इस उत्साह का मूल कारण जो हमने खोजा, तो प्रकट हो गया कि इस देश के भाग्य से आजकल यहाँ सारा समाज ही एकत्र है। जहाँ राबर्ट साहब बहादुर जैसे कलेक्टर जहाँ हो, वहाँ क्यों न ऐसा समाज हो। जिस देश और काल में ईश्वर ने अकबर को उत्पन्न किया था उसी में अबुल फज़ल, बीरबल, टोडरमल को भी उत्पन्न किया। यहाँ राबर्ट साहब अकबर हैं, जो मुंशी चतुर्भुज सहाय, मुंशी बिहारीलाल साहब आदि अबुलफज़ल और टोडरमल हैं। हमारे हिंदुस्तानी लोग तो रेल की गाड़ी है। यद्यपि फ़र्स्ट क्लास, सैकेंड क्लास आदि गाड़ी बहुत अच्छी-अच्छी और बड़े-बड़े महसूल की इस ट्रेन में लगी है पर बिना इंजिन सब नहीं चल सकती, वैसी ही हिंदुस्तानी लोगों को कोई चलाने वाला हो, तो ये क्या नहीं कर सकते। इनसे इतना कह दीजिए, का चुप साधि रहा बलवाना फिर देखिए कि हनुमान जी को अपना बल कैसे याद आता है। सो बल कौन याद दिलावे या हिंदुस्तानी राजे—महाराजे या नवाब-रईस या हाकिम। राजे-महाराजों को अपनी पूजा, भोजन, झूठी गप से छुट्टी नहीं। हाकिमों को कुछ तो सरकारी काम घेरे रहता है, कुछ बॉल, घुड़दौड़, थिएटर, अख़बार में समय लगा। कुछ समय बचा भी तो उनको क्या ग़रज़ है कि हम ग़रीब, गंदे, काले आदमियों से मिलकर अपना अनमोल समय

खोवैं। बस वही मसल रही—तुम्हें ग़ैरों से कब फ़ुरसत, हम अपने ग़म से कब ख़ाली। चलो, बस हो चुका मिलना न हम ख़ाली न तुम ख़ाली॥ तीन मेंढ़क एक के ऊपर एक बैठे थे। ऊपरवाले ने कहा, 'ज़ौक़ शौक़', बीचवाला बोला, 'ग़म सुम', सबके नीचेवाला पुकारा, 'गए हम'। सो हिंदुस्तान की साधारण प्रजा की दशा यही है—'गए हम'।

पहले भी जब आर्य लोग हिंदुस्तान में आकर बसे थे, राजा और ब्राह्मणों के ज़िम्मे यह काम था कि देश में नाना प्रकार की विद्या और नीति फैलावैं और अब भी ये लोग चाहैं तो हिंदुस्तान प्रतिदिन कौन कहै, प्रतिछिन बढ़ैं। पर इन्हीं लोगों को सारे संसार के निकम्मेपन ने घेर रखा है। "बौद्धारो मत्सरग्रस्ता अभवः समरदूषिताः" हम नहीं समझते कि इनको लाज भी क्यों नहीं आती कि उस समय में जब इनके पुरुषों के पास कोई भी सामान नहीं था तब उन लोगों ने जंगल में पत्ते और मिट्टी की कुटियों में बैठकर बाँस की नालियों से जो तारा, ग्रह आदि वेध करने उनकी गति लिखी है, वह ऐसी ठीक है कि सोलह लाख रुपए की लागत से विलायत में जो दूरबीन बनी है उनसे उन ग्रहों को वेध करने में भी वही गति ठीक आती है और जब आज इस काल में हम लोगों को अँग्रेज़ी विद्या की ओर जगत की उन्नति की कृपा से लाखों पुस्तकें और हज़ारों यंत्र तैयार हैं। तब हम लोग निरी चुंगी की कतवार फेंकने की गाड़ी बना रहे हैं। यह समय ऐसा है कि उन्नति की मानो घुड़दौड़ हो रही है। अमेरिकन, अँग्रेज़, फ्रांसीस आदि तुर्की-ताज़ी सब सरपट्ट दौड़े जाते हैं। सबके जी में यही है कि पाला हमीं पहले छू लें। उस समय हिंदू काठियावाड़ी ख़ाली खड़े-खड़े टाप से मिट्टी खोदते हैं। इनको, औरों को जाने दीजिए, जापानी टट्टुओं को हाँफते हुए दौड़ते देखकर के भी लाज नहीं आती। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जाएगा, फिर कोटि उपाय किए भी आगे न बढ़ सकैगा। इस लूट में, इस बरसात में भी जिसके सिर पर कमबख़्ती का छाता और आँखों में मूर्खता की पट्टी बँधी रहे उन पर ईश्वर का कोप ही कहना चाहिए।

मुझको मेरे मित्रों ने कहा था कि तुम इस विषय पर आज कुछ कहो कि हिंदुस्तान की कैसे उन्नति हो सकती है। भला इस विषय पर मैं और क्या कहूँ 'भागवत' में एक श्लोक है—नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारं।मयाऽनुकूलेन नभः स्वतेरितुं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा। भगवान कहते हैं कि पहले तो मनुष्य जनम ही दुर्लभ है, सो मिला और उस पर गुरु की कृपा और उस पर मेरी अनुकूलता। इतना सामान पाकर भी जो मनुष्य इस संसार-सागर के पार न जाए, उसको आत्महत्यारा कहना चाहिए। वही दशा इस समय हिंदुस्तान की है। अँग्रेज़ों के राज्य में सब प्रकार का सामान पाकर, अवसर पाकर भी हम लोग जो इस समय उन्नति न करैं तो हमारे केवल अभाग्य और परमेश्वर का कोप ही है। सास के अनुमोदन से एकांत रात में सूने रंगमहल में जाकर भी बहुत दिन से जिस प्रान से प्यारे परदेसी पति से मिलकर छाती ठंडी करने की इच्छा थी, उसका लाज से मुँह भी न देखै और बोलै भी न, तो उसका अभाग्य ही है। वह तो कल फिर परदेस चला जाएगा। वैसे ही अँग्रेज़ों के राज्य में भी जो हम कुँए के मेंढ़क, काठ के उल्लू, पिंजड़े के गंगाराम ही रहैं तो हमारी कमबख़्त कमबख़्ती फिर कमबख़्ती है।

बहुत लोग यह कहैंगे कि हमको पेट के धंधे के मारे छुट्टी ही नहीं रहती बाबा, हम क्या उन्नति करैं? तुम्हारा पेट भरा है तुम को दून की सूझती है। यह कहना उनकी बहुत भूल है। इंग्लैंड का पेट भी कभी यों ही ख़ाली था। उसने एक हाथ से अपना पेट भरा, दूसरे हाथ से उन्नति के काँटों को साफ़ किया। क्या इंग्लैंड में किसान, खेतवाले, गाड़ीवान, मज़दूर, कोचवान आदि नहीं हैं? किसी देश में भी सभी पेट भरे हुए नहीं होते। किंतु वे लोग जहाँ खेत जोतते-बोते हैं वहीं उसके साथ यह भी सोचते हैं कि ऐसी और कौन नई कल या मसाला बनावैं, जिसमें इस खेत में आगे से दूना अन्न उपजे। विलायत में गाड़ी के कोचवान भी अख़बार पढ़ते हैं। जब मालिक उतरकर किसी दोस्त के यहाँ गया उसी समय कोचवान ने गद्दी के नीचे से अख़बार निकाला। यहाँ उतनी देर कोचवान हुक्का पिएगा या गप्प करेगा। सो गप्प भी निकम्मी। वहाँ के लोग गप्प ही में देश के प्रबंध छाँटते हैं। सिद्धांत यह कि वहाँ के लोगों का यह सिद्धांत है कि एक छिन भी व्यर्थ न जाए। उसके बदले यहाँ के लोगों को जितना निकम्मापन हो उतना ही वह बड़ा अमीर समझा जाता है। आलस यहाँ इतनी बढ़ गई कि मलूकदास ने दोहा ही बना डाला—अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम। दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम।। चारों ओर आँख उठाकर देखिए तो बिना काम करने वालों की ही चारों ओर बढ़ती है। रोज़गार कहीं कुछ भी नहीं है, अमीरों की मुसाहबी, दल्लाली या अमीरों के नौजवान लड़कों को ख़राब करना या किसी की जमा मार लेना, इनके सिवा बतलाइए और कौन रोज़गार है। जिससे कुछ रुपया मिलै। चारों ओर दरिद्रता की आग लगी हुई है। किसी ने बहुत ठीक कहा है कि दरिद्र कुटुंबी इस तरह अपनी इज़्ज़त को बचाता फिरता है, जैसे लाजवंती कुल की बहू फटे कपड़ों में अपने अंग को छिपाए जाती है। वही दशा हिंदुस्तान की है।

मुर्दमशुमारी की रिपोर्ट देखने से स्पष्ट होता है कि मनुष्य दिन-दिन यहाँ बढ़ते जाते हैं और रुपया दिन-दिन कमती होता जाता है। तो अब बिना ऐसा उपाय किए काम नहीं चलैगा कि रुपया भी बढ़ै और वह रुपया बिना बुद्धि बढे न बढ़ैगा। भाइयों, राजा-महाराजों का मुँह मत देखो, मत यह आशा रखो कि पंडित जी कथा में ऐसा कोई उपाय भी बतलावैंगे कि देश का रुपया और बुद्धि बढ़े। तुम आप ही कमर कसो, आलस छोड़ो। कब तक अपने को जंगली, हूस, मूर्ख, बोदे, डरपोकने पुकरवाओगे। दौड़ो, इस घुड़दौड़ में जो पीछे पड़े तो फिर कहीं ठिकाना नहीं है। "फिर कब राम जनकपुर एहैं' अबकी जो पीछे पड़े तो फिर रसातल ही पहुँचोगे। जब पृथ्वीराज को क़ैद करके गोर ले गए तो शहाबुद्दीन के भाई गयासुद्दीन से किसी ने कहा कि वह शब्दबेधी बाण बहुत अच्छा मारता है। एक दिन सभा नियत हुई और सात लोहे के तावे बाण से फोड़ने को रखे गए। पृथ्वीराज को लोगों ने पहले ही से अंधा कर दिया था। संकेत यह हुआ कि जब गयासुद्दीन 'हूँ' करे तब वह तावों पर बाण मारे। चंद कवि भी उसके साथ क़ैदी था। यह सामान देखकर उसने यह दोहा पढ़ा—अबकी चढ़ी कमान, को जानै फिर कब चढ़ै। जिन चूक्के चौहाण, इक्के मारय इक्क सर। उसका संकेत समझकर जब गयासुद्दीन ने 'हूँ' किया तो पृथ्वीराज ने उसी को बाण मार दिया। वही बात अब है। अबकी चढ़ी, इस समय में सरकार का राज्य पाकर और उन्नति का इतना सामान पाकर भी तुम लोग अपने को न सुधारो तो तुम्हीं रहो और वह सुधारना भी

ऐसा होना चाहिए कि सब बात में उन्नति हो। धर्म में, घर के काम में, बाहर के काम में, रोज़गार में, शिष्टाचार में, चाल-चलन में, शरीर के बल में, मन के बल में, समाज में, बालक में, युवा में, वृद्ध में, स्त्री में, पुरुष में, अमीर में, गरीब में, भारतवर्ष की सब अवस्था , सब जाति सब देश में उन्नति करो। सब ऐसी बातों को छोड़ो जो तुम्हारे इस पथ के कंटक हों, चाहे तुम्हें लोग निकम्मा कहैं या नंगा कहैं, कृस्तान कहें या भ्रष्ट कहैं। तुम केवल अपने देश की दीनदशा को देखो और उनकी बात मत सुनो।

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा तु पृष्ठतः
स्वकार्य्यं साधयेत् धीमान् कार्य्यध्वंसो हि मूर्खता।

जो लोग अपने को देश-हितैषी लगाते हों, वह अपने सुख को होम करके, अपने धन और मान का बलिदान करके कमर कस के उठो। देखादेखी थोड़े दिन में सब हो जाएगा। अपनी ख़राबियों के मूल कारणों को खोजो। कोई धर्म की आड़ में, कोई देश की चाल की आड़ में, कोई सुख की आड़ में छिपे हैं। उन चोरों को वहाँ-वहाँ से पकड़-पकड़कर लाओ। उनको बाँध-बाँधकर क़ैद करो। हम इससे बढ़कर क्या कहें कि जैसे तुम्हारे घर में कोई पुरुष व्याभिचार करने आवै तो जिस क्रोध से उसको पकड़कर मारोगे और जहाँ तक तुम्हारे में शक्ति होगी उसका सत्यानाश करोगे। उसी तरह इस समय जो-जो बातैं तुम्हारे उन्नति-पथ में काँटा हों, उनकी जड़ खोदकर फेंक दो। कुछ मत डरो। जब तक सौ-दो सौ मनुष्य बदनाम न होंगे, जात से बाहर न निकाले जाएँगे, दरिद्र न हो जाएँगे, क़ैद न होंगे वरंच जान से न मारे जाएँगे तब तक कोई देश भी न सुधरैगा।

अब यह प्रश्न होगा कि भाई, हम तो जानते ही नहीं कि उन्नति और सुधरना किस चिड़िया का नाम है। किसको अच्छा समझैं। क्या लें, क्या छोड़ैं? तो कुछ बातैं जो इस शीघ्रता से मेरे ध्यान में आती हैं उनको मैं कहता हूँ सुनो—

सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबसे पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है। देखो अँग्रेज़ों की धर्मनीति राजनीति परस्पर मिली है, इससे उनकी दिन-दिन कैसी उन्नति हुई है। उनको जाने दो, अपने ही यहाँ देखो! तुम्हारे यहाँ धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति, समाज-गठन, वैद्यक आदि भरे हुए हैं। दो-एक मिसाल सुनो। यही तुम्हारा बलिया का मेला और यहाँ स्नान क्यों बनाया गया है? जिसमें जो लोग कभी आपस में नहीं मिलते, दस-दस, पाँच-पाँच कोस से वे लोग एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलें। एक-दूसरे का दुःख-सुख जानैं। गृहस्थी के काम की वह चीज़ें जो गाँव में नहीं मिलतीं यहाँ से ले जाएँ। एकादशी का व्रत क्यों रखा है? जिसमें महिने में दो-एक उपवास से शरीर शुद्ध हो जाए। गंगा जी नहाने जाते हैं तो पहले पानी सिर पर चढ़ाकर तब पैर पर डालने का विधान क्यों है? जिसमें तलुए से गर्मी सिर में चढ़कर विकार न उत्पन्न करे। दीवाली इसी हेतु है कि इसी बहाने साल भर में एक बेर तो सफ़ाई हो जाए। होली इसी हेतु है कि बसंत की बिगड़ी हवा स्थान-स्थान पर अग्नि जलने से स्वच्छ हो जाए। यही तिहवार ही तुम्हारी म्युनिसिपालिटी है। ऐसे ही सब पर्व, सब तीर्थ, व्रत आदि में कोई हिकमत ही है। उन लोगों ने धर्मनीति और समाजनीति को दूध-पानी की भाँति मिला दिया है। ख़राबी जो बीच में भई है वह यह कि उन लोगों ने ये धर्म क्यों मानने लिखे थे, इसका लोगों

ने मतलब नहीं समझा और इन बातों को वास्तविक धर्म मान लिया। भाइयो, वास्तविक धर्म तो केवल परमेश्वर के चरण कमल का भजन है। ये सब तो समाज धर्म हैं जो देश काल के अनुसार शोधे और बदले जा सकते हैं। दूसरी ख़राबी यह हुई कि उन्हीं महात्मा बुद्धिमान ऋषियों के वंश के लोगों ने अपने बाप-दादों का मतलब न समझकर बहुत से नए-नए धर्म बनाकर शास्त्रों में धर दिए। बस सभी तिथि-व्रत और सभी स्थान तीर्थ हो गए। सो इन बातों को अब एक बेर आँख खोलकर देख और समझ लीजिए कि फलानी बात उन बुद्धिमान ऋषियों ने क्यों बनाई और उनमें देश और काल के जो अनुकूल और उपकारी हों, उनका ग्रहण कीजिए। बहुत-सी बातैं जो समाज-विरुद्ध मानी हैं, किंतु धर्मशास्त्रों में जिनका विधान है, उनको मत चलाइए। जैसा जहाज़ का सफ़र, विधवा-विवाह आदि। लड़कों की छोटेपन ही में शादी करके उनका बल, वीर्य, आयुष्य सब मत घटाइए। आप उनके माँ-बाप हैं या उनके शत्रु हैं? वीर्य उनके शरीर में पुष्ट होने दीजिए; नोन, तेल लकड़ी की फ़िक्र करने की बुद्धि सीख लेने दीजिए—तब उनका पैर काठ में डालिए। कुलीन-प्रथा, बहु-विवाह आदि को दूर कीजिए। लड़कियों को भी पढ़ाइए, किंतु उस चाल से नहीं जैसे आजकल पढ़ाई जाती है जिससे उपकार के बदले बुराई होती है। ऐसी चाल से उनको शिक्षा दीजिए कि वह अपना देश और कुलधर्म सीखें, पति की भक्ति करैं और लड़कों को सहज में शिक्षा दें। वैष्णव, शाक्त इत्यादि नाना प्रकार के लोग आपस का वैर छोड़ दें। यह समय इन झगड़ों का नहीं। हिंदू, जैन, मुसलमान सब आपस में मिलिए। जाति में कोई चाहे ऊँचा हो चाहे नीचा हो, सबका आदर कीजिए, जो जिस योग्य हो उसे वैसा मानिए। छोटी जाति के लोगों का तिरस्कार करके उनका जी मत तोड़िए। सब लोग आपस में मिलिए।

मुसलमान भाइयों को भी उचित है कि इस हिंदुस्तान में बसकर वे लोग हिंदुओं को नीचा समझना छोड़ दें। ठीक भाइयों की भाँति हिंदुओं से बरताव करैं। ऐसी बात, जो हिंदुओं का जी दुखाने वाली हों, न करें। घर में आग लगै, सब जिठानी-द्यौरानी को आपस का डाह छोड़कर एक साथ वह आग बुझानी चाहिए। जो बात हिंदुओं को नहीं मयस्सर है वह धर्म के प्रभाव से मुसलमानों को सहज प्राप्त है। उनमें जाति नहीं, खाने-पीने में चौका-चूल्हा नहीं, विलायत जाने में रोक-टोक नहीं, फिर भी बड़े ही सोच की बात है, मुसलमानों ने अभी तक अपनी दशा कुछ नहीं सुधारी। अभी तक बहुतों को यही ज्ञात है कि दिल्ली, लखनऊ की बादशाहत क़ायम है। यारो! वे दिन गए। अब आलस, हठधर्मी यह सब छोड़ो। चलो, हिंदुओं के साथ तुम भी दौड़ो, एक-एक-दो होंगे। पुरानी बातैं दूर करो। मीरहसन की 'मसनवी' और इंदरसभा पढ़ाकर छोटेपन ही से लड़कों का सत्यानाश मत करो। होश संभाला नहीं कि पट्टी पार ली, चुस्त कपड़ा पहनना और ग़ज़ल गुनगुनाए—शौक़ तिफ़्ली से मुझे गुल की जो दीदार का था। न किया हमने गुलिस्ताँ का सबक़ याद कभी।। भला सोचो कि इस हालत में बड़े होने पर वे लड़के क्यों न बिगड़ैंगे। अपने लड़कों को ऐसी किताबैं छूने भी मत दो। अच्छी-से-अच्छी उनको तालीम दो। पिनशिन और वज़ीफ़ा या नौकरी का भरोसा छोड़ो। लड़कों को रोज़गार सिखलाओ। विलायत भेजो। छोटेपन से मेहनत करने की आदत दिलाओ। सौ-सौ महलों के लाड़-प्यार दुनिया से बेख़बर रहने की राह मत दिखलाओ।

भाई हिंदुओं! तुम भी मत-मतांतर का आग्रह छोड़ो। आपस में प्रेम बढ़ाओ। इस महामंत्र का जप करो। जो हिंदुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, जाति का क्यों ना हो, वह हिंदू। हिंदू की सहायता करो। बंगाली, मराठा, पंजाबी, मदरासी, वैदिक, जैन, ब्राह्मणों, मुसलमानों सब एक का हाथ एक पकड़ो। कारीगरी जिससे तुम्हारे यहाँ बढ़ै, तुम्हारा रुपया तुम्हारे ही देश में रहै वह करो। देखो, जैसे हज़ार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हज़ार तरह से इंग्लैंड, फ्रांसीसी, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दीयासलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। ज़रा अपने ही को देखो। तुम जिस मारकीन की धोती पहने हो वह अमेरिका की बनी है। जिस लंकिलाट का तुम्हारा अंगा है वह इंग्लैंड का है। फ्रांसीसी की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी चरबी की बत्ती तुम्हारे सामने जल रही है। यह तो वही मसल हुई एक बेफ़िकरे मँगती का कपड़ा पहिनकर किसी महफ़िल में गए। कपड़े को पहिचानकर एक ने कहा, 'अजी अंगा तो फलाने का है।' दूसरा बोला, 'अजी टोपी भी फलाने की है।' तो उन्होंने हँसकर जवाब दिया कि 'घर की तो मूछैं ही मूछैं हैं।' हाय अफ़सोस, तुम ऐसे हो गए कि अपने निज की काम की वस्तु भी नहीं बना सकते। भइयों, अब तो नींद से चौंको, अपने देश की सब प्रकार से उन्नति करो। जिसमें तुम्हारी भलाई हो वैसी ही किताब पढ़ो, वैसे ही खेल खेलो, वैसी बातचीत करो। परदेसी वस्तु और परदेसी भाषा का भरोसा मत रखो। अपने में अपनी भाषा में उन्नति करो।"

स्रोत : निबंध निलय; डॉ सतेंद्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

2.5 निबंध का सार

यह निबंध भारतेंदु हरिश्चंद्र की राष्ट्रवादी, सुधारवादी और युगबोधक चेतना का सशक्त उदाहरण है। भारतेंदु जी बलिया में आयोजित एक सामाजिक सभा के दृश्य से पूरे हिंदुस्तान की दशा का विश्लेषण करते हैं। वह प्रारंभ में यह स्वीकार करते हैं कि एक छोटे नगर में इतना उत्साह अपने आप में सराहनीय है, किंतु साथ ही यह भी संकेत देता है कि ऐसे आयोजन अपवाद हैं। क्योंकि देश सामान्यतः आलस्य और जड़ता में डूबा हुआ है। वे मानता हैं कि हिंदुस्तानी समाज में सामर्थ्य की कमी नहीं है, कमी है तो दिशा देने वाले नेतृत्व और आत्मबोध की। वे हिंदुस्तानी जनता की तुलना बिना इंजन की रेलगाड़ी से करता है। डिब्बे अनेक हैं, पर इंजन न होने से गाड़ी चल नहीं पाती। राजा-महाराजा, नवाब और शासक वर्ग अपने भोग विलास, पूजा-पाठ और औपचारिकताओं में उलझे हैं, जबकि सामान्य जनता 'गए हम' की अवस्था में शोषण और दरिद्रता झेल रही है। वे भारत की दुर्दशा के प्रमुख कारणों के रूप में आलस्य, निकम्मापन, अंधविश्वास, रूढ़िवादी धर्म, जाति-भेद, परावलंबन और आत्मगौरव के अभाव को चिन्हित करते हैं। वे तीखे व्यंग्य के साथ कहते हैं कि जब संसार के अन्य देश उन्नति की घुड़दौड़ में सरपट दौड़ रहे हैं, तब हिंदुस्तान हाथ पर हाथ रखकर खड़ा है। यह समय ऐसा है कि जो पीछे रह जाएगा, वह फिर कितने ही उपाय कर ले, आगे नहीं बढ़ सकेगा। लेखक धर्म को उन्नति का मूल मानता है, पर वह स्पष्ट करता है कि वास्तविक धर्म ईश्वर-भक्ति है, जबकि व्रत-त्योहार, मेले, तीर्थ और

पर्व समाज को संगठित रखने की व्यावहारिक व्यवस्थाएँ थीं। समय के साथ लोगों ने इनका वास्तविक उद्देश्य भूलकर इन्हें रूढ़ि और पाखंड बना लिया है। वे तर्क देते हैं कि इन परंपराओं को देश-काल के अनुसार सुधारा जाना चाहिए। निबंध में अनेक सामाजिक कुरीतियों बाल-विवाह, बहु-विवाह, कुलीन-प्रथा, स्त्री-अशिक्षा की कठोर आलोचना की गई है। लेखक स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, शारीरिक-मानसिक विकास और व्यवहारिक शिक्षा का समर्थन करता है। साथ ही वह यह भी कहता है कि शिक्षा ऐसी हो जो व्यक्ति को कर्मशील, स्वावलंबी और समाजोपयोगी बनाए। वे हिंदू-मुस्लिम एकता पर विशेष बल देते हैं। वे दोनों समुदायों से आग्रह करते हैं कि आपसी वैमनस्य छोड़कर देश की उन्नति के लिए एक साथ आगे बढ़ें। उसके अनुसार जाति, धर्म और संप्रदाय के झगड़े इस समय सबसे बड़े अवरोध हैं। आर्थिक दृष्टि से लेखक स्वदेशी भावना का प्रबल समर्थक है। वह परदेसी वस्तुओं पर निर्भरता को राष्ट्रीय अपमान मानता है और उद्योग, कारीगरी तथा देशी उत्पादन को बढ़ावा देने की आवश्यकता बताता है। उसका विश्वास है कि जब तक देश की संपत्ति देश में नहीं रहेगी, तब तक वास्तविक उन्नति संभव नहीं। निबंध के अंत में लेखक देशवासियों को ललकारते हुए कहता है कि उन्नति के मार्ग में आने वाली बुराइयों को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। चाहे इसके लिए बदनामी, कष्ट या बलिदान ही क्यों न सहना पड़े। वे स्पष्ट करते हैं कि देशहित के लिए व्यक्तिगत सुख, मान और संपत्ति का त्याग आवश्यक है। इस प्रकार यह निबंध केवल सामाजिक आलोचना नहीं, बल्कि राष्ट्रीय जागरण का घोषणापत्र है। जो भारतवासियों को आलस्य छोड़कर कर्म, शिक्षा, एकता और आत्मनिर्भरता के पथ पर चलने का आह्वान करता है।

2.6 संदर्भ सहित व्याख्या

गद्यांश एक : "सब उन्नतियों का मूल धर्म है। इससे सबसे पहले धर्म की ही उन्नति करनी उचित है। देखो अँग्रेज़ों की धर्मनीति राजनीति परस्पर मिली है, इससे उनकी दिन-दिन कैसी उन्नति हुई है। उनको जाने दो, अपने ही यहाँ देखो! तुम्हारे यहाँ धर्म की आड़ में नाना प्रकार की नीति, समाज-गठन, वैद्यक आदि भरे हुए हैं। दो-एक मिसाल सुनो। यही तुम्हारा बलिया का मेला और यहाँ स्नान क्यों बनाया गया है? जिसमें जो लोग कभी आपस में नहीं मिलते, दस-दस, पाँच-पाँच कोस से वे लोग एक जगह एकत्र होकर आपस में मिलें। एक-दूसरे का दुःख-सुख जानैं। गृहस्थी के काम की वह चीज़ें जो गाँव में नहीं मिलतीं यहाँ से ले जाएँ।"

संदर्भ : प्रस्तुत गद्यांश हिंदी के नवजागरणकाल के प्रमुख साहित्यकार भारतेंदु हरिश्चंद्र के प्रसिद्ध निबंध 'भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है' से लिया गया है। इस निबंध में लेखक ने भारतीय समाज की उन्नति के लिए धर्म, समाज और नीति के सही अर्थ को स्पष्ट किया है।

प्रसंग : इस अंश में लेखक यह समझा रहे हैं कि किसी भी देश की उन्नति का मूल आधार धर्म है, किंतु वह धर्म अंधविश्वास या रूढ़ि नहीं, बल्कि समाज-कल्याण से जुड़ा हुआ विवेकपूर्ण धर्म होना

चाहिए। भारतेंदु यह बताना चाहते हैं कि हमारे यहाँ धर्म के नाम पर जो परंपराएँ बनी हैं, उनके पीछे गहरा सामाजिक और व्यावहारिक उद्देश्य छिपा है।

व्याख्या : भारतेंदु हरिश्चंद्र भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है निबंध में कहते हैं कि समस्त उन्नतियों की जड़ धर्म में निहित है, इसलिए सबसे पहले धर्म की उन्नति आवश्यक है। वे उदाहरण देते हैं कि इंग्लैंड में धर्मनीति और राजनीति आपस में जुड़ी हुई हैं, इसी कारण वहाँ निरंतर प्रगति हो रही है। परंतु लेखक पाठकों को अंग्रेज़ों की ओर देखने के बजाय अपने समाज की ओर देखने की सलाह देते हैं। भारतेंदु बताते हैं कि भारतीय धर्म के भीतर ही समाज-गठन, नीति, स्वास्थ्य-विज्ञान और पारस्परिक सहयोग के तत्व विद्यमान हैं। बलिया के मेले और स्नान का उदाहरण देते हुए वे स्पष्ट करते हैं कि इन आयोजनों का उद्देश्य केवल धार्मिक कर्मकांड नहीं, बल्कि सामाजिक एकता है। दूर-दूर के गाँवों से लोग एकत्र होकर एक-दूसरे से मिलते हैं, आपसी दुःख-सुख साझा करते हैं और घरेलू उपयोग की आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त करते हैं। इस प्रकार धार्मिक आयोजन सामाजिक मेल-मिलाप और आर्थिक विनिमय का साधन भी बन जाते हैं। लेखक का आशय यह है कि भारतीय धर्म मूलतः जीवनोपयोगी और समाजोपकारक था, किंतु समय के साथ उसके वास्तविक अर्थ को भुला दिया गया। यदि धर्म को उसके सही उद्देश्य लोककल्याण और सामाजिक उन्नति के साथ समझा जाए, तो वही धर्म भारत की प्रगति का आधार बन सकता है।

निष्कर्ष : इस गद्यांश के माध्यम से भारतेंदु हरिश्चंद्र यह प्रतिपादित करते हैं कि धर्म को रूढ़ियों से मुक्त कर उसके सामाजिक और व्यावहारिक रूप में ग्रहण करना ही भारतवर्ष की सच्ची उन्नति का मार्ग है।उन्नति का मूल आधार धर्म बताया गया है, पर यह धर्म अंधविश्वास नहीं बल्कि लोककल्याण से जुड़ा हुआ है। धर्म, नीति और समाज का समन्वय लेखक के अनुसार सच्चा धर्म समाज-गठन, स्वास्थ्य और नैतिकता से जुड़ा होता है।

विशेष : भारतीय परंपराओं की वैज्ञानिक और सामाजिक व्याख्या मेले और स्नान को सामाजिक मेल-मिलाप का साधन बताया गया है। सामाजिक एकता पर बल दूर-दूर के लोगों का एक स्थान पर एकत्र होकर दुःख-सुख बाँटना धर्म का मुख्य उद्देश्य बताया गया है। आर्थिक पक्ष की ओर संकेत मेले को घरेलू आवश्यक वस्तुओं के आदान-प्रदान का माध्यम माना गया है। धर्म के वास्तविक स्वरूप का उद्घाटन धर्म कर्मकांड नहीं, बल्कि समाज-उन्नति का साधन है। रूढ़िवाद की अप्रत्यक्ष आलोचना धर्म की आड़ में फैली संकीर्णताओं पर संकेतात्मक प्रहार है। राष्ट्रीय चेतना का विकास धर्म को राष्ट्रीय उन्नति से जोड़कर देखने की दृष्टि का समर्थन किया गया है। भारतेंदु युग की सुधारवादी चेतना समाज-सुधार और व्यावहारिक दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय मिलता है।

2.7 अंतर्वस्तु

यह निबंध भारतेंदु हरिश्चंद्र की राष्ट्रवादी और सुधारवादी चेतना का प्रतिनिधि पाठ है। इसकी अंतर्वस्तु मूलतः भारतवर्ष की सर्वांगीण उन्नति की समस्या से जुड़ी हुई है। लेखक ने देश की तत्कालीन

सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और नैतिक स्थिति का निर्भीक मूल्यांकन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि भारत की दुर्दशा किसी बाहरी शक्ति से अधिक हमारी अपनी कमजोरियों का परिणाम है। निबंध में भारतीय समाज के आलस्य, अकर्मण्यता और आत्महीनता को उन्नति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बताया गया है। लेखक का मत है कि भारतीय जनता में शक्ति और प्रतिभा की कमी नहीं है, किंतु उसे दिशा देने वाला नेतृत्व और संगठन नहीं मिल पाया है। इसी कारण समाज अपनी संभावनाओं का उपयोग नहीं कर सका और सामान्य जन 'गए हम' की स्थिति में जीवन व्यतीत कर रहा है। यह स्थिति केवल शोषण की नहीं, बल्कि आत्मसमर्पण की भी है। इस निबंध की अंतर्वस्तु में धर्म की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। लेखक धर्म को उन्नति का मूल मानता है, किंतु वह अंधविश्वास, पाखंड और जड़ परंपराओं का विरोध करता है। उसके अनुसार वास्तविक धर्म ईश्वर-भक्ति और नैतिक जीवन है, जबकि पर्व, व्रत और तीर्थ समाज-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के साधन थे। जब इनका उद्देश्य भुला दिया गया, तब वे उन्नति के साधन न रहकर अवरोध बन गए। लेखक सामाजिक कुरीतियों पर भी तीखा प्रहार करता है। बाल-विवाह, बहु-विवाह, कुलीन-प्रथा और स्त्री-अशिक्षा को वह समाज की शक्ति क्षीण करने वाले तत्व मानता है। उसकी अंतर्वस्तु में यह स्पष्ट संकेत है कि स्त्री और पुरुष दोनों के बौद्धिक तथा शारीरिक विकास के बिना राष्ट्र का विकास संभव नहीं। इसलिए वह व्यवहारिक शिक्षा, स्वास्थ्यपूर्ण जीवन और आत्मनिर्भरता पर बल देता है। निबंध की अंतर्वस्तु का एक महत्वपूर्ण पक्ष आर्थिक चेतना है। लेखक परावलंबन को राष्ट्रीय पतन का कारण मानता है और स्वदेशी उद्योग, कारीगरी तथा देशी वस्तुओं के प्रयोग को उन्नति का आधार बताता है। वह यह भी स्पष्ट करता है कि धन की वृद्धि बुद्धि-विकास के बिना संभव नहीं है और बुद्धि-विकास कर्मशीलता तथा शिक्षा से ही आता है। सामाजिक समरसता इस निबंध की केंद्रीय अंतर्वस्तु है। लेखक हिंदू-मुस्लिम एकता और जातिगत भेदभाव के त्याग पर विशेष बल देता है। उसके अनुसार आपसी वैमनस्य, संप्रदायिक झगड़े और ऊँच-नीच की भावना देश को कमजोर करती है और उन्नति की प्रत्येक संभावना को नष्ट कर देती है। अंततः निबंध की अंतर्वस्तु त्याग, संघर्ष और आत्मबलिदान की चेतना से जुड़ी हुई है। लेखक मानता है कि देश की उन्नति के लिए व्यक्तिगत सुख, मान और सुविधा का त्याग अनिवार्य है। बिना साहस, कठोर परिश्रम और सामाजिक बुराइयों के मूल पर प्रहार किए कोई भी राष्ट्र आगे नहीं बढ़ सकता। इस प्रकार यह निबंध भारतवासियों को आत्मालोचना के माध्यम से कर्म, विवेक, एकता और आत्मनिर्भरता के मार्ग पर चलने का सशक्त आह्वान करता है।

2.7.1 विचार पक्ष

यह निबंध भारतेंदु हरिश्चंद्र के विचारात्मक चिंतन का सशक्त उदाहरण है। इसके विचार-पक्ष का केंद्र भारतवर्ष की सर्वांगीण उन्नति की चिंता है। लेखक यह स्पष्ट करता है कि देश की अवनति का मूल कारण विदेशी शासन से अधिक हमारी अपनी सामाजिक, मानसिक और नैतिक कमजोरियाँ हैं। वह आत्मालोचना को उन्नति का पहला चरण मानता है और जनता को अपनी वास्तविक स्थिति पहचानने के लिए विवश करता है। निबंध में यह विचार प्रमुख रूप से उभरता है कि भारतीय समाज में शक्ति,

प्रतिभा और संसाधनों की कोई कमी नहीं है, किंतु उनके संचालन के लिए जागरूक नेतृत्व और संगठित दिशा का अभाव है। लेखक के अनुसार जनता बिना मार्गदर्शन के निष्क्रिय हो गई है और शासक वर्ग तथा अभिजात्य समाज अपने स्वार्थ और विलासिता में डूबकर राष्ट्रीय कर्तव्यों से विमुख हो चुका है। इस कारण समाज की सामूहिक शक्ति निष्प्रभावी बनी हुई है। विचार-पक्ष का एक महत्त्वपूर्ण आधार धर्म-चिंतन है। लेखक धर्म को उन्नति का मूल स्वीकार करता है, परंतु वह रूढ़िवादी, अंधविश्वासी और जड़ धर्म-व्यवस्था का विरोध करता है। उसके विचार में वास्तविक धर्म नैतिकता, भक्ति और मानव-कल्याण से जुड़ा है, जबकि व्रत-पर्व और धार्मिक परंपराएँ समाजोपयोगी व्यवस्थाएँ थीं, जिन्हें देश-काल के अनुसार बदला जा सकता है। धर्म का उद्देश्य समाज को संगठित और स्वस्थ बनाना है, न कि उसे जड़ और अकर्मण्य बनाना। इस निबंध के विचार-पक्ष में सामाजिक सुधार की स्पष्ट चेतना दिखाई देती है। लेखक बाल-विवाह, बहु-विवाह, कुलीन-प्रथा और स्त्री-अशिक्षा जैसी कुरीतियों को राष्ट्रीय शक्ति के क्षरण का कारण मानता है। वह ऐसी शिक्षा का समर्थन करता है जो व्यक्ति को कर्मठ, विवेकशील और आत्मनिर्भर बनाए, न कि केवल नौकरी-आश्रित। उसके अनुसार शिक्षा और बुद्धि-विकास के बिना आर्थिक उन्नति संभव नहीं। आर्थिक दृष्टि से निबंध का विचार-पक्ष स्वदेशी भावना और आत्मनिर्भरता पर आधारित है। लेखक परदेसी वस्तुओं पर निर्भरता को राष्ट्रीय हीनता का प्रतीक मानता है और देशी उद्योग, कारीगरी तथा श्रम को सम्मान देने की आवश्यकता पर बल देता है। उसका विश्वास है कि जब तक देश की संपत्ति देश में नहीं रहेगी, तब तक वास्तविक उन्नति नहीं हो सकती। निबंध का विचार-पक्ष सामाजिक समरसता और राष्ट्रीय एकता पर भी दृढ़ता से टिका है। लेखक हिंदू-मुस्लिम एकता और जातिगत भेदभाव के त्याग को समय की सबसे बड़ी आवश्यकता मानता है। उसके अनुसार आपसी फूट, संप्रदायिक संघर्ष और ऊँच-नीच की भावना देश को कमजोर करती है और उन्नति की संभावनाओं को नष्ट कर देती है। समग्र रूप में इस निबंध का विचार-पक्ष कर्म, त्याग, विवेक, आत्मनिर्भरता और राष्ट्रीय एकता के सिद्धांतों पर आधारित है। यह निबंध भारतवासियों को निष्क्रियता और आत्ममोह से बाहर निकालकर सक्रिय, जागरूक और उत्तरदायी नागरिक बनने का वैचारिक आह्वान करता है।

2.7.2 भाव पक्ष

यह निबंध भारतेंदु हरिश्चंद्र की भावनात्मक चेतना का अत्यंत प्रभावशाली उदाहरण है। इसके भाव-पक्ष का मूल स्वर देश-प्रेम से उपजा हुआ गहरा दुःख, क्षोभ और जागरण का आग्रह है। लेखक भारतवर्ष की दयनीय अवस्था को देखकर मूक दर्शक नहीं बना रहता, बल्कि भीतर से व्याकुल होकर देशवासियों को झकझोरने का प्रयास करता है। निबंध में सबसे प्रमुख भाव राष्ट्रीय पीड़ा का है। लेखक को यह देखकर तीव्र वेदना होती है कि जिस देश में कभी अपार बौद्धिक और नैतिक शक्ति थी, वही देश अब आलस्य, अज्ञान और आत्महीनता का शिकार हो गया है। यह पीड़ा केवल शिकायत में नहीं बदलती, बल्कि आत्मग्लानि और आत्मालोचना के रूप में व्यक्त होती है। लेखक बार-बार यह संकेत देता है कि भारत की दुर्दशा के लिए हम स्वयं उत्तरदायी हैं। इसके साथ ही निबंध में आक्रोश और

क्षोभ का भाव भी प्रबल है। यह आक्रोश शासक वर्ग, अभिजात समाज, धर्म के नाम पर फैलाए गए पाखंड और समाज की जड़ रूढ़ियों के प्रति है। लेखक की भाषा कई स्थानों पर तीखी और कटु हो जाती है, किंतु इस कटुता के पीछे घृणा नहीं, बल्कि सुधार की तड़प छिपी हुई है। निबंध का भाव-पक्ष केवल नकारात्मक नहीं है; इसमें आशा और विश्वास का स्वर भी निरंतर बना रहता है। लेखक को भारतीय समाज की अंतर्निहित शक्ति पर पूरा भरोसा है। वह मानता है कि यदि सही दिशा और प्रेरणा मिल जाए, तो यही समाज अद्भुत कार्य कर सकता है। इस विश्वास के कारण ही वह बार-बार जनता को उठ खड़े होने, आलस्य छोड़ने और कर्मशील बनने का आह्वान करता है। भाव-पक्ष में प्रेरणा और ललकार का तत्व विशेष रूप से दिखाई देता है। लेखक पाठक को केवल समझाता नहीं, बल्कि उसे चुनौती देता है कि वह अपने सुख, सुविधा और प्रतिष्ठा का त्याग कर देश-हित के लिए आगे आए। यहाँ लेखक का स्वर उपदेशात्मक न होकर वीरतापूर्ण और उत्साहवर्धक हो जाता है। निबंध में करुणा का भाव भी निहित है, विशेषतः सामान्य जनता, स्त्रियों, गरीबों और शोषित वर्गों के प्रति। लेखक उनकी दयनीय स्थिति को समझता है और चाहता है कि समाज उन्हें सम्मान और अवसर प्रदान करे। यह करुणा ही उसे सामाजिक सुधार की ओर उन्मुख करती है। अंततः इस निबंध का भाव-पक्ष देश के लिए त्याग, साहस और आत्मबलिदान की भावना पर आकर केंद्रित हो जाता है। लेखक मानता है कि बिना कष्ट सहे, बिना बदनामी और संघर्ष के कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। इस प्रकार निबंध का भाव-पक्ष पाठक के हृदय में देश-प्रेम, आत्मगौरव और कर्मशीलता की तीव्र अनुभूति जाग्रत करता है।

2.8 संरचना शिल्प

यह निबंध भारतेंदु हरिश्चंद्र की गद्य-रचना-कला का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके संरचना-शिल्प में विचारों की क्रमिकता, भाषणात्मक प्रवाह और उदाहरणों की सघनता दिखाई देती है। निबंध की रचना केवल विषय-विस्तार तक सीमित नहीं रहती, बल्कि पाठक को क्रमशः समस्या-बोध, कारण-विश्लेषण और समाधान की दिशा में ले जाती है। निबंध की संरचना का आरंभ एक प्रत्यक्ष और जीवंत सामाजिक दृश्य से होता है। बलिया की सभा का उल्लेख कर लेखक तत्कालीन समाज की स्थिति को सामने रखता है। यह आरंभ पाठक को विषय से जोड़ता है और आगे आने वाले विचारों के लिए भूमि तैयार करता है। प्रारंभिक भाग में उत्साह और विडंबना साथ-साथ चलती है, जिससे लेखक की दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। मध्य भाग निबंध का सबसे विस्तृत और सशक्त हिस्सा है। यहाँ लेखक भारत की दुर्दशा के कारणों का विश्लेषण करता है। आलस्य, अकर्मण्यता, नेतृत्वहीनता, रूढ़िवादी धर्म, सामाजिक कुरीतियाँ, शिक्षा की कमी, आर्थिक परावलंबन और आपसी फूट—इन सब विषयों को लेखक क्रमशः सामने लाता है। इस भाग में उदाहरण, उपमाएँ, ऐतिहासिक प्रसंग, धार्मिक उद्धरण और लोककथाओं का प्रयोग कर विचारों को प्रभावशाली बनाया गया है। संरचना में प्रवाह ऐसा है कि एक विचार दूसरे विचार से स्वाभाविक रूप से जुड़ता चला जाता है। निबंध का अंतिम भाग उपदेशात्मक और

प्रेरणात्मक स्वर में विकसित होता है। यहाँ लेखक आलोचक से प्रेरक बन जाता है। वह पाठकों को सीधे संबोधित करता है और उन्नति के लिए स्पष्ट दिशा-सूत्र प्रस्तुत करता है। त्याग, संघर्ष, साहस और सामाजिक सुधार का आह्वान करते हुए निबंध को एक ऊर्जावान निष्कर्ष तक पहुँचाया गया है। अंत में सुधार को सर्वांगीण बनाने की बात कहकर लेखक रचना को व्यापक दृष्टि देता है। संरचना-शिल्प की दृष्टि से यह निबंध विषय-एकता और भाव-एकता से युक्त है। यद्यपि विषय अनेक हैं, फिर भी वे सभी 'भारतवर्ष की उन्नति' के केंद्रीय विचार से जुड़े हुए हैं। कहीं भी विचारों का बिखराव नहीं दिखता। भाषणात्मक शैली के कारण निबंध में गति, ओज और प्रभावशीलता बनी रहती है। इस प्रकार इस निबंध का संरचना-शिल्प सुदृढ़, सुसंगठित और प्रभावपूर्ण है। यह निबंध न केवल वैचारिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है, बल्कि रचना-कौशल की दृष्टि से भी हिंदी गद्य के विकास में एक उल्लेखनीय उपलब्धि माना जा सकता है।

2.8.1 भाषा

यह निबंध भारतेंदु हरिश्चंद्र की भाषा-साधना का अत्यंत सशक्त उदाहरण है। इसकी भाषा केवल भावों और विचारों की वाहक नहीं है, बल्कि स्वयं में जागरण का माध्यम बन जाती है। भाषा का स्वर ओजपूर्ण, प्रवाहमय और प्रभावकारी है, जो पाठक को बाँधकर रखता है और उसे चिंतन तथा कर्म दोनों के लिए प्रेरित करता है। निबंध की भाषा मूलतः खड़ी बोली हिंदी है, किंतु उसमें ब्रज, अवधी, उर्दू और संस्कृत के शब्दों का स्वाभाविक मिश्रण दिखाई देता है। यह मिश्रण कृत्रिम नहीं लगता, बल्कि उस समय की जीवंत बोलचाल और सांस्कृतिक बहुलता को व्यक्त करता है। लेखक ने जनसाधारण की समझ में आने वाली भाषा का प्रयोग किया है, जिससे उसका संदेश व्यापक समाज तक पहुँच सके। भाषा में लोकप्रचलित मुहावरों, कहावतों और उदाहरणों का भरपूर प्रयोग हुआ है। 'कुएँ का मेंढ़क', 'बिना इंजन की रेलगाड़ी', 'घुड़दौड़', 'गए हम' जैसे प्रयोग भाषा को चित्रात्मक और प्रभावी बनाते हैं। इन प्रतीकों के माध्यम से लेखक जटिल सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं को सरल रूप में सामने रखता है। निबंध की भाषा में व्यंग्य और कटुता भी दिखाई देती है, किंतु यह कटुता अपमान के लिए नहीं, बल्कि सुधार के उद्देश्य से है। लेखक कई स्थानों पर समाज की जड़ता, आलस्य और आत्महीनता पर तीखा व्यंग्य करता है। यह व्यंग्य भाषा को धार देता है और पाठक को आत्मचिंतन के लिए विवश करता है। संस्कृत श्लोकों, धार्मिक उद्धरणों और ऐतिहासिक उदाहरणों का प्रयोग भाषा को प्रामाणिकता और गंभीरता प्रदान करता है। साथ ही उर्दू-फ़ारसी शब्दावली से भाषा में भावात्मकता और प्रवाह आता है। इस प्रकार भाषा न तो अत्यधिक शास्त्रीय बनती है और न ही अत्यधिक साधारण, बल्कि दोनों के बीच संतुलन स्थापित करती है। कुल मिलाकर इस निबंध की भाषा सरल, सजीव, ओजस्वी और व्यंग्यप्रधान है। यही भाषा पाठक को केवल सूचना नहीं देती, बल्कि उसे झकझोरती है, प्रेरित करती है और राष्ट्रहित के प्रति सजग बनाती है। हिंदी गद्य के विकास में यह भाषा एक निर्णायक और मार्गदर्शक भूमिका निभाती है।

2.8.2 शैली

यह निबंध भारतेंदु हरिश्चंद्र की शैलीगत विशेषताओं का अत्यंत सशक्त उदाहरण है। इसकी शैली केवल विचारों को प्रस्तुत करने का माध्यम नहीं, बल्कि पाठक को झकझोरने, प्रेरित करने और सक्रिय बनाने का साधन बन जाती है। इस निबंध की शैली में ओज, व्यंग्य, उपदेश और संवाद सभी का प्रभावशाली समन्वय दिखाई देता है। सबसे पहले, इस निबंध की प्रमुख शैली भाषणात्मक शैली है। लेखक सीधे जनता से संबोधित होकर बोलता हुआ प्रतीत होता है। ऐसा लगता है मानो वह किसी सभा में खड़ा होकर देशवासियों को चेतावनी दे रहा हो, समझा रहा हो और ललकार रहा हो। इस भाषणात्मकता के कारण निबंध में प्रवाह, गति और ऊर्जा बनी रहती है तथा पाठक निष्क्रिय श्रोता न रहकर विचारशील सहभागी बन जाता है। निबंध की शैली में व्यंग्यात्मकता का विशेष महत्व है। लेखक समाज की आलस्यपूर्ण प्रवृत्तियों, आत्महीनता, परावलंबन और दिखावटी धर्म पर तीखे व्यंग्य करता है। 'कुएँ का मेंढ़क', 'बिना इंजन की रेलगाड़ी' और 'घुड़दौड़' जैसे रूपकों के माध्यम से वह कटु सत्य को प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करता है। यह व्यंग्य हास्य उत्पन्न करने के लिए नहीं, बल्कि पाठक को आत्मालोचना के लिए विवश करने के उद्देश्य से है। इस निबंध में उपदेशात्मक शैली भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। लेखक समाज को सुधारने वाला पथ-प्रदर्शक बनकर सामने आता है और स्पष्ट निर्देश देता है कि क्या छोड़ना चाहिए और क्या अपनाना चाहिए। किंतु यह उपदेश नीरस नहीं है, क्योंकि इसके साथ भावनात्मक आवेग और तर्क की दृढ़ता जुड़ी हुई है। शैली में उदाहरणात्मक और दृष्टांत शैली का भी सुंदर प्रयोग हुआ है। ऐतिहासिक प्रसंग, धार्मिक श्लोक, लोककथाएँ और दैनिक जीवन से लिए गए दृश्य लेखक के कथन को विश्वसनीय और प्रभावशाली बनाते हैं। इससे निबंध विचारप्रधान होते हुए भी बोझिल नहीं बनता। समग्र रूप में इस निबंध की शैली ओजस्वी, व्यंग्यप्रधान, प्रेरणात्मक और संवादात्मक है। यही शैली इसे साधारण निबंध से उठाकर राष्ट्रीय जागरण का घोषणापत्र बना देती है। शैली की इसी प्रभावशीलता के कारण यह निबंध आज भी पाठकों को उतनी ही तीव्रता से संबोधित करता है, जितनी अपने समय में करता था।

2.9 प्रतिपाद्य

इस निबंध का मूल प्रतिपाद्य भारतवर्ष की सर्वांगीण उन्नति के लिए आत्मजागरण और कर्मशीलता का आह्वान है। भारतेंदु हरिश्चंद्र इस निबंध के माध्यम से यह प्रतिपादित करते हैं कि भारत की दुर्दशा का कारण केवल विदेशी शासन नहीं, बल्कि उससे कहीं अधिक हमारी अपनी सामाजिक, मानसिक और नैतिक कमजोरियाँ हैं। जब तक भारतीय समाज आत्मालोचना करके अपने दोषों को नहीं पहचानता और उन्हें दूर करने के लिए सक्रिय नहीं होता, तब तक किसी भी प्रकार की वास्तविक उन्नति संभव नहीं है। निबंध का मूल विचार यह है कि भारतीय समाज में शक्ति, प्रतिभा और संभावनाओं की कमी नहीं है, किंतु आलस्य, अकर्मण्यता, अंधविश्वास, रूढ़िवादी धर्म-धारणाएँ, जाति-भेद और परावलंबन ने इस शक्ति को निष्क्रिय बना दिया है। लेखक यह स्पष्ट करता है कि उन्नति का समय सीमित होता है; जो समाज समय रहते जागरूक नहीं होता, वह पीछे रह जाता है और फिर

कितने ही प्रयास कर ले, आगे नहीं बढ़ पाता। इसलिए वह देशवासियों को झकझोरते हुए तत्काल कर्म में प्रवृत्त होने का संदेश देता है। इस निबंध का मूल प्रतिपाद्य यह भी है कि धर्म, शिक्षा, समाज और अर्थ सभी क्षेत्रों में सुधार आवश्यक है। धर्म का उद्देश्य पाखंड और जड़ परंपराएँ नहीं, बल्कि नैतिकता और समाज-कल्याण होना चाहिए। शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो मनुष्य को आत्मनिर्भर, विवेकशील और कर्मठ बनाए। समाज में स्त्री-पुरुष, धनी-निर्धन, ऊँच-नीच और हिंदू-मुस्लिम के भेद मिटाकर एकता स्थापित करनी चाहिए। आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी उद्योग और श्रम को सम्मान देकर आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ना चाहिए। अंततः इस निबंध का मूल प्रतिपाद्य यह है कि देश की उन्नति बाहरी सहायता से नहीं, बल्कि आंतरिक परिवर्तन, त्याग, परिश्रम और सामूहिक चेतना से संभव है। लेखक प्रत्येक नागरिक से अपेक्षा करता है कि वह व्यक्तिगत सुख और सुविधा से ऊपर उठकर राष्ट्रहित को प्राथमिकता दे। इस प्रकार यह निबंध भारतवासियों को निष्क्रियता छोड़कर जागरूक, सक्रिय और उत्तरदायी नागरिक बनने का सशक्त वैचारिक घोषणापत्र है।

अभ्यास प्रश्न

1. भारतेंदु हरिश्चंद्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन कीजिए।
   .....
   .....
   .....
2. भारतेंदु हरिश्चंद्र के निबंध भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? का मूल्यांकन अपने शब्दों में कीजिए।
   .....
   .....
   .....
3. भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? निबंध का सार संक्षेप लिखिए।
   .....
   .....
   .....
4. भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? निबंध के विचार पक्ष का मूल्यांकन कीजिए।
   .....
   .....
   .....

2.10 सारांश

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप भारतेंदु हरिश्चंद्र के निबंध भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? से परिचित हो चुके हैं। आप इस अध्याय को पढ़ कर भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? निबंध के कला और विचार पक्ष को समझ गए हैं। अब आप इस इस निबंध के किसी भी हिस्से का सोदाहरण व्याख्या, ससंदर्भ व्याख्या कर सकते हैं। इस अध्याय का अध्ययन करते हुए आपने जाना कि भारत वर्ष की दुर्दशा का कारण भारत वासियों का आलस्य और साम्प्रदायिक होना है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भारत वासियों को अपने इस बलिया व्याख्यान में संबोधित करते हुए उन्हें जगाने का यत्न किया है। यह निबंध हिंदी गद्य के उदय के सबसे आरंभिक समय का है। इस निबंध का अध्ययन करते हुए आप भारतीय नवजागरण और राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की पृष्ठभूमि को समझ सकते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र को हिंदी नवजागरण का अग्रदूत माना जाता है। उन्होंने अपने इस निबंध में भारतीय समस्या पर एक ओर व्यंग्यात्मक दृष्टि रखी है तो दूसरी ओर उन समस्याओं को समझते हुए मानव-मूल्यों को जगाने का काम कर रहे हैं। यह निबंध अपने स्वरूप में हिंदी नवजागरण का दस्तावेज बन जाता है।

2.11 शब्दावली

अग्रदूत : मुखिया, सबसे पहले का व्यक्ति
उदय : जन्म
दुर्दशा : बहुत ख़राब स्थिति
नवजागरण : फिर से जागना
आत्मालोचना : अपनी आलोचना; अपने बारे में मूल्यांकन करना
समाज नीति : समाज द्वारा संचालित नीति
धर्म नीति : धर्म द्वारा संचालित नीति

2.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखें 2.3
2. देखें 2.4
3. देखें 2.5
4. देखें 2.7.1

2.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. निबंध निलय, डॉ. सतेंद्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. हिंदी निबंध और निबंधकार, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

2.14 सहायक ग्रन्थ सूची

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. निबंध निलय, डॉ. सतेंद्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

3. हिंदी निबंध और निबंधकार, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

2.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. भारतेंदु हरिश्चंद्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन करते हुए उनके निबंध भारत वर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. भारतवर्ष की उन्नति कैसे हो सकती है? निबंध के आधार पर भारतेन्दु के निबंधकला का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 3 कवि और कविता (महावीर प्रसाद द्विवेदी) : पाठ एवं मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा
3.1 उद्देश्य
3.2 प्रस्तावना
3.3 महावीर प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
3.4 निबंध का वाचन : कवि और कविता
3.5 निबंध का सार
3.6 संदर्भ सहित व्याख्या
3.7 अंतर्वस्तु
    3.7.1 विचार पक्ष
    3.7.2 भाव पक्ष
3.8 संरचना शिल्प
    3.8.1 भाषा
    3.8.2 शैली
3.9 प्रतिपाद्य
3.10 सारांश
3.11 शब्दावली
3.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.13 संदर्भ ग्रंथ सूची
3.14 सहायक पाठ्य सामग्री
3.15 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंध 'कवि और कविता' से परिचित हो सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- 'कवि और कविता' से परिचित हो सकेंगे और उसके महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या कर सकेंगे।
- निबंध में अभिव्यक्त भावों और विचारों का विश्लेषण और विवेचन कर सकेंगे।
- निबंध की विशिष्टताओं को समझने के साथ 'कवि और कविता' की भाषा और शैलीगत विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- 'कवि और कविता' के मूल प्रतिपाद्य को समझ सकेंगे।

3.2 प्रस्तावना

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी साहित्य के युग प्रवर्तक आचार्य हैं। इन्होंने हिंदी गद्य का परिष्कार किया। सरस्वती पत्रिका के प्रकाशन ने हिंदी का परिमार्जित और सौष्ठव रूप दिया जिसमें आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण योगदान है। रीतिवाद के समानांतर प्रगतिशील सामाजिक मूल्यों, साहित्यिक चेतना और आधुनिक दृष्टि की मौलिक उद्भावना की और आचार्य द्विवेदी जी ने हिंदी के लेखक समूह को प्रगतिशील बनाया। उन्होंने सरस्वती का सम्पादन करते हुए पूरे युग का प्रतिनिधित्व किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इनके निबंध लेखन के संबंध में लिखा है कि "द्विवेदी जी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आएँगे। पर विचार की वह गूढ़-गुंफित परंपरा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा दबाकर कसे गए हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार-खण्ड को लिए हो। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिए लिख रहा है। एक-एक सीधी बात कुछ हेर-फेर कहीं-कहीं केवल शब्दों के ही के साथ पाँच-छः तरह के पाँच-छः वाक्यों में कही हुई मिलती है। उनकी यह प्रवृत्ति उनकी गद्य-शैली निर्धारित करती है। उनके लेखों में छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग अधिक मिलता है। नपे-तुले वाक्य को कई बार शब्दों के कुछ हेर-फेर के साथ कहने का ढंग वही है जो वाद या संवाद में बहुत शांत होकर समझाने-बुझाने के काम में लाया जाता है। उनकी यह व्यास शैली विपक्षी को कायल करने के प्रयत्न में बड़े काम की है।" वही रामविलास शर्मा महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण में लिखते हैं कि "द्विवेदी जी की युगान्तकारी भूमिका यह है कि उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से अनेक समस्याओं का विवेचन गहराई से किया। छायावादी साहित्य द्विवेदी-युग के प्रति विद्रोह का साहित्य माना जाता है। थोड़ी देर के लिए कलात्मक साहित्य छोड़कर छायावादी कवियों की विचारधारा पर ध्यान दीजिए। 'निराला' ने अंग्रेजी राज, जमींदारी प्रथा, किसान आन्दोलन, वर्णाश्रम धर्म, नारी की पराधीनता, भाषा की समस्या आदि-आदि पर जो कुछ लिखा है, उस पर ध्यान दीजिए तो पता चलेगा कि हिन्दी नवजागरण के सम्बन्ध में निराला का यह लेखन महावीर प्रसाद द्विवेदी के ही कार्य की अगली कड़ी है।"

3.3 महावीर प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

महावीर प्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् 1864 ई. में उत्तर प्रदेश के रायबरेली ज़िले के दौलतपुर गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम रामसहाय द्विवेदी था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा गाँव में ही हुई। फिर रायबरेली के ज़िला स्कूल में यहाँ इन्होंने संस्कृत के अभाव में फ़ारसी पढ़ना पड़ा। फिर इन्होंने बम्बई में संस्कृत, गुजराती, मराठी और अंग्रेज़ी का अध्ययन किया। जीविका के लिए ये रेलवे में नौकर हो गए। बाद में नौकरी से इस्तीफ़ा दे दिया और साहित्य साधना में पूरी तरह रम गए। इस दौरान संस्कृत के कई ग्रन्थों के अनुवाद और आलोचना की। सन 1903 ई. में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' का सम्पादन स्वीकार किया। यह उनके जीवन और हिन्दी साहित्य परिदृश्य के लिए गौरव बना। यह वह

कारण है जिससे हिंदी ज्ञान-विज्ञान की भाषा बनी। द्विवेदी के जे जीवन में सरस्वती का और सरस्वती के जीवन में द्विवेदी जी का बराबर महत्व है। 1920 ई. तक इन्होंने सरस्वती का सम्पादन देखा और बीमारी के कारण इन्होंने 1920 में सरस्वती का सम्पादन छोड़ दिया।

प्रकाशित कृतियाँ :

पद्य (अनुवाद) : विनय विनोद भृतहरि के 'वैराग्य शतक' का दोहों में अनुवाद; विहार वाटिका गीत गोविन्द का भावानुवाद; स्नेह माला भृतहरि के 'श्रृंगार शतक' का दोहों में अनुवाद; श्री महिम्न स्तोत्र संस्कृत के 'महिम्न स्तोत्र का संस्कृत वृत्तों में अनुवाद; गंगा लहरी पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगा लहरी' का सवैयों में अनुवाद; ऋतुतरंगिणी कालिदास के 'ऋतुसंहार' का छायानुवाद; सोहागरात अप्रकाशित-बाइरन के 'ब्राइडल नाइट' का छायानुवाद; कुमारसम्भवसार कालिदास के 'कुमार सम्भवम' के प्रथम पाँच सर्गों का सारांश।

गद्य (अनुवाद)

भामिनी-विलास पण्डितराज जगन्नाथ के 'भामिनी विलास' का अनुवाद; अमृत लहरी पण्डितराज जगन्नाथ के 'यमुना स्तोत्र' का भावानुवाद; बेकन-विचार-रत्नावली बेकन के प्रसिद्ध निबन्धों का अनुवाद; शिक्षा हर्बर्ट स्पेंसर के 'एज्युकेशन' का अनुवाद; 'स्वाधीनता' जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद; जल चिकित्सा जर्मन लेखक लुई कोने की जर्मन पुस्तक के अंग्रेज़ी अनुवाद का अनुवाद; हिन्दी महाभारत 'महाभारत' की कथा का हिन्दी रूपान्तर; रघुवंश 'रघुवंश' महाकाव्य का भाषानुवाद; वेणी-संहार संस्कृत कवि भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' नाटक का अनुवाद; कुमार सम्भव कालिदास के 'कुमार सम्भव' का अनुवाद; मेघदूत कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद; किरातार्जुनीय भारवि के 'किरातार्जुनीयम्' का अनुवाद; प्राचीन पण्डित और कवि अन्य भाषाओं के लेखों के आधार पर प्राचीन कवियों और पण्डितों का परिचय; आख्यायिका सप्तक अन्य भाषाओं की चुनी हुई सात आख्यायिकाओं का छायानुवाद

मौलिक पद्य रचनाएँ

देवी स्तुति-शतक; कान्यकुब्जावलीव्रतम

गद्य रचनाएँ

तरुणोपदेश; हिन्दी शिक्षावली तृतीय भाग की समालोचना; वैज्ञानिक कोश; नाट्यशास्त्र; विक्रमांकदेवचरितचर्चा; हिन्दी भाषा की उत्पत्ति; सम्पत्तिशास्त्र; कौटिल्य कुठार; कालिदास की निरकुंशता; वनिता-विलाप; औद्यागिकी; रसज्ञ रंजन; कालिदास और उनकी कविता; सुकवि संकीर्तन; अतीत स्मृति; साहित्य सन्दर्भ; अदभुत आलाप; महिलामोद; आध्यात्मिकी; वैचित्र्य चित्रण; साहित्यालाप; विज्ञ विनोद;.कोविद कीर्तन; विदेशी विद्वान्; प्राचीन चिह्न; चरित चर्या; पुरावृत्त; दृश्य दर्शन; आलोचनांजलि; चरित्र चित्रण; पुरातत्त्व प्रसंग; साहित्य सीकर; विज्ञान वार्ता; वाग्विलास; संकलन; विचार-विमर्श

संपादन

सरस्वती (1903-1920)
आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का निधन 21 दिसम्बर सन् 1938 ई. को रायबरेली में लंबी बीमारी के बाद हो गया।

3.4 निबंध का वाचन : कवि और कविता : महावीर प्रसाद द्विवेदी

"यह बात सिद्ध समझी गई है कि कविता अभ्यास से नहीं आती। जिसमें कविता करने का स्वाभाविक माद्दा होता है वही कविता कर सकता है। देखा गया है कि जिस विषय पर बड़े-बड़े विद्वान अच्छी कविता नहीं कर सकते उसी पर अपढ़ और कम उम्र के लड़के कभी-कभी अच्छी कविता लिख देते हैं। इससे स्पष्ट है कि किसी-किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी, वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है। कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर सुननेवाले पर कुछ असर न हो। कविता से दुनिया में आज तक बहुत बड़े-बड़े काम हुए हैं। अच्छी कविता सुनकर कवितागत रस के अनुसार दुःख, शोक, क्रोध, करुणा, जोश आदि भाव पैदा हुए बिना नहीं रहते, और जैसा भाव पैदा होता है कार्य के रूप में फल भी वैसा ही होता है। हम लोगों में पुराने जमाने में भाट चारण आदि अपनी कविता ही की बदौलत वीरों में वीरता का संचार कर देते थे। पुराणादि में कारुणिक प्रसंगों का वर्णन सुनने और उत्तर रामचरित आदि दृश्य काव्यों का अभिनय देखने से जो अश्रुपात होने लगता है वह क्या है? वह अच्छी कविता ही का प्रभाव है।
रोम, इंगलैंड, अरब, फारस आदि देशों में इस बात के सैंकड़ों उदाहरण मौजूद हैं कि कवियों ने असंभव बातें समझ कर दिखाई हैं। जहाँ पस्तहिम्मती का दौर था, वहां गदर मचा दिया है। अतएव कविता एक असाधारण चीज़ है। परन्तु बिरले ही को सत्कवि होने का सौभाग्य प्राप्त होता है। जब तक ज्ञानबुद्धि नहीं होती, जब तक सभ्यता का ज़माना नहीं आता—तभी तक कविता की विशेष उन्नति होती है, क्योंकि 'सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है'।[1] सभ्यता और विद्या की वृद्धि होने से कविता का असर कम हो जाता है। कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश ज़रूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। तुलसीदास की रामायण खास-खास स्थलों का स्त्रियों पर जितना प्रभाव पड़ता है, उतना पढ़े-लिखे आदमियों पर नहीं। पुराने काव्यों को पढ़ने से लोगों का चित्त जितना पहले आकृष्ट होता था उतना अब नहीं होता। हज़ारों वर्ष से कविता का क्रम जारी है। जिन प्राकृतिक बातों का वर्णन अब तक बहुत कुछ हो चुका है, प्रायः उन्हीं बातों का वर्णन जो नए कवि होते हैं ये भी उलटफेर से करते हैं, इसी से अब कविता कम हृदयग्राहिणी होती है।
संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसे ही वर्णन करनी चाहिए। उसके लिए, किसी तरह की रोक या पाबंदी का होना अच्छा नहीं। दबाव से कवि का जोश दब जाता है। उसके मन में जो भाव,

[1] देखो लार्ड मैकाले की प्रसिद्ध उक्ति As Civilization advanses Poetry declines

आप ही आप पैदा होते हैं, उन्हें जब वह निडर होकर अपनी कविता में प्रगट करता है तभी उसका पूरा-पूरा असर लोगों पर पड़ता है। बनावट से, कविता बिगड़ जाती है। किसी राजा या व्यक्ति विशेष के गुणदोषों को देखकर कवि के मन में जो भाव उद्भूत हों, उन्हें यदि वे रोकटोक प्रकट कर दे तो उसको कविता हृदय-द्रावक हुए बिना न रहे। परंतु परतंत्रता या पुरस्कारप्राप्ति या और किसी तरह की रुकावट पैदा हो जाने से यदि उसे अपने मन की बात कहने का साहस नहीं होता तो कविता का रस ज़रूर कम हो जाता है। इस दशा में अच्छे कवियों की भी कविता नीरस, अतएव प्रभावहीन हो जाती है। सामाजिक और राजनैतिक विषयों में कटु होने से सच कहना भी जहाँ मना है, वहाँ इन विषयों पर कविता करने वाले कवियों की युक्तियों का प्रभाव क्षीण हुए बिना नहीं रहता। कवि के लिए कोई रोक न होनी चाहिए। अथवा जिस विषय में रोक हो उस विषय पर कविता ही न लिखनी चाहिए। नदी, तालाब, वन, पर्वत, फूल, पत्ती, गरमी, सरदी आदि ही के वर्णन से उसे संतोष करना उचित है।

ख़ुशामद के जमाने में कविता की बुरी हालत होती है! जो कवि राजाओं, नवाबों या बादशाहों के आश्रय में रहते हैं, अथवा उनको ख़ुश करने के इरादे से कविता करते हैं, उनको ख़ुशामद करनी पड़ती है; वे अपने आश्रयदाताओं की इतनी प्रशंसा करते हैं, इतनी स्तुति करते हैं, कि उनकी उक्तियाँ असलियत से दूर जा पड़ती हैं। इससे कविता को बहुत हानि पहुँचती है। विशेष करके शिक्षित और सभ्य देशों में कवि का काम प्रभावोत्पादक रीति से यथार्थ घटनाओं का वर्णन करना है, आकाशकुसुमों के गुलदस्ते तैयार करना नहीं। अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने अतिशयोक्ति एक अलंकार ज़रूर माना है; परंतु अभावोक्तियाँ भी क्या कोई अलंकार है? किसी कवि की बेसिरपैर की बातें सुनकर किस समझदार आदमी को आनंदप्राप्ति हो सकती है? जिस समाज के लोग अपनी झूठी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होते हैं वह समाज प्रशंसनीय नहीं समझा जाता। कारणवश अमीरों की प्रशंसा करने अथवा किसी भी विषय की कविता में कवि-समुदाय के आजन्म लगे रहने से, कविता की सीमा कट-छँटकर बहुत थोड़ी रह जाती है। इसी तरह की कविता उर्दू में बहुत अधिक है। यदि यह कहें कि आशिकाना (शृंगारिक) कविता के सिवा और तरह की कविता उर्दू में है ही नहीं, तो बहुत बड़ी अत्युक्ति न होगी। किसी दीवान को उठाइए, आशिक-माशूकों के रंगीन रहस्यों से आप उसे प्रारंभ से अंत तक रँगा हुआ पाइएगा। इश्क़ भी यदि सच्चा हो तो कविता में कुछ असलियत आ सकती है। पर क्या कोई कह सकता है कि आशिकाना शेर कहने वाली का सारा रोना, कराहना, ठंडी साँस लेना, जीते जी अपनी कब्रों पर चिराग जलाना सब सच है? सब न सही, उनके प्रलापों का क्या थोड़ा सा भी अंश सच है? फिर इस तरह की कविता सैकड़ों वर्ष से होती आ रही है। अनेक कवि हो चुके, जिन्होंने इस विषय पर न मालूम क्या-क्या लिख डाला है। इस दशा में नए कवि अपनी कविता में नयापन कैसे ला सकते हैं? वही तुक, वही छंद, वही शब्द, वही उपमा, वही रूपक! इस पर भी लोग पुरानी लकीर को बस बार-बार पीटते जाते हैं। कवित्त, सवैए, घनाक्षरी, दोहे, सोरठे लिखने से बाज नहीं आते। नखसिख, नायिकाभेद, अलंकारशास्त्र पर पुस्तकों पर पुस्तकें लिखते चले जाते हैं! अपनी व्यर्थ, बनावटी बातों से देवी-

देवताओं तक को बदनाम करने से नहीं संकुचते। फल इसका यह हुआ है कि असलियत काफ़ूर हो गई है।

कविता के बिगड़ने और उसकी सीमा परिमित हो जाने से साहित्य पर भारी आघात होता है। वह बरबाद हो जाता है। भाषा में दोष आ जाता है। जब कविता की प्रणाली बिगड़ जाती है तब उसका असर सारे ग्रंथकारों पर पड़ता है। यही क्यों, सर्वसाधारण की बोलचाल तक में कविता के दोष आ जाते हैं। जिन शब्दों, जिन भावों, जिन उक्तियों का प्रयोग कवि करते हैं उन्हीं का प्रयोग और लोग भी करने लगते हैं। भाषा और बोलचाल के संबंध में कवि ही प्रमाण माने जाते हैं। कवियों ही के प्रयुक्त शब्दों और मुहावरों को कोशकार अपने कोशों में रखते हैं। मतलब यह कि भाषा और बोलचाल का बनाना या बिगाड़ना प्रायः कवियों ही के हाथ में रहता है। जिस भाषा के कवि अपनी कविता में बुरे शब्द और बुरे भाव भरते रहते हैं, उस भाषा की उन्नति तो होती नहीं, उल्टा अवनति होती जाती है। कविता-प्रणाली के बिगड़ जाने पर यदि कोई नए तरह की स्वाभाविक कविता करने लगता है तो लोग उसकी निंदा करते हैं। कुछ नासमझ और नादान आदमी कहते हैं, यह बड़ी भद्दी कविता है। कुछ कहते हैं, यह कविता ही नहीं। कुछ कहते हैं कि यह कविता तो 'छंदप्रभाकर' में दिए गए लक्षणों से च्युत है, अतएव यह निर्दोष नहीं। बात यह है कि वे जिसे अब तक कविता कहते आए हैं वही उनकी समझ में कविता है और सब कोरी काँव-काँव! इसी तरह की नुक्ता-चीनी से तंग आकर अँग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ ने अपनी कविता को संबोधन करके उसकी सांत्वना की है। वह कहता है- कविते! यह बेकदरी का जमाना है। लोगों के चित्त का तेरी तरफ़ खिंचना तो दूर रहा, उल्टा सब कहीं तेरी निंदा होती है। तेरी बदौलत सभा समाजों और जलसों में मुझे लज्जित होना पड़ता है। पर जब मैं अकेला होता हूँ तब तुझ पर घमंड करता हूँ। याद रख, तेरी उत्पत्ति स्वाभाविक है। जो लोग अपने प्राकृतिक बल पर भरोसा रखते हैं वे निर्धन होकर भी आनंद से रह सकते हैं। पर अप्राकृतिक बल पर किया गया गर्व कुछ दिन बाद ज़रूर चूर्ण हो जाता है। गोल्डस्मिथ ने इस विषय पर बहुत कुछ कहा है। इससे प्रकट है कि नई कविता-प्रणाली पर भृकुटी टेढ़ी करने वाले कवि प्रकांडों के कहने की कुछ भी परवा न करके अपने स्वीकृत पथ से ज़रा भी इधर-उधर होना उचित नहीं।

आजकल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो 'पोयटरी' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार तुली हुई सतरों का पद्य है। जिस पद्य के पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता वह कविता नहीं। वह नपी-तुली शब्द-स्थापना मात्र है। गद्य और पद्य दोनों में कविता हो सकती है। तुकबंदी और अनुप्रास कविता के लिए अपरिहार्य नहीं। संस्कृत का प्रायः सारा पद्य-समूह बिना तुकबंदी का है। और संस्कृत से बढ़ कर कविता शायद ही किसी भाषा में हो। अरब में भी सैकड़ों अच्छे-अच्छे कवि हो गए हैं। वहाँ भी शुरू-शुरू में तुकबंदी का बिलकुल ख़्याल नहीं था। अँग्रेज़ी में भी अनुप्रास हीन बेतुकी कविता होती है। हाँ, एक बात ज़रूर है कि वज़न

और क़ाफ़िए से कविता अधिक चित्ताकर्षक हो जाती है।[2] पर कविता के लिए ये बातें ऐसी हैं जैसे कि शरीर के लिए वस्त्राभरण। यदि कविता का प्रधान धर्म मनोरंजकता और प्रभावोत्पादकता उसमें न हो तो इनका होना निष्फल समझना चाहिए। पद्य के लिए क़ाफ़िए वग़ैरह की ज़रूरत है, कविता के लिए नहीं। कविता के लिए तो ये बातें एक प्रकार से उल्टा हानिकारक हैं। तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक, अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार-स्वातंत्र्य में बड़ी बाधा आती है। पद्य के नियम कवि के लिए एक प्रकार की बेड़ियाँ हैं। उनसे जकड़ जाने से कवियों को अपने स्वाभाविक उद्यान में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कवि का काम है कि वह अपने मनोभावों को स्वाधीनतापूर्वक प्रकट करे। पर क़ाफ़िया और वज़न उसकी स्वाधीनता में विघ्न डालते हैं। वे उसे अपने भावों को स्वतंत्रता से नहीं प्रकट करने देते। क़ाफ़िए और वज़न को पहले ढूँढ़कर कवि को अपने मनोभाव तदनुकूल गढ़ने पड़ते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि प्रधान बात अप्रधानता को प्राप्त हो जाती है और एक बहुत ही गौण बात प्रधानता के आसन पर जा बैठती है। फल यह होता है कि कवि की कविता का असर कम हो जाता है।

जो बात एक असाधारण और निराले ढंग से शब्दों के द्वारा इस तरह प्रकट की जाए कि सुनने वालों पर उसका कुछ न कुछ असर ज़रूर पड़े, उसका नाम कविता है। आजकल हिंदी के पद्य रचयिताओं में कुछ ऐसे भी हैं जो अपने पद्यों को कालिदास, होमर और बाइरन की कविता से भी बढ़कर समझते हैं। कोई संपादक के ख़िलाफ़ नाटक, प्रहसन और व्यंग्यपूर्ण लेख प्रकाशित करके अपने जी की जलन शांत करते हैं।

कवि का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। उसके लिए इमैजिनेशन (imagination) की बड़ी ज़रूरत है। जिसमें जितनी भी अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नए-नए भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं होती वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसलिए संस्कृत वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती। इस शक्ति को कवि माँ के पेट से लेकर पैदा होता है। उसी की बदौलत वह भूत और भविष्यत् को हस्तामलकवत् देखता है। वर्तमान की तो कोई बात ही नहीं। इसी की कृपा से वह सांसारिक बातों को एक अजीब निराले ढंग से बयान ध्यान करता है, जिसे सुनकर सुनने वालों के हृदयोदधि में नाना प्रकार के सुख, दुःख, आश्चर्य आदि विकारों की लहरें उठने लगती हैं। कवि कभी-कभी ऐसी अद्भुत बातें कह देते हैं कि जो कवि नहीं हैं उनकी पहुँच वहाँ तक कभी हो ही नहीं सकती।

कवि का काम है कि वह प्रकृति विकास को ख़ूब ध्यान से देखे। प्रकृति की लीला का कोई ओर छोर नहीं। यह अनंत है। प्रकृति अद्भुत, अद्भुत खेल खेला करती है। एक छोटे से फूल में वह अजीब-अजीब कौशल दिखलाती है। वे साधारण आदमियों के ध्यान में नहीं आते। वे उनको समझ नहीं सकते, पर

[2] Oscar Wilde तुकबंदी को A Spiritual element of thought and passion कहता है

कवि अपनी सूक्ष्म दृष्टि से प्रकृति के कौशल अच्छी तरह से देख लेता है; उनका वर्णन भी वह करता है, उनसे नाना प्रकार की शिक्षा भी ग्रहण करता है। और अपनी कविता के द्वारा संसार को लाभ पहुँचाता है। जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है वह उतना ही बड़ा कवि भी होता है। प्रकृति-पर्यालोचना के सिवा कवि को मानव-स्वभाव की अलोचना का भी अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य अपने जीवन में अनेक प्रकार के सुख-दुख आदि का अनुभव करता है। उसकी दशा कभी एक सी नहीं रहती। अनेक प्रकार के विकार तरंग उसके मन में उठा ही करते हैं। इन विकारों की जाँच, ज्ञान और अनुभव करना सबका काम नहीं। केवल कवि ही इनके अनुभव कराने में समर्थ होता है। जिसे कभी पुत्र-शोक नहीं हुआ उसे उस शोक का यथार्थ ज्ञान होना संभव नहीं। पर यदि वह कवि है तो वह पुत्र-शोकाकुल पिता या माता की आत्मा में प्रवेश पा करके उसका अनुभव कर लेता है। उस अनुभव का वह इस तरह वर्णन करता है कि सुनने वाला तन्मनस्क होकर उस दुःख से अभिभूत हो जाता है। उसे ऐसा मालूम होने लगता है कि स्वयं उसी पर वह दुःख पड़ रहा है। जिस कवि को मनोविकारों और प्राकृतिक बातों का यथेष्ट ज्ञान नहीं होता वह कदापि अच्छा कवि नहीं हो सकता।

कविता को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए उचित शब्द-स्थापना की भी बड़ी ज़रूरत है। किसी मनोविकार या दृश्य के वर्णन से ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसे शब्द रखने चाहिए जो सुनने वालों की आँखों के सामने वर्ण्य-विषय का एक चित्र सा खींच देता है। मनोभाव चाहे कैसा ही अच्छा क्यों न हो यदि वह तदनुकूल शब्दो में न प्रकट किया गया, तो उसका असर यदि ज्यादा नहीं रहता तो कम ज़रूर हो जाता है। इसीलिए कवि को चुन-चुनकर ऐसे शब्द रखना चाहिए और इस क्रम से रखना चाहिए, जिससे उसके मन का भाव पूरे तौर पर व्यक्त हो जाए। उसमें कसर न पड़े। मनोभाव शब्दों ही द्वारा व्यक्त होता है। अतएव संयुक्तिक शब्द-स्थापना के बिना कवि की कविता तादृश हृदयहारिणी नहीं हो सकती। जो कवि अच्छी शब्द-स्थापना करना नहीं जानता, अथवा यों कहिए कि जिसके पास काफ़ी शब्दसमूह नहीं है, उसे कविता करने का परिश्रम ही न करना चाहिए। जो सुकवि हैं, उन्हें एक-एक शब्द की योग्यता ज्ञात रहती है। वे ख़ूब जानते हैं कि किस शब्द में क्या प्रभाव है। अतएव जिस शब्द में उनका भाव प्रकट करने की एक बाल भर भी कमी होती है उसका वे कभी प्रयोग नहीं करते।

अँग्रेज़ी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने कविता के तीन गुण वर्णन किए हैं। उनकी राय है कि कविता सादी हो, जोश से भरी हो और असलियत से गिरी हुई न हो।[3] सादगी से यह मतलब नहीं कि सिर्फ़ शब्द-समूह ही सादा हो, किंतु विचार-परंपरा भी सादी हो। भाव और विचार ऐसे सूक्ष्म और छिपे हुए न हों कि उनका मतलब समझ में न आवे, या देर से समझ में आवे। यदि कविता में कोई ध्वनि हो तो इतनी दूर की न हो कि उसे समझने में गहरे विचार की ज़रूरत हो। कविता पढ़ने या सुननेवाले को ऐसी साफ़ सुथरी सड़क मिलनी चाहिए जिस पर कंकर, पत्थर, टीले, खंदक, काँटे और झाड़ियों का नाम न हो।

[3] Poetry should be simple sensuous and impassioned

वह ख़ूब साफ़ और हमवार हो जिससे उस पर चलनेवाला आराम से चला जाए। जिस तरह सड़क ज़रा भी ऊँची-नीची होने से पैरगाड़ी के सवार को दचके लगते हैं उसी तरह कविता की सड़क यदि थोड़ी सी नाहमवार हुई तो पढ़नेवाले के हृदय पर धक्का लगे बिना नहीं रहता। कवितारूपी सड़क के इधर-उधर स्वच्छ पानी के नदी नाले बहते हों; दोनों तरफ़ फल-फूलों से लदे हुए पेड़ हों, जगह-जगह पर विश्राम करने योग्य स्थान बने हों; प्राकृति-दृश्यों की नई-नई झाँकियाँ आँखों को लुभाती हों। दुनिया में आज तक जितने अच्छे-अच्छे कवि हुए हैं उनकी कविता ऐसी ही देखी गई है। अटपटे भाव और अटपटे शब्द-प्रयोग करनेवाले कवियों की कभी कद्र नहीं हुई। यदि कभी किसी की कुछ हुई भी है तो थोड़े ही दिन तक। ऐसे कवि विस्मृति के अंधकार में ऐसे छिप गए हैं कि इस समय उनका कोई नाम तक नहीं जानता। एक मात्र सूखा शब्द-झंकार ही जिन कवियों की करामात है उन्हें चाहिए कि वे एक़दम ही बोलना बंद कर दे।[4] भाव चाहे कैसा ही ऊँचा क्यों न हो, पेचीदा न होना चाहिए। वह ऐसे शब्दों के द्वारा प्रकट किया जाना चाहिए जिनसे सब लोग परिचित हों। क्योंकि कविता की भाषा बोलचाल से जितनी ही अधिक दूर जा पड़ती है, उतनी ही उसकी सादगी कम हो जाती है। बोलचाल से मतलब उस भाषा से है जिसे ख़ास और आम सब बोलते हैं, विद्वान और अविद्वान दोनों जिसे काम में लाते हैं। इसी तरह कवि को मुहावरे का भी ख़्याल रखना चाहिए। जो मुहावरा-सर्वसम्मत है उसी का प्रयोग करना चाहिए। हिंदी और उर्दू में कुछ शब्द अन्यः भाषाओं के भी आ गए हैं। वे यदि बोलचाल के हैं तो उनका प्रयोग सदोष नहीं माना जा सकता। उन्हें त्याज्य नहीं समझना चाहिए। कोई-कोई ऐसे शब्दों को मूल रूप में लिखना ही सही समझते हैं। पर यह उनकी भूल है।

असलियत से यह मतलब नहीं कि कविता एक प्रकार का इतिहास समझा जाए और हर बात में सचाई का ख़्याल रखा जाए। यह नहीं कि सचाई की कसौटी पर कसने पर यदि कुछ भी कसर मालूम हो तो कविता का कवितापन जाता रहे। असलियत से सिर्फ़ इतना ही मतलब है कि कविता बेबुनियाद न हो। उसमें जो उक्ति हो वह मानवी मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों के आधार पर कही गई हो। स्वाभाविकता से उसका लगाव न छूटा हो। कवि यदि अपनी या और किसी की तारीफ़ करने लगे और यदि वह उसे सचमुच ही सच समझे, अर्थात् उसकी भावना वैसी ही हो, तो वह भी असलियत से ख़ाली नहीं, फिर चाहे और लोग उसे उसका उल्टा ही क्यों न समझते हों।

परंतु इन बातों में भी स्वाभाविकता से दूर न जाना चाहिए। क्योंकि स्वाभाविक अर्थात् नेचुरल (Natural) उक्तियाँ ही सुननेवाले के हृदय पर असर कर सकती हैं अस्वाभाविक नहीं। असलियत को लिए हुए कवि स्वतंत्रतापूर्वक जो चाहे कह सकता है। असल बात को, एक नए साँचे में ढालकर कुछ दूर तक इधर-उधर की उड़ान भी भर सकता है, पर असलियत के लगाव को वह नहीं छोड़ता। असलियत को हाथ से जाने देना मानो कविता को प्राय: निर्जीव कर डालना है। शब्द और अर्थ दोनों

[4] इस प्रकार के कवियों के लिए अँग्रेज़ी के प्रसिद्ध लेखक कारलाइल Carlyle की शिक्षा ध्यान देने योग्य है Why sing your bits of thought if you can contrive to speak them By your thought not by your mode of delivering it you must live or die

ही के संबंध में उसे स्वाभाविकता का अनुधावन करना चाहिए। जिस बात के कहने में लोग स्वाभाविक रीति पर जैसे और जिस क्रम से शब्द प्रयोग करते हैं वैसे ही कवि को भी करना चाहिए। कविता में उसे कोई बात ऐसी न कहनी चाहिए जो दुनिया में न होती हो। जो बातें हमेशा हुआ करती है अथवा जिन बातों का होना संभव है, वही स्वाभाविक हैं। अर्थ की स्वाभाविकता से मतलब ऐसी ही बातों से है। जोश से यह मतलब है कि कवि जो कुछ कहे, इस तरह कहे मानो उसके प्रयुक्त शब्द आप ही आप उसके मुँह से निकल गए हैं। उनसे बनावट न ज़ाहिर हो। यह न मालूम हो कि कवि ने कोशिश करके ये बातें कहीं हैं, किंतु यह मालूम हो कि उसके हृदयगत भावों ने कविता के रूप में अपने को प्रकट कराने के लिए उसे विवश किया है। जो कवि है उसमें जोश स्वाभाविक होता है। वर्ण्यवस्तु को देखकर, किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से, वह उस पर कविता करने के लिए विवश सा हो जाता है। उसमें एक अलौकिक शक्ति पैदा हो जाती है। इसी शक्ति के बल से वह सजीव ही नहीं, निर्जीव चीज़ों तक का वर्णन ऐसे प्रभावोत्पादक ढंग से करता है कि यदि उन चीज़ों में बोलने की शक्ति होती तो ख़ुद वे भी उससे अच्छा वर्णन न कर सकतीं। जोश से यह भी मतलब नहीं कि कविता के शब्द ख़ूब ज़ोरदार और जोशीले हो। संभव है शब्द ज़ोरदार न हों पर जोश उसमें छिपा हुआ हो। धीमे शब्दों में भी जोश रह सकता है और पढ़ने या सुननेवाले के हृदय पर चोट कर सकता है। परंतु ऐसे शब्दों का कहना ऐसे वैसे कवि का काम नहीं। जो लोग मीठी छुरी में तलवार का काम लेना जानते हैं, वही धीमे शब्दों में जोश भर सकते हैं।

सादगी, असलियत और जोश, यदि ये तीनों गुण कविता में हों तो कहना ही क्या है। परंतु बहुधा अच्छी कविता में भी इनमें से एक-आध गुण की कमी पाई जाती है। कभी-कभी देखा जाता है कि कविता में केवल जोश रहता है, सादगी और असलियत नहीं। परंतु बिना असलियत के जोश का होना बहुत कठिन है। अतएव कवि को असलियत का सबसे अधिक ध्यान रखना चाहिए।

अच्छी कविता की सबसे बड़ी परीक्षा यह है कि उसे सुनते ही लोग बोल उठें कि सच कहा है। वही कवि सच्चे कवि हैं जिनकी कविता सुनकर लोगों के मुँह से सहसा यह उक्ति निकलती है। ऐसे कवि धन्य हैं, और जिस देश में ऐसे कवि पैदा होते हैं वह देश भी धन्य है। ऐसे ही कवियों की कविता चिरकाल तक जीवित रहती है।"

स्रोत :हिंदी निबंधमाला (भाग-2) सं. : श्यामसुंदर दास, नागरी प्रचारिणी सभा

3.5 निबंध का सार

कवि और कविता शीर्षक निबंध में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कविता की प्रकृति, कवि की प्रतिभा, कविता के सामाजिक प्रभाव और उसके पतन के कारणों तथा आदर्श कविता के गुणों का विस्तार से विवेचन किया है। यह निबंध द्विवेदी युग की यथार्थवादी, सुधारवादी और अनुशासनप्रिय काव्य-दृष्टि का प्रतिनिधि माना जाता है। निबंध का आरंभ इस प्रतिपादन से होता है कि कविता अभ्यास से नहीं आती, बल्कि वह जन्मजात प्रतिभा के कारण उत्पन्न होती है। कई बार बड़े से बड़े विद्वान भी अच्छी

कविता नहीं लिख पाते जबकि अल्पशिक्षित अथवा कम उम्र के लोग भी कभी कभी बेहतरीन कविता रचते हैं। इससे यह साबित होता है कि कविता रचने का सामर्थ्य ईश्वर प्रदत्त है। जो वस्तु ईश्वर प्रदत्त है वह निरर्थक नहीं हो सकता अतः सच्ची कविता समाज के लिए अवश्य लाभ देने वाली होती है। कविता के प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए द्विवेदी जी बतलाते हैं कि वास्तविक कविता सुनने या पढ़ने वाले के हृदय पर गहरा असर डालती है। कविता के रस के अनुसार मनुष्य में करुणा, शोक, वीरता, क्रोध और उत्साह इत्यादि जैसे भाव उत्पन्न होते हैं यही रस निष्पत्ति है और यही भाव आगे चलकर कर्म में तब्दील हो जाता है। पुराने समय में भाट और चारण अपनी कविताओं से वीरों में साहस और पराक्रम का संचार अपनी कविताओं से करते थे। पुराणों के करुण प्रसंगों या नाट्यकाव्यों के अभिनय से आँखों में आँसू आ जाना कविता की प्रभावोत्पादकता का प्रमाण है। रोम, इंग्लैंड, अरब और फारस जैसे देशों के उदाहरण देकर बताते हैं कि कवियों ने अपनी कविता के बल पर समाज में क्रांति और जागरण उत्पन्न किया है। सभ्यता और कविता में परस्पर विरोध है। जैसे-जैसे सभ्यता और शिक्षा बढ़ती है कविता का सीधा भावनात्मक प्रभाव घटने लगता है। वजह यह है कि कविता में कुछ न कुछ कल्पना और अतिशयोक्ति होती ही है जिसे असभ्य या अर्धसभ्य समाज सहजता से स्वीकार कर लेता है किंतु शिक्षित और सभ्य समाज उसे अधिक तर्क और विवेक की कसौटी पर परखता है। पुराने काव्य आज उतने हृदयग्राही नहीं रह गए हैं और नए कवियों के लिए नवीनता लाना कठिन हो गया है। कवि की स्वतंत्रता पर विशेष बल दिया गया है। कवि को संसार को जैसा वह देखता और अनुभव करता है वैसा ही उसका वर्णन करना चाहिए। किसी प्रकार के दबाव अथवा ग़ुलामी अथवा पुरस्कार की लालसा या राजाश्रय कवि के स्वाभाविकता का दामन कर देता है और कविता को बनावटी तथा नीरस बना डालता है। जब कवि निर्भय होकर अपने मनोभावों को अभिव्यक्त करता है तब उसकी कविता हृदय को द्रवित करती है। लेखक ख़ुशामदी और दरबारी कविता की तीव्र आलोचना करते हैं। राजाओं, नवाबों या अमीरों की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा कविता को असलियत से दूर ले जाती है। लेखक विशेष रूप से उर्दू की आशिकाना कविता पर प्रहार करते हैं, जिसमें घिसे-पिटे विषय, वही छंद, वही उपमाएँ और वही कल्पनाएँ बार-बार दोहराई जाती हैं। इससे कविता की सीमा संकुचित हो गई है और यथार्थ का लोप हो गया है। द्विवेदी जी के अनुसार कविता के बिगड़ने का प्रभाव केवल कविता तक सीमित नहीं रहता, बल्कि संपूर्ण साहित्य और भाषा पर पड़ता है। कवि जिन शब्दों और भावों का प्रयोग करते हैं, वही जनसाधारण की बोलचाल में आ जाते हैं। इस प्रकार भाषा का निर्माण या विनाश बहुत हद तक कवियों के हाथ में होता है। यदि कवि बुरे शब्दों और अस्वाभाविक भावों का प्रयोग करते हैं तो भाषा की अवनति निश्चित है। निबंध में कविता और पद्य का स्पष्ट भेद किया गया है। द्विवेदी जी कहते हैं कि कविता प्रभावोत्पादक अनुभूति है जबकि पद्य केवल छंदबद्ध रचना। गद्य और पद्य दोनों में कविता संभव है। तुक, क़ाफ़िया और अनुप्रास कविता के अनिवार्य तत्व नहीं हैं; ये केवल बाह्य अलंकरण हैं। यदि कविता में प्रभाव और भाव नहीं है, तो वह केवल नपी-तुली शब्द-रचना बनकर रह जाती है। छंद और क़ाफ़िया कवि की स्वाधीनता को सीमित कर देते हैं और उसके विचार-स्वातंत्र्य में

बाधा डालते हैं। लेखक कवि के गुणों पर विचार करते हुए कल्पना-शक्ति (Imagination) को सर्वोपरि मानते हैं। नए-नए भावों की उपज, प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण और मानव-स्वभाव की गहरी समझ ये सभी एक सच्चे कवि के आवश्यक गुण हैं। कवि दूसरों के दुःख-सुख को अपने भीतर अनुभव करके इस प्रकार व्यक्त करता है कि पाठक स्वयं उस अनुभूति में डूब जाता है। कविता को प्रभावशाली बनाने के लिए लेखक उचित शब्द स्थापना पर भी बल देते हैं। सही शब्द चयन और शब्द क्रम से ही मनोभाव पूरी शक्ति के साथ प्रकट होते हैं। जिन कवियों के पास समृद्ध शब्द-भंडार नहीं होता वे प्रभावशाली कविता नहीं कर सकते। अंत में लेखक मिल्टन के मत का उल्लेख करते हुए कविता के तीन प्रमुख गुण बताते हैं: सादगी, असलियत और जोश। कविता की भाषा सरल और जनसाधारण की बोलचाल के निकट होनी चाहिए, भाव स्वाभाविक और यथार्थपरक हों तथा अभिव्यक्ति में आंतरिक जोश हो। कविता की अंतिम कसौटी यही है कि उसे सुनकर श्रोता सहसा कह उठे "सच कहा है।" ऐसी कविता ही चिरकाल तक जीवित रहती है और ऐसे कवि तथा उनका देश वास्तव में धन्य कहलाते हैं। निष्कर्ष रूप में कवि और कविता निबंध कविता के स्वरूप और उद्देश्य का एक व्यापक, तर्कसंगत और अनुशासनपूर्ण विवेचन है, जो हिंदी साहित्य में स्वस्थ, यथार्थवादी और प्रभावोत्पादक कविता का स्पष्ट मार्गदर्शन प्रस्तुत करता है।

3.6 संदर्भ सहित व्याख्या

गद्यांश एक : "कवि का सबसे बड़ा गुण नई-नई बातों का सूझना है। उसके लिए इमैजिनेशन (imagination) की बड़ी ज़रूरत है। जिसमें जितनी भी अधिक यह शक्ति होगी वह उतनी ही अच्छी कविता कर सकेगा। कविता के लिए उपज चाहिए। नए-नए भावों की उपज जिसके हृदय में नहीं होती वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। ये बातें प्रतिभा की बदौलत होती हैं, इसलिए संस्कृत वालों ने प्रतिभा को प्रधानता दी है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है, अभ्यास से वह नहीं प्राप्त होती।"

संदर्भ : प्रस्तुत गद्यांश हिंदी साहित्य के यथार्थपरक और विचारप्रधान निबंध लेखक महावीर प्रसाद द्विवेदी के प्रसिद्ध निबंध 'कवि और कविता' से लिया गया है। इस निबंध में लेखक ने कविता के स्वरूप, कवि की प्रतिभा और सृजन-प्रक्रिया का सैद्धांतिक विवेचन किया है।

प्रसंग : इस अंश में लेखक यह स्पष्ट कर रहे हैं कि सच्चा कवि वही हो सकता है जिसमें नवीन भावों की कल्पना करने की जन्मजात क्षमता हो। वे कविता को अभ्यास या शिल्प मात्र का परिणाम मानने के स्थान पर उसे प्रतिभा और कल्पनाशक्ति से उत्पन्न मानते हैं।

व्याख्या : महावीर प्रसाद द्विवेदी अपने निबंध कवि और कविता में कहते हैं कि कवि का सबसे बड़ा गुण यह है कि उसके मन में नई-नई बातें सूझती रहें। यही नवीनता कविता को जीवंत और प्रभावशाली बनाती है। इस नवीनता के लिए कवि में कल्पनाशक्ति (Imagination) का होना अत्यंत आवश्यक है। जिस कवि में कल्पना की शक्ति जितनी अधिक होगी, उसकी कविता उतनी ही श्रेष्ठ और हृदयग्राही होगी। लेखक आगे स्पष्ट करते हैं कि कविता केवल शब्दों की सजावट या पुराने भावों की पुनरावृत्ति

नहीं है, बल्कि उसमें भावों की उपज होनी चाहिए। जिस हृदय में नए-नए भावों का जन्म नहीं होता, वह कभी अच्छी कविता नहीं कर सकता। यह भाव-उपज किसी बाहरी अभ्यास से प्राप्त नहीं की जा सकती, बल्कि यह कवि की अंतर्निहित शक्ति होती है। इसी कारण संस्कृत आचार्यों ने कविता के लिए प्रतिभा को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। लेखक के अनुसार प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है; वह जन्म से ही व्यक्ति में निहित रहती है। अभ्यास, अध्ययन और नियम केवल इस प्रतिभा को निखार सकते हैं, उसे उत्पन्न नहीं कर सकते। बिना प्रतिभा के किया गया अभ्यास कविता को कृत्रिम और नीरस बना देता है।

निष्कर्ष : इस गद्यांश के माध्यम से महावीर प्रसाद द्विवेदी यह प्रतिपादित करते हैं कि कविता की आत्मा नवीन कल्पना और स्वाभाविक प्रतिभा में निहित है। सच्ची कविता वही है जो कवि के हृदय से सहज रूप में फूटे और नए भावों के माध्यम से पाठक के मन को प्रभावित करे।कवि का सर्वप्रमुख गुण नवीनता

कवि की पहचान इस बात से होती है कि उसके मन में नई-नई बातें और नए विचार सूझते हैं।

विशेष :

- श्रेष्ठ कविता के लिए कल्पनाशक्ति अनिवार्य है। इसके बिना कविता नीरस और प्रभावहीन हो जाती है।
- भावों की उपज की अनिवार्यता : कविता में नए नए भावों की सृजनशील उपज होनी चाहिए। केवल पुराने भावों की पुनरावृत्ति कविता नहीं है।
- कविता रचना का मूल आधार प्रतिभा है, जिसे संस्कृत आचार्यों ने सर्वोपरि माना है। प्रतिभा ईश्वरदत्त होती है और कवित्व शक्ति जन्मजात होती है। इसे केवल अभ्यास से प्राप्त नहीं किया जा सकता। अभ्यास प्रतिभा को निखार सकता है, पर उसकी कमी को पूरा नहीं कर सकता।
- सच्ची कविता सृजनशीलता और मौलिकता से उत्पन्न होती है, न कि शिल्प-कौशल मात्र से।
- इस विचार में द्विवेदी युग की अनुशासित, यथार्थपरक और विचारप्रधान काव्य चेतना झलकती है।

3.7 अंतर्वस्तु

कवि और कविता की अंतर्वस्तु कविता और कवि के स्वरूप, उद्देश्य, शक्ति और सीमाओं के गहन विवेचन पर केंद्रित है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस निबंध में सैद्धांतिक और आलोचनात्मक दृष्टि से कविता का मूल्यांकन किया है। उनके अनुसार कविता अभ्यास से नहीं, बल्कि ईश्वरदत्त प्रतिभा से उत्पन्न होती है। प्रतिभा के बिना कविता कृत्रिम और नीरस हो जाती है। सच्ची कविता मानव-हृदय को प्रभावित करती है और करुणा, वीरता, जोश, शोक आदि भाव उत्पन्न करके कर्म की प्रेरणा देती

है। कवि की कल्पनाशक्ति (Imagination) नवीन भावों और नई दृष्टि की उपज ही कवि का सबसे बड़ा गुण है। जो कि कल्पनाशक्ति के बिना कविता संभव नहीं। अत्यधिक सभ्यता और बौद्धिकता के बढ़ने से कविता का भावनात्मक प्रभाव कम हो जाता है। कविता तभी प्रभावशाली होती है जब कवि निर्भय होकर अपने मनोभावों को व्यक्त करे। दबाव, पुरस्कार-लालसा और परतंत्रता कविता को क्षीण करती है। अतिशयोक्ति और चाटुकारिता से कविता यथार्थ से दूर हो जाती है और उसका सामाजिक मूल्य नष्ट हो जाता है। पुराने विषयों, छंदों और अलंकारों की पुनरावृत्ति से कविता हृदयग्राही नहीं रह जाती। कविता प्रभावोत्पादक अनुभूति है, जबकि पद्य मात्र छंदबद्ध रचना। गद्य में भी कविता संभव है। तुक, क़ाफ़िया और छंद कविता के अनिवार्य तत्व नहीं हैं; इनका अत्यधिक आग्रह कवि की स्वाधीनता में बाधा डालता है। कविता के बिगड़ने से भाषा और बोलचाल भी दूषित हो जाती है; कवि भाषा का निर्माता और विनाशक दोनों हो सकता है। महान कवि प्रकृति और मनुष्य के मनोविकारों का सूक्ष्म निरीक्षण करके उन्हें प्रभावी ढंग से व्यक्त करता है। उचित और सटीक शब्द-प्रयोग से ही कविता प्रभावोत्पादक बनती है सादगी, असलियत और जोश—ये तीनों गुण कविता की आत्मा हैं। इस निबंध की अंतर्वस्तु कविता को एक सामाजिक, भावात्मक और नैतिक शक्ति के रूप में स्थापित करती है तथा कवि को सत्य, स्वाभाविकता और सृजनात्मक स्वतंत्रता का अनुशासन सिखाती है।

3.7.1 विचार पक्ष

कवि और कविता निबंध का विचार-पक्ष कविता को केवल सौंदर्य या मनोरंजन की वस्तु न मानकर उसे गंभीर बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक शक्ति के रूप में स्थापित करता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचार इस निबंध में तर्क, अनुशासन और यथार्थबोध पर आधारित हैं। इसके प्रमुख वैचारिक तत्त्व है कि कविता का आधार अभ्यास नहीं, बल्कि ईश्वरदत्त प्रतिभा है। बिना प्रतिभा के कविता संभव नहीं। कवि का सबसे बड़ा गुण नवीन कल्पना और नए भावों की उपज है। कल्पनाशक्ति ही कविता को मौलिक और जीवंत बनाती है। सच्ची कविता मानव-हृदय को आंदोलित करती है और भावों के माध्यम से कर्म को प्रेरित करती है। कविता समाज-परिवर्तन की शक्ति है। द्विवेदी जी का विचार है कि अत्यधिक बौद्धिकता और सभ्यता कविता की भावात्मक तीव्रता को कम कर देती है। कविता के लिए कवि का स्वतंत्र होना अनिवार्य है। दबाव, पुरस्कार-लालसा, परतंत्रता और राजाश्रय कविता को नीरस बना देते हैं। कविता का संबंध वास्तविक जीवन, मानवीय मनोविकारों और प्राकृतिक नियमों से होना चाहिए। बनावटी और झूठी कविता लेखक को स्वीकार्य नहीं। अतिशयोक्ति, चाटुकारिता और आश्रयदाताओं की झूठी प्रशंसा कविता को पतन की ओर ले जाती है। उनके अनुसार पुराने, घिसे-पिटे विषयों, छंदों और अलंकारों की पुनरावृत्ति कविता के पतन का कारण हैं। कविता प्रभावोत्पादक अनुभूति है, जबकि पद्य केवल छंदबद्ध रचना। गद्य में भी कविता संभव है। यह आधुनिक विचार है। छंद, तुक और क़ाफ़िया ये कविता के बाह्य अलंकरण हैं। इनका अत्यधिक आग्रह कवि की सृजन की स्वतंत्रता को बाँध देता है। कविता भाषा को बनाती भी है और बिगाड़ती भी। इसलिए कवि की जिम्मेदारी अत्यंत गंभीर है। द्विवेदी जी ने सादगी, असलियत और जोश इन तीनों गुण कविता में

अनिवार्य माने गए हैं। उनके अनुसार काव्य की अंतिम कसौटी वही है जिसे सुनकर पाठक सहज कह उठे "सच कहा है।" यह निबंध कविता को अनुशासित, यथार्थवादी, प्रभावोत्पादक और सामाजिक उत्तरदायित्व से युक्त कला के रूप में प्रस्तुत करता है। इसका विचार पक्ष द्विवेदी युग की सुधारवादी और बौद्धिक चेतना का प्रतिनिधि है।

3.7.2 भाव पक्ष

'कवि और कविता' का भाव-पक्ष अत्यंत गंभीर, संतुलित और अनुशासित है। इसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी की भावनाएँ आवेगपूर्ण न होकर विवेकप्रधान हैं। लेखक कविता को केवल भावुकता या कल्पनालोक की उड़ान नहीं मानते, बल्कि उसे समाज और मानव-जीवन से गहराई से जुड़ी एक उत्तरदायी शक्ति के रूप में देखते हैं। इसलिए इस निबंध में भावनात्मकता संयमित, मर्यादित और उद्देश्यपूर्ण रूप में उपस्थित है। इस निबंध में कवि के प्रति लेखक का भाव आदर्शवादी और अपेक्षात्मक है। वे कवि को विशेषाधिकार प्राप्त व्यक्ति मानते हैं, पर साथ ही उस पर नैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्व भी आरोपित करते हैं। कवि की प्रतिभा को ईश्वरदत्त मानते हुए लेखक उसके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हैं, किंतु यह श्रद्धा अंधी नहीं है; उसमें विवेक और अनुशासन का आग्रह स्पष्ट रूप से झलकता है। निबंध में कविता के प्रति लेखक का भाव गंभीर सम्मान और आस्था का है। वे कविता को मानव-हृदय को आंदोलित करने वाली शक्ति मानते हैं, जो करुणा, वीरता, शोक और उत्साह जैसे भावों को जन्म देती है। इस संदर्भ में लेखक का भाव करुणा और संवेदना से परिपूर्ण है, किंतु वह भावुक अतिरेक में नहीं बदलता। वे स्पष्ट करते हैं कि कविता का प्रभाव तभी सार्थक है जब वह यथार्थ और स्वाभाविकता से जुड़ी हो। ख़ुशामदी, दरबारी और बनावटी कविता के प्रति लेखक का भाव तीव्र असंतोष और खिन्नता का है। ऐसी कविता उन्हें समाज के लिए हानिकारक प्रतीत होती है। यहाँ भाव-पक्ष में आलोचना का स्वर कठोर अवश्य है, पर वह व्यक्तिगत नहीं, बल्कि साहित्य और भाषा के हित से प्रेरित है। लेखक को यह पीड़ा है कि कविता के पतन से भाषा, साहित्य और समाज तीनों प्रभावित होते हैं। नई और स्वाभाविक कविता के प्रति लेखक का भाव सहानुभूतिपूर्ण और उत्साहवर्धक है। वे उन कवियों के साथ खड़े दिखाई देते हैं जिन्हें परंपरावादियों द्वारा नकारा जाता है। इस संदर्भ में निबंध का भाव आत्मविश्वास, साहस और सत्यनिष्ठा का संदेश देता है कि कवि को आलोचना से भयभीत होकर अपने पथ से विचलित नहीं होना चाहिए। इस निबंध का भाव-पक्ष संयमित संवेदना, नैतिक चेतना और साहित्यिक उत्तरदायित्व से निर्मित है। इसमें न तो उच्छृंखल भावुकता है, न ही शुष्क बौद्धिकता। भाव और विवेक का यह संतुलन ही इस निबंध को गंभीर, प्रभावशाली और दीर्घकालिक मूल्य प्रदान करता है।

3.8 संरचना शिल्प

'कवि और कविता' की संरचना अत्यंत सुसंगठित, तार्किक और क्रमबद्ध है। इसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी की वैचारिक स्पष्टता और अनुशासनप्रिय निबंध कला पूरी तरह परिलक्षित होती है। लेखक

विषय को न तो भावावेश में भटकने देते हैं और न ही अनावश्यक विस्तार से बोझिल बनाते हैं। निबंध आरंभ से अंत तक एक सुनिश्चित वैचारिक लक्ष्य की ओर अग्रसर रहता है। संरचना की दृष्टि से निबंध का आरंभ कविता के मूल स्रोत प्रतिभा के प्रतिपादन से होता है। लेखक पहले यह स्पष्ट कर देते हैं कि कविता अभ्यासजन्य नहीं, बल्कि ईश्वरदत्त प्रतिभा का फल है। यह स्थापना निबंध की आधारभूमि तैयार करती है। इसके बाद क्रमशः कविता के प्रभाव, उसकी सामाजिक भूमिका और भावात्मक शक्ति का विवेचन किया गया है। मध्य भाग में कविता के पतन के कारणों पर विस्तार से विचार करते हैं। यहाँ संरचना आलोचनात्मक हो जाती है। दरबारी, खुशामदी और बनावटी कविता की आलोचना, रूढ़ छंद-परंपरा पर प्रहार तथा कविता और पद्य के भेद की स्थापना ये सभी बिंदु आपस में तार्किक रूप से जुड़े हुए हैं। प्रत्येक विचार पिछले विचार का स्वाभाविक विस्तार प्रतीत होता है, जिससे निबंध में कहीं भी असंबद्धता नहीं आती। निबंध के अंतिम भाग में लेखक आदर्श कविता के गुणों सादगी, असलियत और जोश का प्रतिपादन करते हैं और कविता की अंतिम कसौटी निर्धारित करते हैं। इस प्रकार निबंध की संरचना भूमिका, विवेचन, आलोचना और निष्कर्ष चारों स्तरों पर संतुलित और पूर्ण है। शिल्प की दृष्टि से यह निबंध विचारप्रधान निबंध शैली का उत्कृष्ट उदाहरण है। लेखक की भाषा स्पष्ट, संयमित और तर्कपूर्ण है। भावनाएँ उग्र न होकर नियंत्रित हैं। उदाहरण, दृष्टांत और विदेशी साहित्य-संदर्भ (जैसे मिल्टन और गोल्डस्मिथ) शिल्प को पुष्ट करते हैं, पर मुख्य विचार पर हावी नहीं होते। कहीं भी अनावश्यक अलंकरण या भावुक अतिरंजन नहीं मिलता। निबंध में प्रश्नोत्तर शैली, प्रतिपादनात्मक वाक्य रचना और क्रमिक तर्क-विकास का कुशल प्रयोग हुआ है। लेखक कहीं उपदेशक नहीं बनते, बल्कि पाठक को सोचने के लिए विवश करते हैं। यही शिल्प की सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा में न तो कठिन संस्कृतनिष्ठता है, न ही अनावश्यक भावुकता यह द्विवेदी युग की संतुलित, परिमार्जित और अनुशासित गद्य-शैली का आदर्श रूप है। 'कवि और कविता' की संरचना सुव्यवस्थित और शिल्प सुदृढ़ है। विचारों की स्पष्टता, तार्किक क्रम, संतुलित भाषा और आलोचनात्मक दृष्टि के कारण यह निबंध न केवल विषय-वस्तु की दृष्टि से, बल्कि रचना-कौशल की दृष्टि से भी हिंदी निबंध साहित्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि सिद्ध होता है।

3.8.1 भाषा

निबंध 'कवि और कविता' की भाषा गंभीर, संयमित, स्पष्ट और विचारप्रधान है। इसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी की भाषा-सुधारक चेतना और बौद्धिक दृष्टि पूर्ण रूप से दिखाई देती है। यह भाषा भावावेग से नहीं, बल्कि तर्क और विवेक से संचालित है। इस निबंध की भाषा का प्रमुख गुण स्पष्टता और सुस्पष्टता है। लेखक जटिल काव्य-सिद्धांतों और आलोचनात्मक विचारों को भी सरल और सहज वाक्यों में प्रस्तुत करते हैं, जिससे पाठक को अर्थ ग्रहण करने में कठिनाई नहीं होती। वाक्य रचना प्रायः सीधी, प्रतिपादक और व्याख्यात्मक है। भाषा में खड़ी बोली हिंदी का प्रयोग हुआ है, जो द्विवेदी युग की मानक साहित्यिक भाषा मानी जाती है। संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग विचारों की गंभीरता और प्रामाणिकता को बढ़ाता है, किंतु यह संस्कृतनिष्ठता बोझिल नहीं बनती। आवश्यकतानुसार उर्दू, फ़ारसी

और अंग्रेज़ी शब्दों जैसे इमैजिनेशन (imagination) का भी प्रयोग किया गया है, जिससे भाषा आधुनिक और बौद्धिक बनती है। निबंध की भाषा में भावुक अलंकरण और काव्यात्मक चमत्कार का अभाव है। लेखक जानबूझकर अलंकारों और सौंदर्य-प्रदर्शन से दूरी बनाए रखते हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य भावोत्तेजना नहीं, बल्कि साहित्यिक अनुशासन और बौद्धिक मार्गदर्शन है। इसी कारण भाषा कहीं-कहीं शुष्क प्रतीत होती है, पर वह विषय की गंभीरता के अनुकूल है। तर्कपूर्णता इस भाषा की विशेष पहचान है। लेखक प्रश्न उठाते हैं, उदाहरण देते हैं, तुलना करते हैं और निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। भाषा में आलोचनात्मक दृढ़ता है, पर कटुता नहीं। विरोध और असहमति भी शिष्ट और मर्यादित शब्दों में व्यक्त की गई है। भाषा का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष उसका शिक्षाप्रद और सुधारवादी स्वर है। लेखक भाषा के माध्यम से न केवल कविता की व्याख्या करते हैं, बल्कि कवियों और पाठकों दोनों को सही साहित्यिक दिशा देने का प्रयास करते हैं। इसी कारण यह भाषा उपदेशात्मक होते हुए भी विश्वसनीय और प्रभावी बनती है। इस निबंध की भाषा संतुलित, परिष्कृत, विवेकशील और मानक हिंदी गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। यह भाषा न केवल विचारों को स्पष्ट रूप से संप्रेषित करती है, बल्कि हिंदी आलोचनात्मक गद्य की एक सुदृढ़ परंपरा की स्थापना भी करती है।

3.8.2 शैली

'कवि और कविता' की शैली विचारप्रधान, विवेचनात्मक और आलोचनात्मक है। इसमें महावीर प्रसाद द्विवेदी की वैचारिक दृढ़ता, साहित्यिक अनुशासन और सुधारवादी दृष्टि स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। लेखक की शैली भावावेग या काव्यात्मक चमत्कार पर आधारित न होकर तर्क, विवेक और विश्लेषण पर केंद्रित है। इस निबंध की शैली का प्रमुख गुण तार्किक क्रमबद्धता है। लेखक पहले किसी सिद्धांत को स्थापित करते हैं, फिर उसके समर्थन में उदाहरण प्रस्तुत करते हैं और अंत में निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। यह शैली पाठक को धीरे-धीरे लेखक के निष्कर्ष तक ले जाती है, बिना किसी भावनात्मक दबाव के। इसी कारण यह शैली बौद्धिक पाठकों के लिए अत्यंत प्रभावी बन जाती है। निबंध में आलोचनात्मक शैली का विशेष महत्व है। लेखक परंपरागत, रूढ़ और बनावटी काव्य-धारणाओं की निर्भीक आलोचना करते हैं चाहे वह दरबारी कविता हो, खुशामद की प्रवृत्ति हो या घिसी-पिटी छंद-परंपरा। आलोचना में तीखापन अवश्य है, पर कटुता नहीं। यह शैली साहित्य-सुधार के उद्देश्य से प्रेरित है, न कि व्यक्तिगत आक्षेप से। इस निबंध की शैली में उपदेशात्मकता भी दिखाई देती है, किंतु वह बोझिल नहीं बनती। लेखक कवियों को सही दिशा देने का प्रयास करते हैं और साहित्य के लिए आदर्श मानक प्रस्तुत करते हैं। यह उपदेश पाठक पर थोपा हुआ नहीं लगता, बल्कि तर्क और उदाहरणों के माध्यम से सहज रूप में स्वीकार्य बन जाता है। शैली का एक अन्य पक्ष सादगी और स्पष्टता है। लेखक अलंकारों, भावुकता और काव्यात्मक सजावट से बचते हैं। वाक्य सीधे, स्पष्ट और उद्देश्यपरक हैं। यही सादगी इस निबंध को गंभीर और प्रामाणिक बनाती है। 'कवि और कविता' की शैली द्विवेदी युग की आदर्श गद्य-शैली का प्रतिनिधित्व करती है। जिसमें विचार की प्रधानता, आलोचनात्मक विवेक,

सुधारवादी उद्देश्य और अनुशासित अभिव्यक्ति का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। यही शैली इस निबंध को हिंदी साहित्य में स्थायी महत्त्व प्रदान करती है।

3.9 प्रतिपाद्य

'कवि और कविता' का मूल प्रतिपाद्य यह है कि कविता एक साधारण शिल्पगत क्रिया नहीं, बल्कि ईश्वरदत्त प्रतिभा, कल्पनाशक्ति और स्वाभाविक अनुभूति से उत्पन्न होने वाली प्रभावोत्पादक कला है, जिसका उद्देश्य मानव-हृदय को आंदोलित करना और समाज को दिशा देना है। द्विवेदी जी इस निबंध में कविता को अनुशासनहीन भावुकता या बनावटी अलंकरण से अलग करके एक यथार्थवादी, उत्तरदायी और नैतिक साहित्यिक शक्ति के रूप में स्थापित करते हैं। वे प्रतिपादित करते हैं कि कविता का मूल आधार प्रतिभा और कल्पनाशक्ति है, जो अभ्यास से अर्जित नहीं की जा सकती। बिना नए भावों की उपज और स्वाभाविक सृजनशीलता के कविता जीवंत नहीं हो सकती। सच्ची कविता वही है जो कवि के अंतर्मन से सहज रूप में फूटे और पाठक के मन पर गहरा प्रभाव डाले। निबंध का केंद्रीय विचार यह भी है कि कविता को यथार्थ, स्वाभाविकता और सादगी से जुड़ा होना चाहिए। दरबारी, खुशामदी, अतिशयोक्तिपूर्ण और रूढ़ काव्य-परंपराएँ कविता की आत्मा को नष्ट कर देती हैं। कविता का मूल्य छंद, तुक, क़ाफ़िया या अलंकारों में नहीं, बल्कि उसके प्रभावोत्पादक भाव में निहित है। इसलिए गद्य और पद्य दोनों में कविता संभव है। साथ ही लेखक यह भी स्पष्ट करते हैं कि कवि की स्वतंत्रता अनिवार्य है। किसी प्रकार का दबाव, पुरस्कार-लालसा या परतंत्रता कवि की सृजन-शक्ति को कुंठित कर देती है। कविता तभी समाज के लिए हितकारी बनती है जब वह सत्य, साहस और स्वाधीनता के साथ कही जाए। इस निबंध का मूल प्रतिपाद्य कविता को एक स्वाभाविक, प्रभावशील, यथार्थवादी और सामाजिक उत्तरदायित्व से युक्त कला के रूप में प्रतिष्ठित करना है तथा कवियों को बनावटी परंपराओं से मुक्त होकर सत्य और नवीनता के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देना है।

अभ्यास प्रश्न

1. महावीर प्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए।
   .....
   .....
   .....
2. महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंध कवि और कविता का सार अपने शब्दों में लिखिए।
   .....
   .....
   .....
3. कवि और कविता निबंध का विचार पक्ष बताइए।

.....

.....

.....

4. कवि और कविता निबंध का मूल प्रतिपाद्य स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

3.10 सारांश

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंध कवि और कविता से परिचित हो चुके हैं। आप इस अध्याय को पढ़ कर कवि और कविता निबंध के कला और विचार पक्ष को समझ गए हैं। अब आप इस इस निबंध के किसी भी हिस्से का सोदाहरण व्याख्या, ससंदर्भ व्याख्या कर सकते हैं। इस अध्याय का अध्ययन करते हुए आपने जाना कि कविता लिखने के लिए काव्य हेतु प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास; जिसकी चर्चा भारतीय काव्यशास्त्री करते हैं; उनमें से महावीर प्रसाद द्विवेदी प्रतिभा को अधिक महत्व देते हैं साथ ही साथ वे अभ्यास को इसके परिमार्जन का मूल मानते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने रचनाकर्म से आधुनिक हिंदी को परिमार्जित किया और उसे एक परिनिष्ठित रूप दिया। वे सच्चे अर्थों में हिंदी के विकास के आरंभिक व्यस्थापक थे। उन्होंने ना सिर्फ हिंदी को अन्तरानुशासनिक ज्ञान और चिंतन का विषय बनाया बल्कि अपने समय के लेखन को सँवारा और संभाला भी। उनकी संपादकीय दृष्टि और लेखन कौशल ने हिंदी को स्थापित करने का काम किया। महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान हिंदी में ऋण की तरह है। उन्होंने कवियों के उर्मिला विषयक उदासीनता की ओर ध्यान आकृष्ट कराया तो कालिदास की निरंकुशता को भी रेखांकित किया। एक तरफ़ भारतीय अर्थशास्त्र की किताब संपत्तिशास्त्र लिखा तो दूसरी तरह भारतीय चित्रकला को भी समझने की दृष्टि दी। उनका लेखन सच्चे अर्थों में अंतर-अनुशासिक और हिंदी को ज्ञान और चिंतन का माध्यम बनाने वाला रहा।

3.11 शब्दावली

प्रभावशील : जिसका प्रभाव पड़े
हितकारी : जिससे लाभ हो
असंबद्धता : जो किसी से संबद्ध अथवा जुड़ा हुआ न हो
ईश्वरदत्त : ईश्वर के द्वारा दिया हुआ
अनुशासन प्रिय : नियमों को मानने वाला
परतंत्रता : गुलामी

3.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. देखें 3.3
2. देखें 3.5
3. देखें 3.7.1
4. देखें 3.9

3.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी आलोचना, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

3.14 सहायक ग्रन्थ सूची

1. निबंध निलय, डॉ सतेंद्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
2. हिंदी निबंध और निबंधकार, डॉ रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
3. हिंदी निबंध, विनोद तिवारी, अक्षर प्रकाशन, नयी दिल्ली

3.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. कवि और कविता निबंध का मूल्यांकन करते हुए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के निबंधकला पर निबंध लिखिए।
2. कवि और कविता की भाषा और संरचना को रेखांकित करते हुए इसके मूल प्रतिपाद्य को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4 'करुणा' : परिचय, पाठ एवं आलोचना

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावना
4.2 उद्देश्य
4.3 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
4.3.1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : जीवन परिचय
4.3.2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : साहित्यिक परिचय
4.4 आचार्य रामचंद्र शुक्ल : विश्लेषण एवं आलोचना
4.5 निबंध का पाठ : करूणा
4.6 निबंध का सार : करूणा
4.7 करूणा : संदर्भ सहित व्याख्या
4.8 सारांक्ष
4.9 शब्दावली
4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.11 संदर्भ ग्रंथ सूची
4.12 सहायक पाठ्य सामग्री
4.13 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आप रामचन्द्र शुक्ल के सम्पूर्ण जीवन एवं उनके साहित्यिक अवदान से परिचित होंगे। इसके साथ ही साथ आप आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित महत्वपूर्ण निबंध 'करूणा' को पाठ, ससंदर्भ व्याख्या के साथ कर सकेंगे।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप मानव मन के गत्भी भाव 'करूणा' का विश्लेषण कर सकेंगे तथा साथ ही हिन्दी साहित्य में आचार्य शुक्ल के महत्त्व का प्रतिपादन भी कर सकेंगे।

4.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप-

- मानवीय मनोविकारों में से एक 'करूणा' का महत्व ज्ञात कर उसे साहित्यिक कसौटी पर जॉच सकेंगे।
- एक सच्चे साहित्यिक मर्मज्ञ की तरह मानव मन की कारूणिक दशाओं का विश्लेषण कर सकेंगे।
- मानव जीवन के भीतर 'करूणा' के व्यवहारिक महत्व को समझ सकेंगे।

4.3 आचार्य रामचंद्र शुक्ल

'' शुक्ल जी की व्यक्तिगत गंभीरता उनकी भाषा में व्याप्त रहती है। उनकी भाषा संयत, परिष्कृत, प्रौढ़ तथा विशुद्ध होती है; उसमें एक प्रकार का सौष्ठव विशेष है, जो संभवत: किसी भी वर्तमान लेखक में नहीं पाया जाता। उसमें गम्भीर विवेचना, गवेषणात्मक चिंतन एवं निर्मांत अनुभूति की पुष्ट व्यंजना सर्वदा वर्तमान रहती है। शुक्ल जी की शैली में वैयक्तिकता की छाप सर्वत्र ही प्राप्त होती है, चाहे वह निबंध रचना हो चाहे आलोचनात्मक विवेचन''

- जगन्नाथ प्रसाद शर्मा

''भारतीय काव्यालोचन शास्त्र का इतना गंभीर और स्वतन्त्र विचारक हिंदी में तो दूसरा हुआ ही नहीं, अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ है या नहीं, ठीक नहीं कह सकते। शायद नहीं हुआ। अलंकारशास्त्र के प्रत्येक अंग पर उनहोंने सूक्ष्म विचार किया था- शब्द-शक्ति, गुण-दोष, अलंकार-विधान, रस आदि सभी विषयों पर उनका अपना सुचिंतित मत था। वे प्राचीन भारतीय अलंकारिकों को खूब जानते थे पर उनका अंधानुकरण करने वाले नहीं थे। रामचंद्र शुक्ल से सर्वत्र सहमत होना संभव नहीं। वे इतने गंभीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आंच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपकों या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'ना' बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं।''

- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी

4.3.1 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : जीवन परिचय

आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जन्म सन् 1884 ई. (संवत् 1940) को उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के अगोना नामक गाँव में हुआ था। मूल रूप से इनके पूर्वज गोरखपुर क निवासी थे। उनके पितामह का नाम श्री शिवदत्त शुक्ल था। आचार्य शुक्ल के पिता श्री चन्द्रबली शुक्ल का जन्म 1862 ई. में हुआ था बाद में श्री शिवदत्त शुक्ल की मृत्यु के उपरांत आचार्य रामचंद्र शुक्ल के पितामही आचार्य शुक्ल के पिता श्री चंद्रबली शुक्ल को लेकर गोरखपुर छोड़ बस्ती जिले के अगौना नामक गाँव में आ गई। आचार्य शुक्ल के पिता अध्ययनशील व्यक्ति थे। उनहें अंग्रेजी, फारसी और अरबी का अचछा जान था। सन् 1887 में आचार्य शुक्ल के पिता उत्तर प्रदेश के इटावाजिले में सुपरवाईजर कानूनगो के पद पर आ गए 1875 में ही चन्द्रबली शुक्ल का विवाह हो गया था। 1884 में अगौना में आचार्य रामचंद्रशुक्ल का जन्म हुआ। वे अपने पिता की चौथी संतान थे। 1891 में पिता के बतादले के पश्चात्आचार्य शुक्ल हमीरपुर जिले की 'राठ' तहसील में आ गए। यहीं आचार्य शुक्ल की प्रारम्भिक शिक्षा हुई। 1893 में आचार्य शुक्ल के पिता की नियुक्ति सदर कानूनगो के पद पर मिर्जापुर में हो गई। इस बीच आचार्य शुक्ल की माताका देहावसान गया। अपने पिता के साथ आचार्य शुक्ल के पिता मिर्जापुर आ गए। 1894 में आचार्य शुक्ल के पिता ने दूसरा विवाह कर लिया और विमाताके कारण आचार्य शुक्ल का जीवन कष्टप्रद हो गया। 1898 में 14 वर्ष की अवसथा में आचार्य शुक्ल ने अंग्रेजी तथा उर्दू विषय से मिडिल की परीक्षा उत्तीर्ण की। स्कूलों में तब हिन्दी विषय की व्यवस्था नहीं होती थी लेकिन अपनी पितामही के संस्कारों के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल तुलसी, सूर एवं अनय भक्त

कवियों की रचनाएँ बहुत मनोयोग से पढ़ते रहे। 1901 में शुक्ल जी ने स्कूल फाइनल परीक्षा भी उत्तीर्ण कर जी। 1898 में ही आचार्य शुक्ल का विवाह हो गया था तथा 1902 ई. में गृह कलह के कारण वे अपने पिता को छोड़कर पत्नी के साथा अगौना आ गए। यही शुक्ल जी के प्रथम पुत्र श्री केशवचंद्र शुक्ल का जन्म हुआ।इसके पश्चात् 1903 में इनकी प्रथम पुत्री दुर्गावती का जन्म हुआ। सन् 1905 मिर्जापुर के जिला कलेक्टर विढंम ने आचार्य शुक्ल की कला-प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें मिर्जापुर जिले का नायब तहसीलदार नियुक्त कर दिया, परन्तु आचार्य शुक्ल ने तत्कालीन स्वदेश प्रेम की भावना एवं स्वाभिमानी स्वाभाव के कारण यह पद स्वीकार नहीं किया। 1904 ई. में शुक्ल जी लंदन मिशन स्कूल में ड्राइंग टीचर के रूप में नियुक्त हुए।

अपने संस्कारों के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल बचपन से ही अध्ययनशील थे। अपनी इसी प्रवृप्ति के कारण शुक्ल जी की मित्रमण्डली जिसमें समवयस्क एवं प्रौढ़ दोनों के लोग थे- तैयार हो गई अपनी इस मित्र एवं शुभचिंतक मण्डली से आचार्य शुक्ल का व्यक्तित्व शनै: शनै: और अधिक गंभीर एवं अध्ययनशील होता गया इस मित्र मण्डली में बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', पं.केदारनाथ पाठक, पं. रामगरीब चौबे, पं. विन्ध्येश्वरी प्रसाद तिवारी, बाबू बलभद्र सिंह, बाबू काशी प्रसाद जायसवाल, पं. लक्ष्मीशंकर द्विवेदी जैसे प्रखर विचारक एवं विद्वान लोग शमिल थे। अपने गहन अध्यवसाय के चलते बहुत शीघ्र की आचार्य शुक्ल की मेघा कार्यशील हो गई। 1899ई. में ही आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध निबंधकार जोसेफ एडीसन के सुप्रसिद्ध निबंध 'प्लेजर्स ऑव इमैजिनेशन' का अनुवाद 'कल्पना का आनंद' नाम से तथा कुछ ही समय बाद न्यूमैन के निबंध 'लिटरेचर' का भावानुवाद 'साहित्य' शीर्षक से कर दिया था। अक्टूबर 1908 में आचार्य रामचंद्र शुक्ल 'काशी नगरी प्रचारिणी सभा' की बृहद् योजना 'हिन्दी शब्द सागर' के सहायक सम्पादक बनकर सपरिवार काशी आ गए। यहाँ आकर वे कोश सम्पादन के साथ-साथ 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के कार्य भार भी संभालने लगे इस बीच उनका पारिवारिक-जीवन भी अपनी गति एवं प्रवृति से चलता रहा। 1912 तक आचार्य शुक्ल के परिवार में दो पुत्र एवं चार पुत्रियों का जन्म हो चुका था। 1918 ई. में आचार्य शुक्ल के पिता का देहान्त हो गया। सन् 1919 ई. में आचार्य रामचंद्र शुक्ल की नियुक्ति काशी हिन्दु विश्वविद्यालय में हो गई। आचार्य शुक्ल ने जीवन पर्यन्त विश्वविद्यालय की सेवा की। शुक्ल जी का व्यक्तिगत जीवन बहुत संघर्ष एवं कठिनाई में बीता। गंभीर अध्ययवसाय एवं प्रखर मेधा के कारण उन्होंने मृत्यु से पूर्व जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया (इकाई के अगले भाग में आप आचार्य शुक्ल के ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे) वे हिन्दी साहित्य की अपनी अमूल्य निधि है। परन्तु अपनी एकनिष्ठ साहित्य साधना और अपने स्वास्थ का ध्यान न रखने के कारण आचार्य रामचंद्र शुक्ल को आरम्भ से ही कमजोर स्वास्थ का कष्ट उठाना पड़ा था। ''वे कई रोगों से पीड़ित थे। दमा का रोग प्रमुख था। अंतत: इसी रोग से 2 फरवरी, 1941 ई. को रात साढ़े नौ बजे 56 वर्ष 3 महीने 20 दिन की वय में उनकी इहलीला समाप्त हो गई। अनेक तरह की विपरीत परिस्थितियों एवं दबावों के बीच रहते हुए उन्होंने हिन्दी की जो सेवा की वह श्लाध्य और अनुकरणीय है।"

4.3.2 आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : साहित्यिक परिचय

हिन्दी साहित्य के आलोचना पुरूष माने जाने वाले आचार्य रामचंद्र शुक्ल का संक्षिप्त साहित्यिक परिचय निम्ललिखित है। विद्यार्थियों से आशा की जाती है कि प्रस्तुत सूची से प्रेरित होकर वे आचार्य शुक्ल की रचनाओं को उनके ऐतिहासिक क्रम में अपने अध्ययन के क्षितिज को विस्तार देते हुए पढ़ेगें तथा आचार्य शुक्ल के बहाने हिन्दी- साहित्य के वैचारिक क्रम को समझने का प्रयास करेंगे।

(क) निबंध

1. भाव या मनोविकार- सर्वप्रथम फरवरी 1915 में प्रकाशित।
2. उत्साह - सर्वप्रथम – फरवरी 1915 में प्रकाशित
3. श्रृद्धा भक्ति - सर्वप्रथम दिसम्बर 1916 में प्रकाशित
4. करूणा- सर्वप्रथम दिसम्बर 1918 में प्रकाशित
5. लज्जा और ग्लानि -सर्वप्रथम दिसम्बर 1918 में प्रकाशित
6. लोभ और प्रीति -(पहले लोभ और प्रेम शीर्षक से) फरवरी- मार्च 1919 में प्रकाशित
7. घृणा- सर्वप्रथम जुलाई 1912 में प्रकाशित
8. ईर्ष्या- सर्वप्रथम जुलाई 1912 में प्रकाशित
9. भय और क्रोध - सर्वप्रथम जुलाई 1912 में प्रकाशित (ये सभी नौ निबंध नागरी प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित हुए थे)
10. काव्य में प्राकृतिक दृश्य- सर्वप्रथम सन् 1922 में 'माधुरी' पत्रिका में प्रकाशित।
11. गोस्वामी तुलसीदास और लोक धर्म – सर्वप्रथम सन् 1923 में माधुरी पत्रिका में प्रकाशित।
12. साधारणीकरण- सर्वप्रथम सन् 1933 में द्विवेदी अभिनंदन ग्रंथ में प्रकाशित।
13. कविता क्या है -1909 ई. में प्रथम प्रारूप प्रकाशित।

(ख) पुस्तकें-

1.विचार वीथी - मनोविचार संबंधी सभी लेख, कविता क्या है? भारतेनदु हरिश्चन्द्र , तुलसी का भक्ति मार्ग निबंधों सहित सन् 1930 में प्रकाशित

2.चिंतामणि, भाग 1 – (इंडियन प्रेस प्रयाग से सन् 1939 में प्रकाशित निबंध संग्रह)

विचार वीथी(1930) पुस्तक के सभी निबंधों के अतिरिक्त 'साधरणीकरण एवं व्यक्ति वैचित्र्यवाद ' मानस की धर्मभूमि', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था , तथा 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक नए निबंधों के साथ प्रकाशित ।

3.चिंतामणि – भाग 2 – 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' 'काव्य में रहस्यवाद' तथा काव्य में अभिव्यंजनावाद' इन तीन बड़े निबंधों का पुस्तक के रूप में सम्मिलित प्रकाशन सन् 1939 में 'काव्य में रहस्यवाद' सर्वप्रथम माधुरी पत्रिका 1922 में प्रकाशित हुआ तथा साहित्य भूषण कार्यालय, काशी

द्वारा अलग से पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित हुआ। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' सन् 1935 में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इन्दौर के अध्यक्ष पद से दिया गया अध्यक्षीय भाषण है।

4.त्रिवेणी - सूरदास, तुलसीदास तथा जायसी पर आचार्य शुक्ल द्वारा लिखित आलोचनात्मक प्रबंधों के विशिष्ट अंशों का संग्रह। सम्पादक श्री कृष्णानंद, 1935

5.रस मीमांसा - आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादिक, प्रथम प्रकाशन सन् 1949

6.हिन्दी साहित्य का इतिहास - (मूलत: हिन्दी शब्द सागर की भूमिका के रूप में लिखा गया) पुस्तक के रूप में 1929 ई. में प्रथम प्रकाशन- संशेधित 1940 ई.

7.गोस्वामी तुलसीदास - सर्वप्रथम 1924 ई. में प्रकाशित

8.महाकवि सूरदास - सर्वप्रथम 1924 ई. में प्रकाशित।

9.बाबू राधाकृष्ण दास का जीवन चरित – सन् 1913 में प्रकाशित।

(ग)सम्पादित ग्रंथ-

1.तुलसी ग्रंथावली (3 भाग) लाला भगवानदीन एवं ब्रजरत्न दास के साथ सम्पादित, सन् 1923

2.जायसी ग्रंथावली- नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा सन् 1924 में प्रकाशित

3.भ्रमर-गीत सार (सूरदास के 403 पदों के शुद्धपाठ, अर्थ, टिप्पणी भूमिका सहित, साहित्य सेवा सदन, वाराणसी द्वारा सन् 1925 में प्रकाशित।

4.वीर सिंह देवचरित - केशवदास प्रणीत ग्रंथ के 14 वें प्रकाशन का सम्पादन,नागरी प्रचारिणी, सभा द्वारा 1926 में प्रकाशित।

5.भारतेंदु -संग्रह – सन् 1928 में प्रकाशित।

(घ) अनुवादित ग्रंथ

1.कल्पना का आनंद (जोसेफ एडिसन् द्वारा लिखित निबंध 'प्लेजर आफ इमैजिनेशन) लिखित 1901 प्रकाशित 1905।

2.साहित्य (न्युमैन का 'लिटरेचर' नामक निबंध)

3.'मेगस्थनीज का भारतवर्षीय विवरण' (डा. श्वान बक की पुस्तक 'मेगस्थनीज इंडिका)- 1906

4.'राज्य प्रबंध शिक्षा' (सर टी. माधव राव के 'माइनर हिंट्स' का अनुवाद) सर्वप्रथम1913में प्रकाशित।

5.आदर्श जीवन (एडम्स विलियम डेवन पोर्ट की पुस्तक 'प्लेन लिविंग एण्ड हाई थिकिंग) पर लिखित निबंधों का संग्रह सन् 1914 में प्रकाशित।

6.विश्व प्रपंच (हैकल की पुस्तक 'रिड्ल ऑव द यूनिवर्स का अनुवा, लम्बी मौलिक भूमिका सहित सन् 1920 ई. में प्रकाशित।

7.शशांक (राखालदास बंद्योपाध्याय के बांग्ला उपन्यास का अनुवाद) 1922 ई.

8.बुद्धचरित (एडविन आर्नल्ड के 'लाईट ऑफ एशिया का हिन्दी अनुवाद, मौलिक भूमिका सहित) सन् 1922 में प्राकशित (ब्रजभाषा में पद्यानुवाद)

9.'वाट हैज इंडिया टू डू' मौलिक अंग्रेजी निबंध, 1907 में प्रकाशित, 'हिन्दी एण्ड द मुसलमांस, मौलिक अंग्रजी निबंध, लीडर के कई अंकों में 1917 में प्रकाशित, 'नॉन कोऑपरेशन एंड द नॉन मर्केंटाइल क्लासेज एक्सप्रेस, पटना के कई अंकों में 1921 प्रकाशित मौलिक अंग्रेजी निबंध।

(च) कविता

'मधुस्रोत ' (1901 से 1929 तक लिखित कविताओं का संग्रह सनद्व 1971 में प्रकाशित

(छ) निबंध संग्रह

1. चिंतामणि भाग 3, (सं0) नामवर सिंह - 1983
2. चिंतामणि भाग 4, (सं0) कुसुम चतुर्वेदी - 2002

4.4 आचार्य रामचंद्र शुक्ल : विश्लेषण एवं आलोचना

'निबंध' शब्द को परिभाषित करते हुए डॉ.जानसन ने लिखा है, ''निबंध मस्तिष्क की सहसा उठी हुई अनियंत्रित, विश्रंखलित , उन्मुक्त कल्पना शक्ति का परिणाम है'' यही कारण है कि निबंध के जन्मदाता मानटेन से लेकर वर्तमान तक ललित निबंधकार यह स्वीकार करते हैं कि निबंधों में मर्मस्पर्शिता व मौलिक व्यक्तित्व की छाप होनी चाहिए, सुप्रसिद्ध आलोचक हडसन ने तो 'व्यक्तिगत निबंध' को ही यथार्थ निबंध माना है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी 'हिंदी साहित्य का इतिहास' (पृष्ठ-505) में निबंध साहित्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है, ''आधुनिक पाश्चात्य लक्षणों के अनुसार निबंध उसी को कहना चाहिए जिसमें व्यक्तित्व या व्यक्तिगत विशेषता हो। व्यक्तिगत विशेषता का यह मतलब नहीं कि उसके प्रदर्शन के लिए विचारों की श्रंखला रखी ही न जाए या जानबूझ कर जगह-जगह तोड़ दी जाए। एक ही बात को लेकर किसीका मन किसी संबंध-सूत्र पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। वयक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है।'' उसी बात को सुप्रसिद्ध आलोचक डॉ. सत्येन्द्र ने स्पष्ट करते हुए लिखा '' निबंध के सम्बंध में यह बात आज निशिचत-सी मान ली गई है कि वह आत्माभिव्यक्ति का ही साधन है। अत: चाहे कोई विषय हो या विषय की कोई शाखा हो, उसमें व्यक्तिपरकता अवश्य होनी चाहिए।'' अपनी पुस्तक चिन्तामणि के आरम्भ में आचार्य शुक्ल ने लिखा है, '' इस पुस्तक में मेरी अन्तर्यात्रा के पड़ने वाले कुछ प्रदेश है। यात्रा के लिए निकलती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलों में पहुँची है, वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कुछ-कुछ सहता गया है। इस प्रकार यात्रा के श्रम का परिहार होता है। बुद्धि-पथ पर हृदय भी अपने लिए कुछ-न-कुछ पाता रहा है। इस बात का निर्णय विज्ञ पाठकों पर छोड़ता हूँ कि निबंध विषयप्रधान है कि व्यक्तिप्रधान।'' परन्तु आचार्य रामचंद्र शुक्ल के निबंध वास्तव में कहीं विषय प्रधान है तो कही व्यक्ति प्रधान। उनके निबंधों में हृदय तथा बुद्धि तत्व का सुमधुर समावेश है। तब ही तो रोचकता लाने के लिए कहीं-कहीं लोक प्रचलित कथाओं को गूंथा है तो कहीं अपने जीवन से घटनाओं, दृश्यों आदि का प्रसंग देकर विषय को स्पष्ट किया है। साथ ही शैली में अद्भुत वक्रता, तीक्ष्णता, कथन की विचित्रता अर्थशक्ति से नीरसता को तो दूर किया ही है, जरूरत पड़ने पर चोट करने

से भी नहीं चूके हैं। उनके निबंधों में प्राप्त व्यंग्य-आक्षेप, हास-परिहास तथा वक्रता की त्रिवेणी में पाठक सहज भाव से अवगाहन करता चलता है। विचारों की गहराई के बीच व्यक्तिगत बातों और व्यंग्य विनोद से व्याख्या भी रूचिकर हो गई है। निबंधों के माध्यम से आचार्य शुक्ल का सम्पूर्ण व्यक्तित्व पाठक के सामने आ जाता है।

हम देख सकते हैं कि निबंध साहित्य के माध्यम से आचार्य शुक्ल का लेखन मानदण्ड स्थापित करता है। शुक्ल जी के चिंतामणि में संकलित मनोविकार संबंधी निबंध अपनी वैचारिकी के कारण न केवल हिन्दी साहित्य अपितु अन्यान्य भारतीय साहित्य में भी स्मरणीय रहेंगे। विद्धानों ने आचार्य शुक्ल के चिंतामणि में संकलित निबंधों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया है।

(क)भाव सबंधी निबंध- 'करूणा', 'श्रृद्धा-भक्ति', 'उत्साह', 'लज्जा और ग्लानि', 'लोभ और प्रीति', 'ईर्ष्या', 'भय तथा क्रोध', 'घृणा', शीर्षक निबंध इसी कोटि में रखे जाऐंगे।

(ख)आलोचनात्मक निबंध- 'कविता क्या है', 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था', 'साधारणीकरण एंव व्यक्ति वैचित्र्यवाद ' तथा 'रसात्मक बोध के विविध' रूप इस श्रेणी के निबंध है। 'तुलसी का भक्ति-मार्ग', एवं 'भारतेंदु हरिश्चन्द्र' भी इसी कोटि के निबंध है।

(ग)आलोचनात्मक प्रबंध- 'काव्य में रहस्यवाद', 'काव्यमें अभिव्यंजनावाद इस कोटि के निबंध हैं।

यदि शुक्ल जी के निबंधों को शास्त्रीय वर्गीकरण से अलग हट कर देखा जाए तो भी उनक निबंध अपना मापदण्ड स्वयं स्थापित करते चलते हैं। और जैसा कि डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है, ''उनकी विचार पद्धति बहुत कुछ सुनियोजित है। आरंभ में वे प्रतिपाद्य विषय को नपी-तुली शब्दावली में प्रस्तुत करते हैं। कोशिश करते है कि विवेच्य विषय की सभी विशेषताओं को सूत्रबह करकेउसे परिभाषित कर दिया जाए। 'श्रृद्धा-भक्ति', 'उत्साह', 'लज्जा', 'प्रेम', 'घृणा', 'भय', 'ईर्ष्या' एवं 'करूणा' आदि मनोभावों को उन्होंने परिभाषित भी किया है। उसके बाद विषय को स्पष्ट करने के लिए वे उससे सबंद्ध विचार-सूत्रों को विस्तार देने या फैलाने के क्रम में वे मनोभाव-विशेष की वर्गगत पहचान, उसके समकक्ष रखे जा सकने वाले मनोभावों से उसकी समता-विषमता, उसकी प्रेष्यता-उप्रेष्यता, समाज पर उसके शुभ-अशुभ प्रभावों आदि की चर्चा करते हैं। अपने निबंधों के अन्त में वे प्राय: अपने पूरे प्रतिपाद्य को साफ-सुथरे ढंग से संक्षेप में प्रस्तुत कर देते हैं'' यह सर्वविदित है कि शुक्ल जी के निबंध विचारात्मक शैली समास-प्रधान है। विचारों के गूढ़ गुंफन इसी शैली में संभव है। भावात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने प्राय: वहाँ किया है, जहाँ उनका मन विधाता द्वारा रचित उस विश्व-काव्य की रमणीयता देखकर मुग्ध हो गया है या जहाँ अपने काव्य नायक राम के शील का उत्कर्ष देखकर वे स्वयं अभिभूत हो गए हैं। वर्णनात्मक शैली का प्रयोग शुक्ल जी ने बहुत कम किया है। विचारात्मक शैली शुक्ल जी की पहचान है। शुक्ल जी की शैली कहीं-कहीं उतनी सघन हो जाती है कि वे सूत्र-वाक्यों की रचना करने लगते हैं। उनके कुछ प्रमुख सूत्र-वाक्य निम्न हैं।

1.भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। (भाव या मनोविकार)

2.यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रृद्धा जागरण है। (श्रद्धा-भक्ति)

3.मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। (करूणा)
4.ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार होता है। (कविता क्या है ?)

बोध प्रश्न-

(क)लघु उत्तरीय प्रश्न

(1)डॉ. जॉनसन के अनुसार निबंध की परिभाषा दीजिए।
(2) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के भाव संबंधी निबंध कौन-कौन से है।

(ख)अति लघु उत्तरीय प्रश्न-

(1)आचार्य रामचंद्र शुक्ल के किन्हीं दो निबंधों के नाम लिखिए।

(क)अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(1)आचार्य रामचंद्र शुक्ल की जन्म एवं मृत्यु कब हुई थी ?
(2)'हिन्दी साहित्य के इतिहास' का प्रकाशन वर्ष लिखिए .
(3)आचार्य शुक्ल का प्रथम निबंध-संग्रह कौन सा था ?

(ख)सही विकल्प चुलिए

(।) इनमें से कौन सा निबंध आचार्य शुक्ल द्वारा अनुवादित निबंध है-
(क)मित्रता
(ख)विश्व प्रपंच
(ग)वॉट हैज इण्डिया टू डू
(घ)कल्पना का आनंद

4.5 निबंध का पाठ : करूणा

जब बच्चे को संबंध ज्ञान कुछ-कुछ होने लगता है तभी दु:ख के उस भेद की नींव पड़ जाती है जिसे करूणा कहते हैं। बच्चा पहले परखता है कि जैसे हम हैं वैसे ही ये और प्राणी भी हैं और बिना किसी विवेचना क्रम के स्वाभाविक प्रवृत्ति द्वारा, वह अपने अनुभवों का आरोप दूसरे प्राणियों पर करता है। फिर कार्यकारण संबंध से अभ्यस्त होने पर दूसरों के दु:ख के कारण या कार्य को देखकर उनके दु:ख का अनुमान करता है और स्वयं एक प्रकार का दु:ख अनुभव करता है। प्राय: देखा जाता है कि जब माँ झूठमूठ 'ऊं ऊं ' करके रोने लगती है तब कोई-कोई बच्चे भी रो पड़ते हैं। इसी प्रकार जब उसके किसी भी भाई या बहिन को कोई मारने उठता है तब वे कुछ चंचल हो उठते हैं।

दु:ख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार के करूणा का उलटा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करूणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है, उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है। किसी पर प्रसन्न होकर भी लोग उसकी भलाई करते हैं। इस प्रकार पात्र की भलाई की उत्तेजना दु:ख और आन्नद दोनों की श्रेणियों में रखी गई है। आनंद की श्रेणी में ऐसा कोई शुद्ध मनोविकार नहीं है, जो पात्र की हानि की उत्तेजना करे, पर दु:ख की श्रेणी में ऐसा मनोविकार है

जो पात्र की भलाई की उत्तेजना करता है। लोभ से, जिसे मैंने आनंद की श्रेणी में रखा है, चाहे कभी-कभी और व्यक्तियों या वस्तुओं की हानि पहुँच जाए पर जिसे जिस व्यक्ति या वस्तु का लोभ होगा, उसकी हानि वह कभी न करेगा। लोभी महमूद के सोमनाथ को तोड़ा, पर भीतर से जो जवाहरात निकले उनको खूब सँभालकर रखा। नूरजहाँ के रूप में लोभी जहाँगीर ने शेर अफगन को मरवाया, पर नूरजहां को बड़े चैन से रखा।

ऊपर कहा जा चुका है कि मनुष्य ज्यों ही समाज में प्रवेश करता हे, उसके सुख और दु:ख का बहुत सा अंश दूसरे की क्रिया या अवस्था पर अवलंबित हो जाता है और उसके मनोविकारों के प्रवाह तथा जीवन के विस्तार के लिए अधिक क्षेत्र हो जाता है। वह दूसरों के दु:ख से दु:खी और दूसरों के सुख से सुखी होने लगता है। अब देखना यह है कि दूसरों के दु:ख से दु:खी होने का नियम जितना व्यापक है क्या उतना ही दूसरों के सुख से सुखी होने का भी। मैं समझता हूँ, नहीं। हम अज्ञात कुलशील मनुष्य के दु:ख को देखकर भी दु:खी होते हैं। किसी दु:खी मनुष्य को सामने देख हम अपना दु:खी होना तब तक के लिए बन्द नहीं रखते जब तक कि यह न मालूम हो जाए कि वह कौन है, कहाँ रहता है और कैसा है, यह और बात है कि यह जानकर कि जिसे पीड़ा पहुँच रही है उसने कोई भारी अपराध या अत्याचार किया है, हमारी दया दूर या कम हो जाए। ऐसे अवसर पर हमारे ध्यान के सामने वह अपराध या अत्याचार आ जाता है और उस अपराधी या अत्याचारी का वर्तमान क्लेश हमारे क्रोध की तुष्टि का साधक हो जाता है।

सारांश यह है कि करूणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दु:ख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षा नहीं। पर आनंदित हम ऐसे ही आदमी के सुख को देखकर होते हैं जो या तो हमारा सुहृद या संबंधी हो अथवा अत्यंत सज्जन, शीलवान् या चरित्रवान् होने के कारण समाज का मित्र या हितकारी हो। यों ही किसी अज्ञात व्यक्ति का लाभ या कल्याण सुनने से हमारे हृदय में किसी प्रकार के आनंद का उदय नहीं होता। इससे प्रकट है कि दूसरों के दु:ख से दु:खी होने का नियम बहुत व्यापक है और दूसरों के सुख से सुखी होने का नियम उसकी अपेक्षा परिमित है। इसके अतिरिक्त दूसरों को सुखी देखकर जो आनंद होता है उसका न तो कोई अलग नाम रखा गया है और न उनमें वेग या प्रेरणा होती है। पर दूसरों के दु:ख के परिज्ञान से जो दु:ख होता है, वह करूणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है। जबकि अज्ञात व्यक्ति के दु:ख पर दया बराबर उत्पन्न होती है तो जिस व्यक्ति के साथ हमारा अधिक संसर्ग होता है, जिसके गुणों से हम अच्छी तरह परिचित रहते हैं, जिसका रूप हमें भला मालूम होता है उसके उतने ही दु:ख पर हमें अवश्य अधिक करूणा होगी। किसी भोली भाली सुंदरी रमणी को, किसी सच्चरित्र परोपकारी महात्मा को, किसी अपने भाई बंधु को दु:ख में देख, हमें अधिक व्याकुलता होगी। करूणा की तीव्रता का सापेक्ष विधान जीवन निर्वाह की सुगमता और कार्य विभाग की पूर्णता के उद्देश्य से समझना चाहिए। मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्विकता का आदि संस्थापक यही मनोविकार है। मनुष्य की सज्जनता या दुर्जनता अन्य प्राणियों के साथ उसके संबंध या संसर्ग द्वारा ही व्यक्त होत है। यदि कोई मनुष्य जन्म से ही किसी

निर्जन स्थान में अपना निर्वाह करे तो उसका कोई कर्म सज्जनता या दुर्जनता की कोटि में न आएगा। उसके सब कर्म निर्लिप्त होंगे। संसार में प्रत्येक प्राणी के जीवन का उद्देश्य दु:ख की निवृत्ति और सुख की प्राप्ति है। अत: सबके उद्देश्य को एक साथ जोड़ने से संसार का उद्देश्य सुख का स्थापन और दु:ख का निराकरण हुआ। अत: जिन कर्मो से संसार के इस उद्देश्य के साधन हों वे उत्तम हैं। प्रत्येक प्राणी के लिए उससे भिन्न प्राणी संसार है। जिन कर्मो से दूसरे के वास्तविक सुख का साधन और दु:ख की निवृत्ति हो वे शुभ और सात्विक हैं तथा जिस अंत:करणवृति से इन कर्मों में प्रवृत्ति हो वह सात्विक है। कृपा या अनुग्रह से भी दूसरों के सुख की योजना की जाती है, पर एक तो कृपा अनुग्रह में आत्मभाव छिपा रहता है और उनकी प्रेरणा से पहुँचाया हुआ सुख एक प्रकार का प्रतिकार है। दूसरी बात यह है कि नवीन सुख की योजना की अपेक्षा प्राप्त दु:ख की निवृत्ति की आवश्यकता अत्यंत अधिक हैं।

दूसरे के उपस्थित दु:ख से उत्पन्न दु:ख का अनुभव अपनी तीव्रता के कारण मनोविकारों की श्रेणी में माना जाता है पर अपने भावी आचरण द्वारा दूसरे के संभाव्य दु:ख का ध्यान या अनुमान, जिसके द्वारा हम ऐसी बातों से बचते हें जिनसे अकारण दूसरे को दु:ख पहंचे, शील या साधारण सद्वृति के अंतर्गत समझा जाता है। बोलचाल की भाषा में तो 'शील' शब्द से चित्त की कोमलता या मुरौवत ही का भाव समझा जाता है, जैसे- 'उनकी आँखों में शील नहीं है', 'शील तोड़ना अच्छा नहीं', दूसरों का दु:ख दूर करना और दूसरों को दु:ख न पहुँचना इन दोनों बातों का निर्वाह करने वाला नियम न पालने का दोषी हो सकता है, पर ऐसा नहीं जिससे किसी का कोई काम बिगड़े या जी दुखे। यदि वह किसी अवसर पर बड़ों की कोई बात न मानेगा तो इसलिए कि वह उसे ठीक नहीं जॅचती या वह उसके अनुकूल चलने में असमर्थ है, इसलिए नहीं कि बड़ों का अकारण जी दुखे। मेरे विचार में तो 'सदा सत्य बोलना', 'बड़ों का कहना मानना' ये नियम के अंतर्गत हैं, शील या सद् भाव के अंतर्गत नहीं। झूठ बोलने से बहुधा बड़े-बड़े अनर्थ हो जाते हैं इसी से उसका अभ्यास रोकने के लिए यह नियम कर दिया गया कि किसी अवस्था में झूठ बोला ही न जाए। पर मनोरंजन, खुशामद और शिष्टाचार आदि के बहाने संसार में बहुत सा झूठ बोला जाता है जिस पर कोई समाज कुपित नहीं होता। किसी-किसी अवस्था में तो धर्मग्रन्थों में झूठ बोलने की इजाजत तक दे दी गई है, विशेषत: जब इस नियम भंग द्वारा अंत:करण की किसी उच्च और उदार वृति का साधन होता हो। यदि किसी के झूठ बोलने से कोई निरपराध और निस्सहाय व्यक्ति अनुचित दंड से बच जाए तो ऐसा झूठ बोलना बुरा नहीं बतलाया गया है क्योंकि नियम शील या सद्वृति का साधक हैं, समकक्ष नहीं। मनोवेग वर्जित सदाचार दंभ या झूठी कवायद है। मनुष्य के अंत:करण में सात्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करूणा है। इसी से जैन और बौद्धधर्म में इसको बड़ी प्रधानता दी गई है और गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है-

पर उपकार सरिस न भलाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई।।

यह बात स्थिर और निर्विवाद है कि श्रद्धा का विषय किसी न किस रूप में सात्विक शील ही होता है। अत: करूणा और सात्विकता का संबंध इस बात से और भी सिद्ध होता है कि किसी पुरूष को दूसरे पर करूणा करते देख तीसरे को करूणा करने वाले पर श्रद्धा उत्पन्न होती है। किसी प्राणी में

और किसी मनोवेग को देख श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। किसी को क्रोध, भय, ईर्ष्या, घृणा, आनंद आदि करते देख लोग उस पर श्रद्धा नहीं कर बैठते। क्रिया में तत्पर करने वाली प्राणियों की आदि अंत:करणवृति मन का मनोवेग है। अत: इन मनोवेगों में जो श्रद्धा का विषय हो वही सात्विकता का आदि संस्थापक ठहरा। दूसरी बात यह भी ध्यान देने की है कि मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं। बुद्धि दो वस्तुओं के रूपों को अलग-अलग दिखला देगी, यह मनुष्य के मन के वेग या प्रवृति पर है कि वह उनमें से किसी एक को चुनकर कार्य में प्रवृत्त हो। यदि विचार कर देखा जाए तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि अंत:करण की सारी वृत्तियॉ केवल मनोवेगों की सहायक हैं, वे भावों या मनोवेगों के लिए उपयुक्त विषय मात्र ढूंढती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति पर भाव को और भावना को तीव्र करने वाले कवियों का प्रभाव प्रकट ही है।

प्रिय के वियोग से जो दु:ख होता है उसमें कभी-कभी दया या करूणा का भी कुछ अंश मिला रहता है। ऊपर कहा जा चुका है कि करूणा का विषय दूसरे का दु:ख है। अत: प्रिय के वियोग में इस विषय की भावना किस प्रकार होती है, यह देखना है। प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय में डालता है। प्रिय व्यक्ति के सामने रहने से उसके सुख का जो निश्चय होता रहता है, वह उसके दूर होने से अनश्चिय में परिवर्तित हो जाता है। अत: प्रिय के वियोग पर उत्पन्न करूणा का विषय प्रिय के सुख का निश्चय है। जो करूणा हमें साधारणजनों के वास्तविक दु:ख के परिज्ञान से होती है, वही करूणा हमें प्रियजनों के सुख के अनिश्चय मात्र से होती है। साधारणजनों का तो हमें दु:ख असह्य होता हैद्व पर प्रियजनों के सुख का अनिश्चय ही। अनिश्चय बात पर सुखी या दु:खी होना ज्ञानवादियों के निकट अज्ञान है, इसी से इस प्रकार के दु:ख या करूणा को किसी-किसी प्रांतिक भाषा में 'मोह' भी कहते हैं। सारांश यह कि प्रिय से वियोगजनित दु:ख में जो करूणा का अंश रहता है उसका विषय प्रिय के सुख का अनिश्चय है। राम जानकी के वन चले जाने पर कौशल्या उनके सुख के अनिश्चय पर इस प्रकार दु:खी होती है-

बन को निकरि गए दोउ भाई।
सावन गरजै, भादों बरसै, पवन चलै पुरवाई।
कौन बिरिछ तर भीजत ह्वै हैं राम लखन दोउ भाई। (गीतावली)

प्रेमी को यह विश्वास कभी नहीं होता कि उसके प्रिय के सुख का ध्यान जितना वह रखता है उतना संसार में और भी कोई रख सकता है। श्रीकृष्ण गोकुल से मथुरा चले गए जहॉ सब प्रकार का सुख वैभव था, पर यशोदा इसी सोच में मरती रहीं कि-

प्रात समय उठि माखन रोटी को बिन मांगे दैहै ?
को मेरे बालक कुंवर कान्ह को छिन-छिन आगे लैहै ?

और उद्धव से कहता है-

संदेसो देवकी सों कहियो।
हों तो धाय तिहारो सुत को, कृपा करत ही रहियो।।

उबटन, तेल और तातों जल, देखत ही भजि जाते।
जोइ जोइ मांगत सोइ सोइ देती, क्रम क्रम करि कै न्हाते।।
तुम तो टेब जानतिहि हैहो, तऊ मोहि कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल लड़ैतहि माखन रोटी भावे।।
अब यह सूर मोहि निसि बासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलकलड़ैते लालन हैहै करत सैंकोच।।

वियोग की दशा में गहरे प्रेमियों को प्रिय के सुख का अनिश्चय ही नहीं, कभी-कभी घोर अनिष्ट की आशंका तक होती है, जैसे एक पति वियोगिनी संदेह करती है-

नदी किनारे धुंआ उठत है, मैं जानूं कुछ होय।
जिसके कारण मैं जली, वही न जलता होय।।

शुद्ध वियोग का दु:ख केवल प्रिय के अलग हो जाने की भावना से उत्पन्न क्षोभ या विषाद है जिसमें प्रिय के दु:ख आदि की कोई भावना नहीं रहती।

जिस व्यक्ति से किसी की घनिष्ठता और प्रीति होती है वह उसके जीवन के बहुत से व्यापारों तथा मनोवृत्तियों का आधार हाता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। उसके जीवन का बहुत सा अंश उसी के संबंध द्वारा व्यक्त होता है। मनुष्य अपने लिए संसार आप बनाता है। संसार तो कहने सुनने के लिए है, वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। अत: ऐसे लोगों में से किसी का दूर होना उसके संसार के एक प्रधान अंश का कट जाना या जीवन के एक अंग का खंडित हो जाना है। किसी प्रिय या सुहृदय के चिरवियोग या मृत्यु के शोक के साथ करूणा या दया का भाव मिलकर चित्त को बहुत व्याकुल करता है। किसी के मरने पर प्राणी उसके साथा किए हुए अन्याय या कुव्यवहार तथा उसकी इच्छापूर्ति करने में अपनी त्रुटियों का स्मरण कर और यह सोचकर कि उसकी आत्मा को संतुष्ट करने की भावना सब दिन के लिए जाती रही, बहुत अधीर और विकल होते हैं। सामाजिक जीवन की स्थिति और पुष्टि के लिए करूणा का प्रसार आवश्यक है। समाजशास्त्र के पश्चिमी ग्रंथकार कहा करें कि समाज में एक दूसरे की सहायता अपनी अपनी रक्षा के विचार से की जाती है; यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्मक्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देने वाली किसी न किसी रूप में करूणा ही दिखाई देगी। मेरा यह कहना नहीं कि परस्पर की सहायता का परिणाम प्रत्येक का कल्याण नहीं है। मेरेकरने का अभिप्राय है कि संसार में एक दूसरे की सहायता विवेचना द्वारा निश्चित इस प्रकार के दूरस्था परिणाम पर दृष्टि रखकर नहीं की जाती बल्कि मन का स्वत: प्रवृत्त करनेवाली प्रेरणा से की जाती है। दूसरे की सहायता करने से अपनी रक्षा की भी संभावना , इस बात या उद्देश्य का ध्यान प्रत्येक,विशेषकर सच्चे सहायक को तो नहीं रहता। ऐसे विसतृत उद्देश्यों का ध्यान तो विश्वात्मा स्वयं रखती है; वह उसे प्राणियों की बुद्धि ऐसी चंचल और मुंडे मुंडे भिन्न वसतुके भरोसे नहीं छोड़ती। किस युग में और किस प्रकार मनुष्यों ने समाज रक्षा के लिए एक दूसरे की सहायता करने की गोष्ठी की होगी, यह समाजशास्त्र के बहुत से

वक्ता लोग ही जानते होंगे। यदि परस्पर सहायता की प्रवृत्ति पुरखों की उस पुरानी पंचायत ही के कारण होती और यदि उसका उद्देश्य वही तक होता जहाँ तक समाजशास्त्र के वक्ता बतलाते हैं , तो हमारी दया मोटे, मुस्टंडे और समर्थ लोगों पर जितनी होती उतनी दीन,अशक्त और अपाहिज लोगों पर नहीं, जिनसे समाज को उतना लाभ नहीं ।पर इसका बिलकुल उलटा देखने में आता है। दु:खी व्यक्ति जितना ही असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करूणा होगी। एक अनाथ अबला को मार खाते देख हमें जितनी करूणा होगी उतनी एक सिपाही या पहलवान को पिटते देख नहीं। इसस स्पष्ट है कि परस्पर सहाय्य के जो व्यापक उद्देश्य हैं उनको धारण करने वाला मनुष्य का छोटा सा अंत:करण नहीं, विश्वात्मा है। दूसरों के, विशेषतया अपने परिचितों के, थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेग रहित दु:ख होता है, उसे सहानुभूति करते हैं। शिष्टाचार में उस शब्द का प्रयोग इतना अधिक होने लगा है कि यह निकम्मा सा हो गया है। अब प्राय: इस शब्द से हृदय का काई सच्चा भाव नहीं उपजता । सहानुभूति के तार, सहानुभूति की चिट्ठियाँ लोग यों ही भेजा करते हैं। यह छद्म शिष्टता मनुष्य के व्यवहार क्षेत्र से सच्चाई के अंश को क्रमश: चरती जा रही हैं ।

करूणा अपना बीज अपने आलंबन या पात्र में नहीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करूणा की जाती है वह बदले में करूणा करने वाले पर भी करूणा नहीं करता, जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है - बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है । बहुत सी औपन्यासिक कथाओं में यह बात दिखाई गई है कि युवतियाँ दुष्टों के हाथ से अपना उद्धार करने वाले युवकों के प्रेम में फँस गई हैं। कोमल भावों की योजना में दक्ष बँगला के उपन्यास लेखक करूणा और प्रीति के मेल से बड़े ही प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करते हैं। मनुष्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में देश और काल की परिमिति अत्यंत संकुचित होती है। मनुष्य जिस वस्तु को जिस समय और जिस स्थान पर देखता है उसकी उसी समय और उसी स्थान की अवस्था का अनुभव उसे होता है। पर स्मृति, अनुमान या दूसरों से प्राप्त ज्ञान के सहारे मनुष्य का ज्ञान इस परिमिति को लांघता हुआ अपना देशकाल संबंधी विस्तार बढ़ाता है। प्रस्तुत विषय के संबंध में उपयुक्त भाव प्राप्त करने के लिए यह विसतार कभी कभी आवश्यक होता है। मनोविकारों की उपयुक्तता कभी कभी उस विस्तार पर निर्भर रहती है।किसी मार खाते हुए अपराधी के विलाप पर हमें दया आती है, पर जब हम सुनते हैं कि कई बार वह बड़े-बड़े अपराध कर चुका है, उससे आगे भी ऐसे ही अत्याचार करेगा, तो हमें अपनी दया की अनुपयुक्तता मालूम हो जाती है। ऊपर कहा जा चुका है कि स्मृति और अनुमान आदि भावों या मनोविकारों के केवल सहायक हैं अर्थात् प्रकारांतर से वे उनके लिए विषय उपस्थित करते हैं। वे कभी तो आप से विषयों को मन के सामने लाते हैं, कभी किसी विषय के सामने आने पर उससे संबंध (पूर्वापर व कार्यकारण संबंध) रखनेवाले और बहुत से विषय उपस्थित करते हैं। जो कभी तो सब के सब एक ही भाव के विषय होते हैं और उस प्रत्यक्ष विषय से उत्पन्न भाव को तव्र करते हैं; कभी भिन्न भिन्न भावों के विषय से उत्पन्न भावों को परिवर्तित या धीमा करते हैं। उससे यह स्पष्ट है कि मनोवेग या भावों को मंद या दूर करनेवाली, स्मृति, अनुमान या बुद्धि आदि कोई दूसरी अंत:करणवृत्ति नहीं है, मन का दूसरा भाव या वेग ही है।

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। नीतिज्ञों और धार्मिकों का मनोविकारों को दूर करने का उपदेश घोर पाषंड है। इस विषय में कवियों का प्रयत्न ही सच्चा है जो मनोविकारों पर सान ही नहीं चढ़ाते बल्कि उन्हे परिमार्जित करते हुए सृष्टि के पदार्थो के साथ उनके उपयुक्त संबंध निर्वाह पर जोर देते हैं। यदि मनोवेग न हो तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिलकुल जड़ है। प्रचलित सभ्यता और जीवन की कठिनता से मनुष्य अपने इन मनोवेगों के मारने और अशक्त करने पर विवश होता जाता है। वन, नदी, पर्वत आदि को देख आनंदित होने के लिए अब उसे ह्रदय में उतनी जगह नहीं। दुराचार पर उसे क्रोध या घृणा होती है पर झूठे शिष्टाचार के अनुसार उसे दुराचारी की मुँह पर प्रशंसा करनी पड़ती है। जीवन निर्वाह की कठिनता से उत्पन्न स्वार्थ की शुष्क प्रेरणा के कारण उसे दूसरे के दु:ख की ओर ध्यान देने,उस पर दया करने और उसके दु:ख की निवृत्ति का सुख प्राप्त करने की फुरसत नहीं। इस प्रकार मनुष्य ह्रदय को दबाकर केवल क्रूर आवश्यकता और कृत्रिम नियमों के अनुसार ही चलने पर विवश और कठपुतली सा जड़ होता जाता है। उसकी भवुकताकानाश होता है। पाखंडी लोग मनोवेगोंका सच्चा निर्वाह न देख, हताश हो मुँह बनाकर कहने लगे हैं-''करूणा छोडों, प्रेम छोड़ो, आनंद छोड़ो। बस हाथ पैर हिलाओं, काम करों।''

यह ठीक है कि मनोवेग उत्पन्न होना और बात है और मनोवेग के अनुसार व्यवहार करना और बात; पर अनुसारी परिणाम के निरंतर अभाव से मनोवेगों का अभ्यास भी घटने लगता है। यदि कोई मनुष्य आवश्यकतावश कोई निष्ठुर कार्य अपने ऊपर ले ले तो पहले दो चार बार उसे दया उत्पन्न होगी; पर जब बार-बार दया की प्रेरणा के अनुसार कोई परिणाम वह उपस्थित न कर सकेगा तब धीरे-धीरे उसकी दया का अभ्यास कम होने लगेगा यहाँ तक कि उसकी दया की वृत्ति ही मारी जाएगी। बहुत से ऐसे अवसर आ पड़ते हैं जिनमें करूणा आदि मनोवेगों के अनुसार काम नहीं किया जा सकता। पर ऐसे अवसरों की संख्या का बहुत बढ़ना ठीक नहीं है। जीवन में मनोवेगों के अनुसार परिणामों का विरोध प्राय: तीन वस्तुओं से होता है-

1 आवश्यकता 2. नियम, और 3. न्याय।

हमारा कोई नौकर बहुत बुड्ढ़ा और कार्य करनेमें अशक्त हो गया है जिससे हमारे काम में हर्ज होता है। हमें उसकी अवस्था पर दया जो आती है पर आवश्यकता के अनुरोध से उसे अलग करना पड़ता है। किसी दुष्ट अफसर के कुवाक्य पर क्रोध तो आता है पर मातहत लोग आवश्यकता के वश उस क्रोध के अनुसार कार्य करनेकी कौन कहे, उसका चिह् तक नहीं प्रकट होने देते। यदि कहीं पर यह नियम है कि इतना रूपया देकर लोग कोई कार्य करने पाएँ तो जो व्यक्ति रूपया वसूल करने पर नियुक्त होगा वह किसी ऐसे दीन अकिंचन को देख जिसके पास एक पैसा भी न होगा, दया तो करेगा पर नियम के वशीभूत हो उसे वह उस कार्य को करने से रोकेगा। राजा हरिश्चंद्र ने अपनी रानी शैव्या से अपने ही मृत पुत्र के कफन का टुकड़ा फड़वा नियम का अद्भुत पालन किया था। पर यह समझ रखना चाहिए कि यदि शैव्या के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री होती तो राजा हरिचंद्र के उस नियम पालन का उतना महत्व न दिखाई पड़ता; करूणा ही लोगों की श्रद्धा को अपनी ओर अधिक खींचती है। करूणा का

विषय दूसरे का दु:ख है। अपना दु:ख नहीं। आत्मीय जनों का दु:ख एक प्रकार से अपना ही है। इससे राजा हरिश्चंद्र के नियम पालन का जितना स्वार्थ से विरोध था उतना करूणा से नहीं।

न्याय और करूणा का विरोध प्राय: सुनने में आता है। न्याय से ठीक प्रतिकार का भाव समझा जाता है। यदि किसी ने हमसे 1000 रूपये उधार लिए है तो न्याय यह है कि वह हमें 1000 रूपये लौटा दे। यदि किसी ने कोई अपराध किया तो न्याय यह है कि उसको दंड मिले। यदि 1000 रू लेने के उपरांत उस व्यक्ति पर कोई आपत्ति पड़ी और उसकी दशा अत्यंत सोचनीय हो गई तो न्याय पाने के विचार का विरोध करूणा कर सकती है। इसी प्रकार यदि अपराधी मनुष्य बहुत रोता, गिड़गिड़ाता और कान पकड़ता है तथा पूर्ण दंड की अवस्था में अपने परिवार की घोर दुर्दशा का वर्णन करता है, तो न्याय के पूर्ण निर्वाह का विरोध करूणा कर सकती है। ऐसी अवस्थाओं में करूणा करनेका सारा अधिकार विपक्षी अर्थात् जिसका रूपया चाहिए या जिसका अपराध किया गया है उसको है, न्यायकर्ता या तीसरे व्यक्ति को नहीं। जिसने अपनी कमाई के 1000 रू अलग किए या अपराध द्वारा जो क्षतिग्रस्त हुआ. विश्वात्मा उसी के हाथ में करूणा ऐसी उच्च सद्वृत्ति के पालन का शुभ अवसर देती है। करूणा सेंत का सौदा नहीं है। यदि न्यायकर्ता को करूणा है तो वह चाहे तो दुखिया ऋणी को हजार, पांच सौ अपने पास से दे दे या दंडित व्यक्ति तथा उसके परिवार की और प्रकार से सहायता कर दे। उसके लिए भी करूणा का द्वारा खुला है।

4.6 निबंध का सार : करूणा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित मनोविकार सम्बंधी निबंधों में 'करूणा' का अत्यधिक महत्त्व है। यह निबंध आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सर्वश्रेष्ठ निबंधों में से एक है।

दूसरों के दुख के परिज्ञान से जो दुख होता है वह करूणा दया आदि नामों से पुकारा जाता है। करूणा दुख का ही एक भेद है। करूणा का उल्टा क्रोध है क्योंकि उसके उत्पन्न होने पर हम दूसरों की हानि की चेष्टा करते हैं। करूणा उत्पन्न होने पर उसकी भलाई का उद्योग करते हैं। दूसरी तरफ लोभ आनंद की श्रेणी में है पर लोभी अपनी प्रिय वस्तु को हानि नहीं पहुँचाता है, उल्टे रक्षा करता है।

मनष्य समाजिक प्राणी है और उसके सुख-दुख का बहुत सा अंश दूसरों के कामों और उनकी अवस्था पर निर्भर करता है। दूसरों के दुख से दुखी होना और सुख से सुखी होना उसके लिए स्वाभाविक है। जहाँ यह नियम है वहाँ यह भी देखा गया है कि हम दूसरों के सुख से सुखी होने की अपेक्षा उनके दुख से दूखी अधिक और शीघ्र होते हैं। करूणा की तीव्रता का सापेक्ष-विधान जीवन निर्वाह की सुगमता और कार्यविभाग की पूर्णता के उद्देश्य से समझना चाहिए यह भी स्वाभाविक ही है कि परिचितों के दुख पर हम अपरिचितों के दुख से अधिक दुखी होते हैं।

कृपा और करूणा में भेद यह है कि कृपा में आत्मभाव छिपा रहता है और उसके द्वारा पहुँचाया सुख एक प्रकार का प्रतीकार है। पर करूणा द्वारा पहुँचाया सुख दु:ख की निवृत्ति है जिसकी जीवनमें अत्यन्त आवश्यकता है। प्रिय के वियोजनित दुख में करूणा का जो अंश रहता है उसका विषय प्रिय

के सुख का अनिश्चय है। अनिश्चयत बात पर दुखी होना ज्ञानियों के निकट अज्ञान है। इसीलिए किसी प्रान्तीय भाषा में करूणा को मोह भी कहते है। मनुष्य संसार आपने आप बनाता है। संसार कहने सुनने के लिए है।

वास्तव में किसी मनुष्य का संसार तो वे ही लोग हैं, जिनसे उसका संसर्ग या व्यवहार है। सहानुभूति उस वेग सहित दु:ख को कहते हैं जो अपने परिचितों के थोड़े से क्लेश या दु:ख को देखकर होती है। करूणा में आदान – प्रदान का भाव नहीं रहता तथा साथ ही स्मृति और अनुमान, भावों के केवल सहायक हैं। जीवन में मनोवेगों को मारना अच्छा नहीं है। करूणा का सीधा और व्यवहारिक संबंध ह्रदय की सत्यता, तटस्थता एवं आत्मिक त्याग से है। करूणा के साथ-साथ शुद्ध असत्यता को नहीं रखा जा सकता ,करुणा शुद्ध, सात्विक मनोविकार है।

4.7 करूणा : संदर्भ सहित व्याख्या

(क) जब बच्चे को ..... चैन से रक्खा।

शब्दार्थ - संबंध ज्ञान – संयोग या संगति से प्राप्त ज्ञान

करूणा - दुख का वह भेद जिसका संबन्ध ज्ञान से है

विवेचनक्रम - भले बुरे ज्ञान, निर्णय

आरोप - संस्थापन, कल्पाना

कार्य- कारण सम्बन्ध- प्रत्येक कार्य के मूल में एक कारण होता है।

अभ्यस्त - आदी, चेष्टा, प्रयास

उद्योग – प्रयत्न उत्तेजना, प्रोत्साहन

वाक्यार्थ - बिना संबंध की प्रवृत्ति को जाने दुख की आधारभूमि पर स्थापितकरूणा नाम मनोविकार की नींव नहीं पड़ती जब एक छोटा बच्चा पहले-पहले अपने और दूसरे व्यक्ति के मध्य के संबंध को जानता है तभी वह करूणा के स्वरुप या मानसिकता को समझ सकता है। एक बार संबंधों की पहचान हो जाने पर ही दुख की अधिकता के फलस्वरूप मानव दुख की वास्तविक अनुभूति को समझता चलता है। दुख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करूणा का उल्टा क्रोध है. करूणा और क्रोध दोनों की उत्पत्ति कुछ दुख से है पर परिणाम दोनों का भिन्न है। करूणा के द्वारा हम दूसरे को लाभ पहुंचाते हैं परन्तु क्रोध के द्वारा हम दूसरे को हानि ही पहुंचाना चाहते हैं।

(ख) ऊपर कहा जा..... हो जाता है।

शब्दार्थ - अवलम्बित - आधारित

प्रवाह - प्रसार, फैलाव

तुष्टि - सुख सनतोष, आनंद

अपेक्षा - आवश्यकता

सुह्रदय - प्रिय,

परिज्ञान - निश्चय, परिचय
निर्जन - एकान्त, निर्वाह- वयतीत, कोटि-श्रेणी
निर्लिप्त - नि:स्वार्थ
वितृत्ति - छुटकारा, त्याग
निराकरण - दूर करना, त्याग
प्रतीकर - बदला
आत्मभाव - अपनापन

वाक्यार्थ- जैसा कि पहले कहा गया था कि जब मनुष्य के मनोविकारों के क्षेत्र का फैलाव मनुष्य के सामाजिक संबंधों की अपेक्षा में होते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य का सामाजिक दायरा बढ़ता जाता है वैसे-वैसे मनुष्य का आन्तरिक मनोजगत भी अपना विस्तार करता जाता है। समान्यत: हमें दूसरों का दुख देखकर दुख होता है तथा उत्साह एवं सुख देखकर उत्साहित एवं सुखी अनुभव करता है। निबंधकार मानवीय स्वाभाव की एक विशेष प्रवृत्ति की तरफ इंगित करते हुए कहता है कि यह बात सत्य है कि हम किसी अंजान व्यक्ति के दुख को देखकर स्वयं दुखित हो जाते हैं परन्तु किसी राह चलते अंजान व्यक्ति की खुशी को देखकर खुशी का अनुभव नहीं करने लगते हैं। साथ ही यदि किसी व्यक्ति के दुख का कारण उसके बुरे तथा अमानवीय कार्य है तो उस स्थिति में हमारा उस अपराधी व्यक्ति के लिए दुख खत्म होकर क्रोध का रूप धारण कर लेता है।

(ग) दूसरों के दुख .....नहिं अधमाई।

शब्दार्थ- तीव्रता - अधिक्य, तेजी
शील - सदाचार
सद्वृत्ति - बोलचाल में चित्त की कोमलता
कुपित - क्रोधित, नाराज
समकक्ष - समान
वर्जित - रहित, त्याज्य

वाक्यार्थ - आचार्य शुक्ल कहते हैं कि सुख एवं दुख मनुष्य के भीतर मनोजनित मनोविकारों की विशिष्ट श्रेणी के भाव है। शील या सदाचार सम्बंधी करूणा और सहानुभूति में अनतर है। पहले में विवेक है, दूसरे में प्रबल गति। शील का सीधा संबंध मानव के भीतर स्थापित नैतिक सत्यता एवं उसकी दृढ़ता से है। उसके समकक्ष रूखे नियम बंधन को नहीं रखा जा सकता है. सिद्धान्तों की सहायता से आप सदाचार का निर्माण कर सकते हैं-उनसे सहायता ले सकते हैं पर नियम और शील को बराबर कहना बड़ी भूल कही जाएगी शील का संबंध भान सत्य से न होकर मनुष्य की मूल नैतिक प्रवृत्ति से होता है जबकि नियम- सिद्धान्त का ताल्लुक मात्र अपराध-दण्ड विधान से होता है। जिस काम के करने को अन्त: कारण स्वीकार न करेंउसे करना पाखण्ड है। बिना वास्तविक भावों के आचरण करना दिखावा है, मनुष्य के मन में सात्विकता की ज्योति जगाने वाली यही करूणा है। महाकवि तुलसीदास

के शब्दों को उद्धृत करते हुए लेखक कहता है कि- ''दूसरों का अच्छा करने के अतिरिक्त और कोई बड़ा धर्म नहीं एवं साथ ही दूसरों को पीड़ा पहुँचने के अतिरिक्त और कोई बड़ी दुष्टता नहीं।

(घ) जिस व्यक्ति .....विकल होते हैं।

शब्दार्थ – व्यक्त – प्रगट

खण्डित - टूटना, भ्रष्ट होना

कुव्यवहार - दुर्व्यवहार

विश्वात्मा - ईश्वर

चंचल - अस्थिर

मुण्डे-मुण्डे भिन्न वस्तु- प्रत्येक व्यक्ति अलग है

वक्ता - भाषणकर्ता, बोलने वाला।

वाक्यार्थ - अपने जीवन में हम जिस भी व्यक्ति से घनिष्ठ रूप से संबंधित होते हैं वह हमारे जीवन के बहुत से मनोभावों से सम्बंध रखते हैं हम अपना सामाजिक जीवन स्वयं ही निर्मित करते हैं। हम जिन व्यक्तियों के साथ रहते हैं वही हमारे सामाजिक जीवन की प्रवृत्ति को निश्चित करते हैं. करूणा का तीव्रता के साथ हमारे भीतर उपस्थित होना इसी प्रिय व्यक्ति के आंशिक अथवा पूर्ण वियोग पर निर्भर करता है. वियोग के पश्चात् उस व्यक्ति से संबंध स्मृतियाँ हमारे मन में निरंतर उपस्थित होती है तथा पूर्व में घटित प्रत्येक घटना का स्मरण क्रमश: होता जाता है।

(ड) करूणा अपना बीज ..... न रहती है।

शब्दार्थ आलंबन - सहारा, आधार, कारण

औपन्यासिक - उपन्यासपरक, उपन्यास से संबंधित

प्रभावोत्मादक - अति प्रभावकारी

दक्ष - चतुर प्रवीण

परिमित - सीमा के भीतर, छोटा

वाक्यार्थ - प्रस्तुत गद्यांश की प्रथम पंक्ति एक विशिष्ट सूक्ति है जो कि सम्पूर्ण निबंध की बीज पंक्ति है । लेखक कहता है कि किसी के प्रति प्रदर्शित करूणा के बदले कभी करूणा नहीं पाई जाती है। यदि हम किसी के प्रति प्रेम प्रदर्शित करते हैं तो बदले में प्रेम पाते हैं वैसे ही यदि हम किसी के प्रति क्रोध प्रदर्शित करते हैं तो बदले में हमें भी क्रोध अथवा घृणा प्राप्त होती है परन्तु यदि हम किसी के प्रति करूणा प्रदर्शित करते हैं तो उसके बदले हमें करूणा प्राप्त नहीं होती है। आचार्य शुक्ल के अनुसार आमान्य रूप से मनुष्य का ज्ञान संकुचित होती है। मनुष्य को जितना जगत-रूप-व्यापार सीधे दिखई देता है वही उसका ज्ञान क्षेत्र होता है परनतु अपनी स्मृति एवं मनोविकारों की सहायता से मनुष्य अपने ज्ञान एवं अनुभव क्षेत्र का बहुविध विकास करता चलता है। मानव मन के मनोविकारों का वास्तविक महत्व यही है कि वह मानव मात्र के ज्ञान, अनुभव व समाज का विस्तार प्रत्यक्ष दृष्टि की अपेक्षा अधिक करता है।

4.8 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप

• आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के सम्पूर्ण व्यक्तिगत एवं साहित्यिक जीवन को जान चुके होंगे।

• आचार्य शुक्ल के साहित्यिक व्यक्तित्व के क्रमबद्ध विकास तथा हिन्दी साहित्य में उनके महत्त्वको जान चुके होंगे।

• मानव मन के भीतर व्याप्त मनोविकारों में महत्वपूर्ण 'करूणा' के भाव की जानकारी तथा उसकी आंतरिक बुनावट को समझ गए होंगे।

• मानव जीवन में 'करूणा' के महत्त्व तथा साहित्य में करूणा की उपयोगिता एवं उसकी प्रायोगिक अभिव्यक्ति का ज्ञान प्राप्त कर चुके होंग

4.9 शब्दावली

संबंधज्ञान	-	संयोग से प्राप्त ज्ञान
विवेचनक्रम	-	भले-बुरे का निर्णय
परिज्ञान	-	निश्चय, परिचय
निवृत्ति	-	छुटकारा
पूर्वापर	-	आगे पीछे का
मातहत	-	नीचे काम करने वाला कर्मचारी
अंकिचन	-	निर्धन
वैचारिक	-	विचार से संबंधित
प्रवृत्ति	-	आदत
परिमार्जित	-	शुद्ध
अशक्त	-	दुर्बल
छद्म शिष्टता	-	बनावटी व्यवहारिक रूप,

4.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(1) करुणा ,उत्साह, काव्य में प्राकृतिक - दृश्य, कविता क्या है .

(क) अति लघु उत्तरीय प्रश्न-

1. जन्म सन् 4 अक्टूबर 1884 , मृत्यु 2 फरवरी 1941
2. 1929 ई.
3. विचार वीथी (1930 ई.)

(ख) सही विकल्प चुनिए- 1. कल्पना का आनंद

4.11 संदर्भ ग्रंथ सूची

1.आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामचन्द्र तिवारी,2005, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली पृ. 7-10
2.हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ 505
3.हिन्दुस्तानी त्रैमासिक, इलाहाबाद, पृष्ठ 137
4.चिंतामणि- भाग 1, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशन संस्थान दिल्ली
5.आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामचंद्र तिवारी, 2005, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ- 43
6.आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रन्थावली (सं.) ओमप्रकाश सिंह, 2007, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृष्ठ. 366-374
7.चिंतामणि दर्शन,डा. हरिहरनाथ टण्डन, 1957, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, पृष्ठ- 157-159

4.12 सहायक पाठ्य सामग्री

1.आचार्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली (सं.) ओमप्रकाश सिंह, 2007, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली
2.आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
3.आचार्य रामचंद्र शुक्ल का चिंतन जगत, कृष्णदत्त पालीवाल, 1984
4.रामचंद्र शुक्ल, मलयज, 1987, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली।
5.आचार्य रामचंद्र शुक्ल, रामचन्द्र तिवारी,2005, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली

4.13 निबंधात्मक प्रश्न

(क) आचार्य रामचंद्र शुक्ल का जीवन एवं साहित्यिक परिचय विस्तार से लिखिए।
(ख) हिन्दी साहित्य में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के महत्व को प्रतिपादित करते हुए करूणा निबंध का सार अपने शब्दों में लिखिए।

इकाई 5 : पंडितों की पंचायत: परिचय, पाठ एवं आलोचना

इकाई की रूपरेखा

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
5.3.1 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : व्यक्तित्व
5.3.2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : कृतित्व
5.3.3 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : निबंध साहित्य
5.4 'पंडितों की पंचायत': परिचय
5.5 'पंडितों की पंचायत': पाठ
5.6 पंडितों की पंचायत : सार
5.7 सारांश
5.8 शब्दावली
5.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.11 निबंधात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अध्ययन से पूर्व आपने हिन्दी साहित्य के निबंध विद्या का शास्त्रीय अध्ययन कर लिया है तथा साथ ही क्रमिक विकास के स्तर पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से पूर्व के सर्वश्रेष्ठ निबंधकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उत्कृष्ट निबंध 'करूणा' का व्याख्या सहित अध्ययन भी कर लिया है। प्रस्तुत इकाई में आप आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखिए एक श्रेष्ठ निबंध 'पंडितों की पंचायत' की सव्याख्या पाठ करेंगे तथा साथ ही आचार्य हजारी प्रसाद के सम्पूर्ण व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व से भी परिचित होंगे।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की सम्पूर्ण जीवन तथा उनकी साहित्यिक प्रतिभा के क्रमिक विकास का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- 'पंडितों की पंचायत' का परिचय, पाठ एवं ससंदर्भ आलोचना का लाभ प्राप्त कर सकेंगे।

- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का महत्त्व एवं वर्तमान समय में उनके विचारों की प्रासंगिकता को समझ सकेंगे।

5.3 आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी: व्यक्तित्व एवं कृतित्व

5.3.1 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: व्यक्तित्व

आधुनिक युग के मौलिक निबंधकार, उत्कृष्ट समालोचक एवं सांस्कृतिक विचारधारा के प्रमुख उपन्यासकार, साहित्येतिहासकार एवं निबंधकार आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म 19 अगस्त 1907 में बलिया जिले के आरत दुबे का छपरा नामक गाँव में हुआ था। उनका परिवार ज्योतिष विद्या के लिए प्रसिद्ध था। उनके पिता पं. अनमोल द्विवेदी एवं माता का नाम ज्योतिष्मती था . आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के पिता संस्कृत के प्रकांड पंडित थे। द्विवेदी जी की प्रारंभिक शिक्षा गांव के स्कूल में ही हुई और वहीं से उन्होंने मिडिल की परीक्षा पास की। इसके पश्चात् उन्होंने इंटर की परीक्षा और 1930 में ज्योतिष विषय लेकर आचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। शिक्षा प्राप्ति के पश्चात द्विवेदी जी शांतिनिकेतन चले गए सन् 1950 तक वहां हिंदी-भवन में कार्य करते रहे। शांति-निकेतन में गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर तथा आचार्य क्षिति मोहन सेन के प्रभाव से साहित्य का गहन अध्ययन और उसकी रचना प्रारंभ की। हिन्दी साहित्य के प्रतिष्ठित और सर्वमान्य हस्ताक्षर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी साहित्य की गतिशील परम्परा को साहित्यालोचना, समीक्षा, साहित्येतिहास, निबन्ध, उपन्यास,सौन्दर्यशास्त्रीय-विवेचन एवं कविता के सृजन द्वारा नयी दिशा प्रदान की. नवम्बर 1930 को उन्होंने हिन्दी शिक्षक के रूप में शान्ति निकेतन में कार्य आरम्भ किया और वहाँ 1950 तक रहे। सन 1941से 1947 तक आचार्य द्विवेदी विश्वभारती विश्वविद्यालय की शोध पत्रिका के संपादक रहे . 1950 में वह काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रोफेसर और अध्यक्ष नियुक्त हुए। 1960-67 तक उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग में अध्यक्ष पद पर कार्य किया. 1968 में उनकी नियुक्ति पुनः काशी विश्वविद्यालय में हुई .1968-70 तक वे काशी हिंदू विश्व विद्यालय के रेक्टर पद पर कार्यरत रहे . 1957 में राष्ट्रपति द्वारा पद्मभूषण से सम्मानित किये गये। वे अनेक संस्थानों से सम्बद्ध रहे। अन्तिम दिनों में वह उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के कार्यकारी अध्यक्ष रहे। 19 मई 1979 को दिल्ली में आचार्य द्विवेदी ने अपना पार्थिव शरीर त्याग दिया।

द्विवेदी जी का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली और उनका स्वभाव बड़ा सरल और उदार था। वे हिंदी अंग्रेज़ी, संस्कृत और बंगला भाषाओं के साथ-साथ मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के भी विद्वान थे। वे संस्कृत ,अपभंश एवं भक्तिकालीन साहित्य के विशेषज्ञ थे। लखनऊ विश्वविद्यालय ने उन्हें डी.लिट. की उपाधि देकर उनका विशेष सम्मान किया था। द्विवेदी जी के निबंधों के विषय भारतीय संस्कृति, इतिहास, ज्योतिष, साहित्य विविध धर्मों और संप्रदायों का विवेचन आदि है।

द्विवेदी जी की रचनाएं दो प्रकार की हैं, मौलिक और अनूदित। उनकी मौलिक रचनाओं में सूर साहित्य हिंदी साहित्य की भूमिका, कबीर, विचार और वितर्क अशोक के फूल, बाणभट्ट की आत्म-कथा आदि

मुख्य हैं। प्रबंध चिंतामणी, पुरातन प्रबंध-संग्रह, विश्व परिचय, लाल कनेर आदि द्विवेदी जी की अनूदित रचनाएं हैं। इनके अतिरिक्त द्विवेदी जी ने अनेक स्वतंत्र निबंधों की रचना की है जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

आचार्य द्विवेदी का हिंदी निबंध और आलोचनात्मक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। वे उच्च कोटि के निबंधकार और सफल आलोचक हैं। उन्होंने सूर, कबीर, तुलसी आदि पर जो विद्वत्तापूर्ण आलोचनाएं लिखी हैं, वे हिंदी में पहले नहीं लिखी गईं। उनका निबंध-साहित्य हिंदी की स्थाई निधि है। उनकी समस्त कृतियों पर उनके गहन विचारों और मौलिक चिंतन की छाप है। विश्व-भारती आदि पत्रिकाओं के द्वारा द्विवेदी जी ने संपादन के क्षेत्र में पर्याप्त सफलता प्राप्त की है । हजारी प्रसाद द्विवेदी की अनेकों रचनाएँ उनके मरणोपरान्त प्रकाशित हुई और कुछ अप्रकाशित हैं जिन्हें प्रकाशित किया जाना चाहिये। द्विवेदीजी मनुष्य को सर्वोपरि मानते थे। उन्होंने अपने निबन्ध "मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है" में लिखा हैं "समूचे जन समूह में भाषा और भाव की एकता और सौहाद्र का होना अच्छा है। इसके लिए तर्कशास्त्रियों की नहीं ऐसे सेवाभावी व्यक्तियों की आवश्यकता है जो समस्त बाधाओं और विघ्नों को शिरसा स्वीकार करके काम करने में जुट जाते हैं।" हजारी प्रसाद द्विवेदी नयी पीढ़ी के लेखकों से सन्तुष्ट हैं। वह लिखते हैं – "मुझे इस बात की खुशी है कि नये साहित्यकार मनुष्य के दुख के प्रति जागरुक है और इस बात से व्याकुल है कि कहीं न कहीं कोई गल्ती अवश्य है जो इसको दूर करने की हमारी सारी आकाक्षाओं के बावजूद सारे प्रयत्नों को विफल बना रही है। बाधा मुख्य रूप से हमारे सामाजिक संगठन में है और जिस व्यवस्था के ऊपर इसको दूर करने की जिम्मेदारी है उस व्यवस्था के ढांचे की संरचना मे है।" हिन्दी विश्व की तीसरी सबसे बड़ी भाषा है। हिन्दी विश्व की समृद्ध भाषा है जिसमें विश्व स्तर के साहित्कार दिये हैं। अनेक दिवंगत दिग्गज साहित्यकारों की रचनाएँ आज भी हिन्दी पाठकों से वंचित हैं क्योंकि इनकी बहुत सी रचनाएँ अप्रकाशित हैं तथा अनेकों रचनाएँ अपने नये संस्करण की प्रतीक्षा कर रही हैं। इनके प्रकाशन की दिशा में प्रयत्न किया जाना चाहिये।

5.3.2 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: कृतित्व

साहित्यिक दृष्टि से आचार्य द्विवेदी का साहित्य न केवल विपुल है अपितु सम्पूर्ण भारतीय साहित्य एवं मानव जाति की सांस्कृतिक चेतना का वाहक भी है . आचार्य द्विवेदी ने साहित्य की लगभग सभी प्रमुख विधाओं में रचना की थी . कहना न होगा कि आचार्य द्विवेदी का लेखन एक तरफ जहाँ अपनी विपुलता के लिए अपना अलग स्थान रखता है वहीं दूसरी तरफ अपनी सृजनात्मक सम्पन्नता के कारण विश्व साहित्य की अनमोल देन है .आचार्य द्विवेदी की प्रमुख रचनाएँ निम्नवत हैं

उपन्यास

1. बाणभट्ट की आत्मकथा , 1946
2. चारू चंद्रलेख ,1963
3. पुनर्नवा , 1973
4. अनामदास का पोथा, 1976

आलोचना

5. सूर साहित्य , 1936
6. कबीर , 1942
7. कालिदास की लालित्य योजना, 1968
8. मृत्युंजय रवीन्द्र, 1963
9. नाट्यशास्त्र की भारतीय परंपरा और दशरूपक ,
10. मेघदूत :एक पुरानी कहानी, 1957
11. संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो,1952
12. लालित्य तत्व, 1994
13. साहित्य का साथी, 1955

इतिहास ग्रन्थ

14. हिंदी साहित्य की भूमिका , 1940
15. हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास, 1952
16. हिंदी साहित्य का आदिकाल, 1952

सांस्कृतिक चिंतन

17. मध्यकालीन बोध का स्वरूप, 1970
18. सहज-साधना, 1963
19. मध्यकालीन धर्म-साधना, 1952
20. नाथ संप्रदाय , 1950
21. सिक्ख गुरूओं का पुण्य-स्मरण, 1980
22. रामानंद की हिन्दी रचनाएँ , 1955
23. नाथ सिद्धों की बानियाँ ,1957
24. प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद , 1940

निबंध साहित्य

25. अशोक के फूल ,1948
26. कल्पलता,1951
27. कुटज, 1954
28. विचार और वितर्क , 1953
29. विचार प्रवाह ,1959
30. आलोक पर्व ,1972

अन्य रचनाएँ

1. कविताएं (खड़ी बोली, संस्कृत)

2. कविताएं (ब्रजभाषा)
3. कविताएं (अनूदित)
4. वैयक्तिक संस्मरण
5. कहानियाँ
6. फलित ज्योतिष

विशेष

• हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद द्वारा 'कबीर' पुस्तक पर मंगलाप्रसाद पारितोषक 1947 ई.
• लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ ने डॉक्टर ऑफ लिटरेचर उपाधि प्रदान की 1947 ई.
• ऑफिशियल लैंग्वेज कमीशन (प्रथम) के सदस्य 1955 ई.
• पद्म भूषण, 1957 ई.
• संयोजक, हिन्दी परामर्श समिति, साहित्य अकादमी, 1954 ई.-1964 ई. तक
• नेशनल बुक ट्रस्ट के ट्रस्टी, 1958 ई.
• चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट के ट्रस्टी, 1958 ई.
• 'सूर साहित्य' पुस्तक पर सरजूप्रसाद स्वर्णपदक, मध्यभारत हिन्दी समिति, इन्दौर
• 'विश्वभारती' विश्वविद्यालय की एक्जीक्यूटिव कांउसिल के सदस्य 1950-1953
• काशी नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष 1952-1953 ई.
• काशी नागरी प्रचारिणी सभा के हस्तलेखों की खोज के संचालक, 1952 ई.
• 'नाथ सम्प्रदाय' पुस्तक (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत)
• 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के व्याख्यान)
• 'सहज साधना' (मध्य प्रदेश सरकार द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला)
• 'साहित्य का मर्म' (लखनऊ वि.वि. द्वारा आयोजित व्याख्यान माला)
• 'बाणभट्ट की आत्मकथा' - नागरी प्रचारिणी सभा का सर्वोत्तम पदक/म0प्र0 द्विवेदी स्वर्ण पदक,कई भारतीय भाषाओं में अनुवाद साहित्य अकादमी की ओर से
• 'हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास' (उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा, उत्तम पाठ्य पुस्तक पुरस्कार)
• हिन्दी विश्व कोष में सम्पादक समिति के सदस्य तथा एडवाइजरी बोर्ड के सदस्य।
• केन्द्रीय हिन्दी साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कार 1973 ई.
• शोध पत्रिकाओं का संपादन: विश्वभारती पत्रिका, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हिन्दी अनुशीलन , हिन्दुस्तानी, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी जर्नल
• रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अनेक ग्रंथों के अनुवाद

5.3.3 आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी: निबंध साहित्य

वर्गीकरण की दृष्टि से द्विवेदी जी के निबंध दो भागों में विभाजित किए जा सकते हैं . विचारात्मक और आलोचनात्मक। विचारात्मक निबंधों की भी दो श्रेणियां हैं। प्रथम श्रेणी के निबंधों में दार्शनिक तत्वों की प्रधानता रहती है। द्वितीय श्रेणी के निबंध सामाजिक जीवन संबंधी होते हैं। आलोचनात्मक निबंध भी दो श्रेणियों में बांटें जा सकते हैं। प्रथम श्रेणी में ऐसे निबंध हैं जिनमें साहित्य के विभिन्न अंगों का शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है और द्वितीय श्रेणी में वे निबंध आते हैं जिनमें साहित्यकारों की कृतियों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार हुआ है। द्विवेदीजी के इन निबंधों में विचारों की गहनता, निरीक्षण की नवीनता और विश्लेषण की सूक्ष्मता रहती है। द्विवेदी जी की भाषा परिमार्जित खड़ी बोली है। उन्होंने भाव और विषय के अनुसार भाषा का चयनित प्रयोग किया है। उनकी भाषा के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं . (1) प्राँजल व्यावहारिक भाषा (2) संस्कृतनिष्ठ शास्त्रीय भाषा। प्रथम रूप द्विवेदी जी के सामान्य निबंधों में मिलता है। इस प्रकार की भाषा में उर्दू और अंग्रेज़ी के शब्दों का भी समावेश हुआ है। द्वितीय शैली उपन्यासों और सैद्धांतिक आलोचना के क्रम में परिलक्षित होती है। द्विवेदी जी की विषय प्रतिपादन की शैली अध्यापकीय है। शास्त्रीय भाषा रचने के दौरान भी प्रवाह खण्डित नहीं होता।द्विवेदी जी की रचनाओं में उनकी शैली के निम्नलिखित रूप मिलते हैं .

1 . गवेषणात्मक शैली - द्विवेदी जी के विचारात्मक तथा आलोचनात्मक निबंध इस शैली में लिखे गए हैं। यह शैली द्विवेदी जी की प्रतिनिधि शैली है। इस शैली की भाषा संस्कृत प्रधान और अधिक प्रांजल है। वाक्य कुछ बड़े-बड़े हैं। इस शैली का एक उदाहरण देखिए - "लोक और शास्त्र का समन्वय, ग्रहस्थ और वैराग्य का समन्वय भक्ति और ज्ञान का समन्वय भाषा और संस्कृति का समन्वय, निर्गुण और सगुण का समन्वय कथा और तत्व ज्ञान का समन्वय, ब्राह्मण और चांडाल का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय रामचरितमानस शुरू से आखिर तक समन्वय का काव्य है।"

2 .वर्णनात्मक शैली - द्विवेदी जी की वर्णनात्मक शैली अत्यंत स्वाभाविक एवं रोचक है। इस शैली में हिंदी के शब्दों की प्रधानता है साथ ही संस्कृत के तत्सम और उर्दू के प्रचलित शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। वाक्य अपेक्षाकृत बड़े हैं।

3 . व्यंग्यात्मक शैली - द्विवेदी जी के निबंधों में व्यंग्यात्मक शैली का बहुत ही सफल और सुंदर प्रयोग हुआ है। इस शैली में भाषा चलती हुई तथा उर्दू, फारसी आदि के शब्दों का प्रयोग मिलता है।

4 . व्यास शैली - द्विवेदी जी ने जहाँ अपने विषय को विस्तारपूर्वक समझाया है वहां उन्होंने व्यास शैली को अपनाया है। इस शैली के अंतर्गत वे विषय का प्रतिपादन व्याख्यात्मक ढंग से करते हैं और अंत में उसका सार दे देते हैं।

हमने पहले ही लक्ष्य कर लिया है कि साहित्यिक समालोचना के सिवा और भी बहुत.से ऐसे निबंध हैं जो साहित्य के अन्दर माने जा सकते है। निबंध का प्रचलन भी कोई नया नहीं है। पुराने जमाने से ही निबंधों का प्रचार है। हमने यह भी देखा है कि किसी प्रतिपाद्य सिद्धान्त के विरूद्ध जितने प्रमाण हो सकते थे उनको एक-एक करके उठाना और उनकी समीक्षा करते हुए अपने सिद्धान्त पर पहुंचना यही पुराने निबंधों का कार्य था। परन्तु नये युग में जिन नवीन ढंग के निबंधों का प्रचलन हुआ है वे

'तर्कमूलक' की अपेक्षा 'व्यक्तिगत' अधिक हैं। ये व्यक्ति की स्वाधीन चिन्ता की उपज हैं। जो निबंध किसी तत्ववाद के विचार के लिए लिखे जाते हैं उनमें थोड़ा-बहुत प्राचीन ढंग अब भी पाया जाता है। साधारणतः जिन निबंधों में निस्संग विचार का प्राधान्य होता है वे साहित्यिक आलोचना के प्रसंग में आलोचित नहीं होते। स्वयं आचार्य द्विवेदी के शब्दों में निबन्धों का वितरण निम्न प्रकार है - निबंधों की नाना कोटियाँ हैं । उनको साधारणतः पांच श्रेणियों में बाँट जा सकता है. 1. वार्तालाप-मूलक 2 व्याख्यान-मूलक 3. अनियंत्रित गप्प-मूलक 4 स्वगतचिन्तन-मूलक 5. कलह-मूलक। इस प्रकार का विभाजन बहुत अच्छा नहीं है। इसमें साहित्यिक सूक्ष्मता नहीं है। आपात दृष्टि ही प्रधान है।

(1) वार्तालाप मूलक निबंध का लेखक मन-ही-मन एक ऐसे वातावरण कल्पना करता है जिसमें कुछ सच्चे जिज्ञासु लोग किसी तत्व का निर्णय करने बैठे हों और अपने-अपने विचार सत्य निर्णय की आशा से सहज भाव से प्रकट करते जाते हों (2) परन्तु व्याख्यान मूलक निबंध लेखक व्याख्यान देता रहता है। वह अपनी युक्तियों और तर्कों को बिना इस बात की परवा किए उपस्थित करता जाता है कि कोई उसे टोक देगा। (3) अनियंत्रित गप्प मारते समय गप्प करने वाला हल्के मन से बातें करता है वह अपने विषय के उन सरस और हास्योद्रेचक पहलुओं पर बराबर घूम-फिर कर आता रहता है,जो उसके श्रोता के चित्त को प्रफुल्ल कर देगा। (4) स्वगत चिंतन मूलक लेखक अपने आप से ही बात करता रहता है। उसके मन में जो युक्तियाँ उठती रहती हैं उन्हें तन्मय होकर वह विचारता जाता है। पर-पक्ष की आशंका उसे नहीं रहती। (5) परन्तु कलह-मूलक निबंध का लेखक अपने सामने मानो एक प्रतिपक्षी को रखकर उससे उत्तेजना पूर्ण बहस करता रहता है प्रतिपक्षी की युक्तियों का निरास करना उसका उतना लक्ष्य नहीं होता जितना अपने मत को उत्तेजित होकर व्यक्त करना। इस अन्तिम श्रेणी के निबंधों में कभी-कभी अच्छी साहित्यिक रचना मिल जाती है पर साधारणतः ये साहित्य की श्रेणी के बाहर जा पड़ते हैं।

निबंधों के व्यक्तिगत होने का अर्थ यह नहीं है कि उनमें विचार-श्रृंखला न हो। ऐसा होने से तो वे प्रलाप कहे जायँगे। संसार में हम जो कुछ देखते हैं वह द्रष्टा को विभिन्नता के कारण नाना भाव से प्रकट होते है। अपनी रूचि और संस्कार के कारण किसी द्रष्टा का ध्यान वस्तु के एक पहलू पर जाता है तो दूसरे द्रष्टा का दूसरे पहलू पर। फिर वस्तुओं के जो पारस्परिक संबंध है वे इतने तरह के हैं कि इन संबंधों में से सब सब की दृष्टि में नहीं पड़ते। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति यदि ईमानदारी से अपने विचारों को व्यक्त कर ले तो हमें नवीन का परिचय मूलक आनंद मिल सकता है और साथ ही उस उद्देश्य की सिद्धि भी हो सकती है जो साहित्य का चरम प्रतिपाद्य है। द्रष्टा के भेद से दृश्य का अभिनव रूप हमें दूसरे के हृदय में प्रवेश करने की क्षमता देता है और हम केवल अपने व्यक्तिगत रूचि-अरूचि के संकीर्ण दायरे से निकल कर दूसरों की अनुभूतियों के प्रति संवेदनशील होते हैं । वस्तुतः जो निबंध इस उद्देश्य की ओर उन्मुख करे वही साहित्यिक निबंध कहे जाने का अधिकार है। जो लेख हमारे हृदय की अनुमतियों को व्यापक और संवेदनाओं की तीक्ष्ण नहीं बनाता वह अपने उद्देश्य से च्युत हो जाता है। इस व्यक्तित्व अनुभूति के कारण ही साहित्यिक निबंध-लेखक निःसंग तत्वचिन्तक से भिन्न हो जाता

है। " तत्वचिन्तक या वैज्ञानिक से निबंध-लेखक की भिन्नता इस बात में भी है कि निबंध-लेखक जिधर चला जाता है उधर संपूर्ण मानसिक सत्ता अर्थात बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए। किसी बात का अर्थ-सम्बन्ध सूत्र पकड़े हुए लेखक करूण स्थलों की ओर झुकता और गंभीर वेदना का अनुभव करता चलता है जो विनोदशील हैं उनकी दृष्टि उसी बात को लेकर उसके ऐसे पक्षों की ओर दौड़ती है जिन्हें सामने पाकर हँसे बिना नहीं रह सकता। पर सब अवस्थाओं में कोई एक बात अवश्य चाहिए। इस अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजना प्रणाली की विशेषता,शैली की विशेषता बनकर खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ-संबंधों का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परंपरा नहीं, वहाँ एक ही स्थान पर खड़ी-खड़ी, तरह-तरह की मुद्रा और उछलकूद दिखाती हुई भाषा केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी "- रामचंद शुक्ल।

चूँकि व्यक्तिगत रूचि और संस्कार अनन्त प्रकार के हैं और भिन्न वस्तु के अर्थ-संबंध भी जो इन रूचियों और संस्कारों को प्रभावित करते है अनन्त प्रकार के हैं इसलिए व्यक्तिगत अनुभूतिमूलक निबंधों की केवल मोटी-मोटी श्रेणियाँ ही बताई जा सकती है। इस क्षेत्र में अनुकरण नहीं चल सकता, क्योंकि कोई भी दो व्यक्ति हू-ब-हू एक ही रूचि और एक ही संस्कार के नहीं होते। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं में ऐसे-ऐसे निबंध-लेखक हैं जिनकी समानता दूसरी भाषाओं में खोजी नहीं जा सकती। ये आधुनिक युग के अत्यन्त सजीव साहित्यांग हैं। उनमें नित्य नवीन तत्वों का समावेश और परिहार होता जा रहा है। निबंध-लेखक भी वस्तुतः एक समालोचक ही है। उसकी समालोचना पुस्तकों की नहीं होती बल्कि उन वस्तुओं की होती है जो पुस्तकों का विषय है।

5.4 'पंडितों की पंचायत': परिचय

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का लिखा यह निबंध उनकी पुस्तक 'कल्पलता' में संकलित है। 'कल्पलता' आचार्य द्विवेदी का लिखा हुआ निबंध संग्रह है। डॉ. राजमल बोरा के अनुसार इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1951 में हुआ था। इस आधार पर कहा जा सकता है कि संभवत: यह आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का दूसरा निबंध संग्रह था. इस निबंध संग्रह में 'पंडितों की पंचायत' 'केतु दर्शन' 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' 'ठाकुर जी की बटोर' 'महात्मा का महाप्रयाण ' आदि अनेक महत्वपूर्ण निबंध संकलित हैं। कहना न होगा कि जब इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ तब आचार्य द्विवेदी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पद पर कार्यरत थे, परन्तु 1951 में प्रकाशित 'कल्पलता' में संकलित निबंधों का लेखन 1951 से पूर्व के वर्षों में हुआ होगा। आपको स्मरण ही होगा कि काशी विश्वविद्यालय में आने से पूर्व 1930 से 1950 तक आचार्य द्विवेदी शांतिनिकेतन के हिन्दी भवन में कार्यरत थे . वहाँ रहते हुए आचार्य द्विवेदी ने गुरुदेव रविन्द्र

5.5 पंडितों की पंचायत ': पाठ

यह संयोग की ही बात कही जाएगी कि इस बार के एकादशीवाले झगड़े की सभा में मुझे भी उपस्थित रहना पड़ा। मैं बिलकुल ही नहीं जानता था कि काशी के पंचांग-निर्माताओं ने गाँव में रहने वाले विश्वास-परायण पंडितों को आलोडित कर दिया है। वैशाख शुक्ल पक्ष की एकादशी किसी ने बृहस्पतिवार के दिन बता दी है और किसी ने शुक्रवार के दिन। अचानक जब एक दिन पंडितों की पंचायत में मुझे बुला भेजा गया तो एकदम शस्त्रहीन योद्धा की भाँति मुझे संकोच के सहित ही जाना पड़ा। सभा में उपस्थित पंडितों में से अधिकांश मुझे जानते थे, किसी-किसी के मत से मैं घोर नास्तिक भी था, फिर भी न जाने क्यों इन्होंने मुझे बुलाने की बात का समर्थन किया। शायद इसलिए कि मेरा कुछ सम्बन्ध उक्त शास्त्रस से भी था। जो हो, मैंने इसे पंडित-मण्डली की उदारता ही समझी और शुरू से आखिर तक अपना कोई स्वतंत्र मत व्यक्त न करने का संकल्प-सा कर लिया।

मैं जब सभा स्थल पर पहुँचा तो विचार आरंभ हो चुका था। इसीलिए यह जानने का मौका ही नहीं मिला कि सभा का कोई सभापति या सरपंच है या नहीं। शायद इसका निर्वाचन ही नहीं हुआ था। मुझे देखते ही एक पंडित जी ने उत्तेजित भाव से कहा, कि देखिए 'विश्व-पंचांग' वालों ने क्या अनर्थ किया है। इन लोगों का गणित तीन लोकों से न्यारा होता है। भाई, सब जगह जबरदस्ती चल सकती है, लेकिन शास्त्र पर जबरदस्ती नहीं चलेगी।' मैंने मन-ही-मन इसका अर्थ समझ लिया। यह मुझे युद्ध क्षेत्र में आ डटने की ललकार थी। मैं हँसकर रह गया।

शास्त्र पर जबरदस्ती! मेरी भावुकता को जबरदस्त धक्का लगा। मेरा विद्रोही पाण्डित्य तिलमिलाकर रह गया। क्षण-भर में मेरे सामने संपूर्ण ज्योतिषिक इतिहास का रूप खेल गया। एक युग था, जब हमारे देश में लगध मुनि का अत्यंत सूक्ष्म गणित प्रचलित था लेकिन पंडितों का दल संतुष्ट नहीं हुआ, उसने किसी भी प्राचीन शास्त्र को प्रमाण न मानकर अपना अनुसंधान जारी रखा। गणना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई। अचानक भारतवर्ष के उत्तरी पश्चिमी किनारे पर यवनवाहिनी का भीषण रण-तूर्य सुनाई पड़ा। देश के विद्यापीठ-गांधार से लेकर साकेत तक एकाधिक बार विध्वस्त हुए। भारतवर्ष कभी जीतता रहा, कभी हारता रहा। कभी सारा भारतीय साम्राज्य समृद्धिशाली नगरों से भर गया, कभी श्मशान परिणित जनपदों के हाहाकर से झनझना उठा। पर अनुसंधान जारी रहा। भारतीय और ग्रीक पंडितों के ज्ञान का संघर्ष भी चलता रहा, हठात ईसा की चौथी शताब्दी में भारतीय ज्योतिष के आकाश में कई ज्वलंत ज्योतिष्क पिण्ड एक ही साथ चमक उठे। भारतीय गणना बहुत परिमाण में यावनी विद्या से समृद्ध हुई। यावनी विद्या हतदर्प होकर भारतीय गौरव को वरण करने लगी। उस दिन नि:संकोच भारतीय पंडितों ने घोषणा की ' यवन मलेच्छ हैं सही, पर इस (ज्योषतिष) शास्त्रक के अच्छे जानकार हैं। 'वे भी ऋषिवत पूज्य हैं, ब्राह्मण ज्योतिषी की तो बात ही क्या है.' (वृहत् संहिता)।

मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा - महागणक आचार्य बराहमिहिर न्यायासन पर बैठकर तत्काल प्रचलित पाँच सिद्धान्तों के मतों का विचार कर रहे हैं। इनमें दो विशुद्ध भारतीय मत के प्राचीनतर सिद्धान्त हैं, दो में यावनी विद्या का असर है , पाँचवा (सूर्य सिद्धान्त) स्वतंत्र भारतीय चिंता का फल है, बराहमिहिर ने पहले दोनों यावनी प्रभावापन्न सिद्धान्तों की परीक्षा की। पौलिश का सिद्धान्तत

अच्छा मालूम हुआ, रोमक भी उसके निकट ही रहा। आचार्य ने छोटी-मोटी भूलों का ख्याल न करते हुए साफ-साफ कह दिया-अच्छे हैं। फिर भी सूर्य सिद्धान्त् की जाँच हुई। आचार्य का चेहरा खिल उठा। यह और भी अच्छा था। और अन्त में ब्रह्म और शाकल्य के सिद्धान्तों की बारी आई। आचार्य के माथे पर जरा-सा सिकुड़न का भाव दिखाई दिया, उन्होंने दोनों को एक तरफ ठेलते हुए कहा-उहुँ! यह दूर-विभ्रष्ट- हैं।

पौलिशकृतोऽस्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमक: प्रोक्त :।
स्पिष्टतर: सावित्र: परिशेषौ दूर-विभ्रष्टौ ।। (पंच सिद्धांतिका)

उस दिन किसी की हिम्मत नहीं थी कि आचार्य को शास्त्र पर जबरदस्ती करने वाला कहे। क्यों कि वह स्वतंत्र चिंता का युग था, भारतीय-समाज इतना रूढिप्रिय और परापेक्षी नहीं था। वह ले भी सकता था और दे भी सकता था। मैंने देखा ब्रह्मगुप्त के शिष्य भास्कराचार्य निर्भीक भाव से कह रहे हैं, इस गणित स्कंध में युक्ति ही एक मात्र प्रमाण है, कोई भी आगम प्रमाण नहीं। यह बात सेालह आने सही थी और भारतीय पंडित-मंडली को सही बात स्वीकार करने का साहस था। पर आज क्या हालत है।

मैं जिस समय यह चिंता कर रहा था उसी समय पंडित लोग निर्णय-सिंधु और धर्म-सिंधु के पन्ने उलट रहे थे। नाना प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध ऋषियों, पुराणों और संहिताओं के वचन पढ़े जा रहे थे और उनकी संगतियाँ लगाई जा रही थीं। मैं उद्विग्न–सा होकर सोच रहा था कि वे निबंध ग्रंथ क्यों बनाए गए ? मुझे ऐसा लगा कि पश्चिम में एक आत्म विश्वासी धर्म का जन्म हुआ है जो किसी से समझौता नहीं जानता, किसी को मित्र नहीं मानता। उसके दाहिने हाथ के कठोर कृपाण के आक्रमण से बड़ी-बड़ी सभ्यताओं के लौह प्राचीर चूरचार हो जाते हैं, और बाँए हाथ के अमृत आश्वासन से पराजित जन-समूह एक नए जीवन और नए वैभव के साथ जी उठता है। जो एक बार उसके अधीन हो जाता है वही उसके रंग में आपाद-मस्त क रंग जाता है। वह इसलाम है।

इसलाम-विजय-स्फीत वक्ष होकर भारतीय संस्कृति को चुनौती देता है, उसके बारंबार आक्रमण से उत्तरी भारत संत्रस्त हो उठता है और कुछ काल के लिए समूचा हिन्दुकस्तान त्राहि-त्राहि की मर्म-भेदी आवाज से गूँज उठता है। धीरे-धीरे उत्तर के विद्यापीठ दक्षिण और पूर्व की ओर खिसकते जाते हैं। महाराष्ट्र नवीन आक्रमण से मोर्चा लेने के लिए कटिबद्ध होता है और भारतीय विश्वास के अनुसार सबसे पहले अपने धर्म की रक्षा को तैयार होता है। भारतीय पंडितों ने कभी इतनी मुस्तैदी के साथ स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्यों की छानबीन नहीं की थी, शायद भारतीय संस्कृति को कभी ऐसे विकट ललकार के सुनने की संभावना नहीं हुई थी। क्षणभर के लिए ऐसा जान पड़ा कि भारतीय मनीषा ने स्वतंत्र चिंता को एकदम त्याग दिया है, केवल टीका, केवल निबंध, केवल संग्रह ग्रंथ! शास्त्र के किसी अंग पर स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखे जा रहे हैं। सर्वत्र टीका-पर-टीका, तिलक-पर-तिलक, तस्यापि तिलक. एक कभी समाप्त न होनेवाली टीकाओं की परम्परा।

देखते-देखते टीका-युग का प्रभाव देश के इस छोर से उस छोर तक व्याप्त हो जाता है। महाराष्ट्र, काशी, मिथिला और नवद्वीप टीकाओं और निबंधों के केंद्र हो उठते हैं। शास्त्र का कोई वचन छोड़ा नहीं जाता है, किसी भी ऋषि की उपेक्षा नहीं की जा रही है पर भयंकर सतर्कता के साथ प्रचलित लोक नियमों का ही समर्थन किया जाता है। इस नियम के विरोध में जो ऋषि-वचन उपलब्ध होते हैं उन्हें 'ननु' के साथ पूर्व पक्ष में कर दिया जाता है और उत्तर पक्ष सदा स्थानीय आचार्यों का समर्थन करता है। पंडितों की भाषा में इसी को संगति लगाना कहा जाता है। संगति लगाने का यह रूप मुझे हतदर्प भारतीय धर्म की सबसे बड़ी कमजोरी जान पड़ी। मैं ठीक समझ नहीं सका कि शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर ये चुहिया क्यों निकाली जा रही है।

यह जो एकादशी व्रत का निर्णय मेरे सामने हो रहा है, जिसमें बीसियों आचार्यों के सैकड़ों श्लोक उद्धृत किए जा रहे हैं, अपने आप में ऐसा क्या महत्व रखता है जिसके लिए एक दिन सैकड़ों पंडितों ने परिश्रमपूर्वक सैकड़ों निबंध रचे थे और आज आसेतु हिमाचल समस्त भारतवर्ष के पंडित उनकी सहायता से व्रत का निर्णय कर रहे हैं। क्या श्रद्धापूर्वक किसी एक दिन उपवास कर लेना पर्याप्त नहीं था! यदि एकादशी किसी दिन 55 दण्ड से ऊपर हो गई, या किसी दिन उदय काल में न आ सकी, या किसी दिन उदय काल में आ गई तो क्या बन या बिगड़ गया ? किसी भी एक दिन व्रत कर लेना पर्याप्त नहीं है ? मुझे 'ननु' 'तथा च' और 'उक्त च' की धुआँधार वर्षा से मध्य युग का आकाश इतना आविल जान पड़ा कि बीसवीं शताब्दी का ज्ञान लोक अनेक चेष्टाओं के बाद भी निबंधकारों की असली समस्या तक नहीं पहुँच सका। मैंने फिर एक बार सोचा, शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर यह चुहिया क्यों निकाली जा रही है।

लेकिन आज चाहे कुछ भी क्यों न जान पड़े, टीका-युग का प्रारंभ नितांत अर्थ-हीन नहीं था। मुझे साफ दिखाई दिया, भारतवर्ष की पदध्वस्त संस्कृत हेमाद्रि के सामने खड़ी है, चेहरा उसका उदास पड़ गया है, अश्रुक्षुब्ध -नयन कोटर शायी-से दिख रहे हैं, वदन कमल मुरझा गया है। हेमाद्रि का मुख-मंडल गंभीर है, भूदेश किंचित कुचिंत हो गए हैं, विशाल ललाट पर चिंता की रेखाएँ उभर आई हैं, अधरोष्ठ दाँतों के नीचे आ गया है - वे किसी सुदूर की वस्तु पर दृष्टि लगाए हैं। यह दृष्टि कभी अर्थ-हीन नहीं हो सकती, वह किसी निश्चित सत्य पर निपुण भाव से आबद्ध है। शायद यह भारतवर्ष के विच्छिन्न रस्म और रवाजों की बात होगी, शायद वह स्तूपीभूत शास्त्रों के मत-भेद की चिंता होगी, शायद वह संपूर्ण आर्य-सभ्यता को एक कठोर नियम-सूत्र में बाँधने की चेष्टा होगी, शायद वह नवागत प्रतिद्वंद्वी धर्म की अचिन्तनीय एकता के जवाब की बात होगी-पर वह थी बहुत दूर की बात। मुझे उसमें कोई संदेह नहीं रहा। जिस पंडित के लिए समग्र शास्त्र हस्तामलकवत् थे, जिसकी आँखों के सामने भारतीय संस्कृति नित्य कुचली जा रही थी, उस महामानव का कोई प्रयत्न निरर्थक नहीं हो सकता।

अगर सारा भारतवर्ष एक ही दिन उपवास करे, एक ही दिन पारायण करे, एक ही मुहूर्त में उठे-बैठे, तो निश्चिय ही वह एक सूत्र में ग्रंथित हो जाए। हेमाद्रि और उनके अनुयायियों का यही स्वप्न था, वह सफल भी हुआ। आज की यह पंचायत उसी सफलता का सबूत है। इस समय यह विचार नहीं हो

रहा है कि विश्व पंचाग का मत मान्य है या और किसी का, बल्कि इस बात का निर्णय होने जा रहा है कि वह कौन-सा एक और एक-दिन होना चाहिए जब सारे भारत के गृहस्थ एक ही चिंता के साथ उत्तेजित होंगे। आज की सभा का यही महत्व है।

हेमाद्रि का स्वप्न सफल हुआ; पर उद्देश्य नहीं सिद्ध हो सका। भारतवर्ष एक ही तिथि को व्रत और उपवास करने लगा, एक मुहूर्त में उठने-बैठने के लिए बद्धपरिकर हुआ; पर एक नहीं हो सका। उसकी कमजोरी केवल रस्मों और रवाजों तक ही सीमित नहीं थी, यह तो उसकी बाहरी कमजोरी थी। जातियों और उपजातियों से उसका भीतरी अंग जर्जर हो गया था, हजारों संप्रदायों में विभक्त होकर उसकी आध्यात्मिक साधना शतच्छिद्र कलश की भाँति संग्रह हीन हो गई थी-वह हतज्योति उलका-पिंड की भाँति शून्य में छितराने की तैयारी कर रहा था।

लेकिन डूबते-डूबते भी सँभल गया। तकदीर ने तंत पर उसकी खबर ली, ज्योंही नाव डगमगाई, त्योंही किनारा दिख गया। और भी सुदूर दक्षिण से भक्ति की निविड़ घनघटा दिखाई पड़ी, देखते-देखते यह मेघखंड सारे भारतीय आसमान में फैल गया और आठ सौ वर्षों तक इसकी जो धारा सार वर्षा हुई, उसमें भारतीय साधना का अनेक कूड़ा बह गया, उसके अनेक बीज अंकुरित हो उठे। भारतवर्ष नए उत्साह और नए वैभव से शक्तिशाली हो उठा। उसने उदात्त कंठ से दृढ़ता के साथ घोषित किया-प्रेम पुमर्थो महान-प्रेम ही परम पुरूषार्थ है। विधि और निषेध, शास्त्र और पुराण, नियम और आचार, कर्म और साधना, इन सबके ऊपर है यह अमोघ महिमाशाली प्रेम। प्रेमी ,जाति और वर्ण से ऊपर है, आश्रम और संप्रदाय से अतीत है।

जिन दिनों की बात हो रही है, उन दिनों भारतवर्ष का प्रत्येक कोना तलवार की मार से झनझना रहा था, बड़े-बड़े मंदिर तोड़े जा रहे थे, मूर्तियाँ विध्वस्त की जा रही थीं, राज्य उखाड़े जा रहे थे। विच्छिन्न हिंदू-शक्ति जीवन के दिन गिन रही थी। और साथ ही दो भिन्न दिशाओं से उसे संहत करने का प्रयत्न चल रहा था। विच्छेद का संघर्ष नहीं चला था। तब तक दृश्य और अदृश्य एक ही साथ कैसे हो सकती है। पंडित लोग इस बात को इस प्रकार समझाते हैं- पहली तरह की गणना वह जो हमारे प्राचीन आचार्यों ने बताई है . यह ऋषि प्रोक्त गणना है इस पर से यदि ग्रह-गणित करो तो कुछ स्थूल आता है। अर्थात् उस स्थान पर से ग्रह कुछ इधर-उधर हटा हुआ नजर आता है। पर आधुनिक वैज्ञानिक गणना से वह ठीक स्थान पर दिखता है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि ऋषियों की गणना गलत है, असल बात यह है कि वह अदृश्य गणना है वह आसमान में ग्रहों को यथास्थान दिखाने की गणना नहीं है; बल्कि एकादशी आदि व्रतों के निर्णय करने की गणना है . ये व्रत भी अदृश्य हैं , इनके फल भी अदृश्य हैं, फिर इनकी गणना भी क्यों अदृश्य न हो ? दृश्य -गणना आधुनिक विज्ञान-सम्मत है। इसका काम ग्रहण, यूति आदि दृश्य–पदार्थों को दिखाना है। कुछ पंडित पहली गणना को ही मानकर पत्रा बनाते हैं, कुछ दूसरी के हिसाब से, कुछ दोनों को मिलाकर। इन दोनों को मिलाने से जिस 'दृश्यादृश्य' नामक विसंष्ठुल गणना का अवतार हुआ है उसमें कई पक्ष हैं, कई दल हैं। कोई सामन, कोई निरयण, कोई रैवत, कोई चैत्र, अनेक मत खड़े हुए हैं। झगड़ा बहुत-सी छोटी-मोटी बातों तक पहुँचा हुआ है।

उदाहरण के लिए मान लिया जाए कि किसी प्राचीन पंडित ने कहा कि 'क' से 'ख' स्थान का देशान्तर-काल एक घंटा है और आज के इस वैज्ञानिक युग में प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया है कि एक घंटा नहीं पौन घंटा है। अब कौन-सा मत मान लिया जाए ? कोई एकादशी व्रत के लिए प्राचीनाचार्य की बात पर चिपटा हुआ है, दूसरा इतनी-सी बात में उदार होना पसंद करता है। इन अनेक झगड़ों के कारण एकादशी व्रत का निर्णय करना बड़ा मुश्किल हो गया है। प्रत्येक पत्रा अलग राय देता है, प्रत्येद पंडित अलग-अलग मत का समर्थन करता है। यह पश्चिमी विचारों के संघर्ष का परिणाम है। आज की इस छोटी-सी सभा की सृष्टि हुई। हिंदू सभ्यता नई चेतना के साथ जाग उठी, आज जो आलोचना चल रही है, वह उसी नई चेतना का भग्नावशेष है। उसमें कोई स्फूर्ति नहीं रह गई है। नीरस और प्रलम्बमान तर्क-जाल से उकताकर मैं उद्विग्न हो रहा था। जी में आया, यहाँ से उठ चलूँ और इस विचार के आते ही मेरी कल्पना वहाँ से उठाकर मुझे अन्यत्र ले चली।

मुझे ऐसा जान पड़ा, मैं सारे जगत के छोटे-मोटे व्यापार को देख सकता हूँ। मेरी दृष्टि समुद्र पार करके अद्भुत कर्ममय लोक में पहुँची। यहाँ के मनुष्यों में किसी को फुरसत नहीं जान पड़ी, सबको समय के लाले पड़े थे। सारे द्वीप में एक भी ऐसा गाँव नहीं मिला, जहाँ घंटों तक एकादशी व्रत के निर्णय की पंचायत बैठ सके। सभी व्यस्त, सभी चंचल, सभी तत्पर! मैं आश्चर्य के साथ इनकी अपूर्व कर्म-शक्ति देखता रह गया। यहाँ से लाल, काली, नीली आदि अनेक तरंगें बड़े वेग से निकल रही थीं और सारे जगत् के वायुमंडल को मुहूर्त भर में तरंगित कर देती थीं। भारतवर्ष के शांत वायुमंडल पर भी ये बार-बार आघात करती हुई नजर आई। वह भी कुछ विक्षुब्धतर हो उठा। ये विचारों की लहरें थीं।

मैं सोचने लगा, यूरोप से आए हुए नए विचार किस प्रकार नित्य प्रति हमारे समाज को अज्ञात भाव से एक विशेष दिशा की ओर खींचे लिए जा रहे हैं। पुस्तकों, समाचार-पत्रों, चल-चित्रों और रेडियों आदि के प्रचार से हमारे समाज के विचारों में भयंकर क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहें हैं भयंकर इसलिए की अभी तक यह समाज क्रांतिकारी विचार के महाभार को सँभालने के योग्य नहीं हुआ है-उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। उसके कंधे दुर्बल हैं, उसकी छाती धड़क रही है। हम सन्त्रस्त की तरह इन विचारों को देखते हैं; पर जब अज्ञात भाव से ये ही हमारे अंदर घर कर जाते हैं तो या तो हम जान ही नहीं सकते या यदि जान सकते हैं तो घबरा उठते हैं। आज की सभा भी इसी घबराहट का एक रूप है।

जिस दिन तक भारतीय ज्योतिष-शास्त्र के साथ इसका कोई भी पंडित यह बात ठीक-ठीक नहीं समझ रहा है। एकादशी व्रत का यह झगड़ा शारदा एक्ट से कम खतरनाक नहीं है, बाबू भगवानदास के प्रस्तावित क़ानून के कम उद्वेगजनक नहीं है. अगर ये कानून भारतीय संस्कृति को हिला सकते हैं तो यह झगड़ा और भी अधिक हिला देगा।

लेकिन भारतीय संस्कृति क्या सचमुच ऐसी कमजोर नींव पर खड़ी है, कोई एक एक्ट, कोई एक कानून और कोई एक विचार-विनिमय उसे हिला दे ? मैं समझता हूँ, नहीं। मेरे सामने छः हजार वर्षों की और सहस्त्रों योजन विस्तृत देश की विशाल संस्कृति खड़ी है, उसके इस वृद्ध शरीर में जरा भी बुढ़ापा नहीं है, वह किसी चिरनवीन प्रेरणा से परिचालित है। उसके मस्तिष्क में सहस्त्रों वर्ष का

अनुभव है; लेकिन थकान नहीं है, उसकी आँखों में अनादि तेज झलक रहा है, पर आलस्य नहीं है! वह अपूर्व शक्ति और अनंत धैर्य को अपने वक्ष-स्थल में वहन करती आ रही है। उसने अपने विराट परिवर्तनशील दीर्घ जीवन में क्या -क्या नहीं देखा है ? कुछ और देख लेने में उसे कुछ भी झिझक नहीं, कुछ भी हिचक नहीं है। जो लोग इस तेजोमय मूर्ति को नहीं देख सकते वही घबराते हैं, मैं नहीं घबरा सकता।

शास्त्र चर्चा अब भी चल रही थी। मैं सोचने लगा क्या यह जरूरी नहीं है कि सभी पंचांगवाले एकमत होकर एक ही तरह का निर्णय करें। शायद नहीं। क्यों कि हमारा देश एक विचित्र परिस्थिति में से गुजर रहा है। वह पुराना रास्ता छोड़ने को बाध्य है, किन्तु नया रास्ता अभी मिला नहीं। वह कुछ पुराने के मोह में और कुछ नए के नशे में भूल रहा है। चलने दो, इन भिन्न-भिन्न मतों को, इन भिन्न–भिन्न पक्षों को, भारतीय जनमत स्वयमेव इनमें से अच्छे को चुन लेगा। इस दृष्टि से इस सभा का बड़ा महत्त्व है. यह भटके हुए लोगों का राह खोजने का प्रयास है। यह अच्छा है।

5.6 पंडितों की पंचायत : सार

गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर एवं आचार्य क्षितिमोहन सेन के सानिध्य के अतिरिक्त महान चित्रकार नंदलाल वसु, सी.एफ. एण्ड्रुज़, विनोदबिहारी मुखर्जी, प्रो.विंटरनित्स, पं विधुशेखर शास्त्री तथा वेणी माधव वाडुवा आदि महापंडितों का समागम प्राप्त किया इसी के चलते आचार्य द्विवेदी के सृजनात्मक शास्त्रीय पाण्डित्य ने बहुसांस्कृतिक स्तर की रचना-दृष्टि प्राप्त की। आचार्य द्विवेदी की यही दृष्टि उनके निबंधों खासकर ललित निबंधों की केन्द्रीय रेखा के रूप में कार्यशील है। ललित निबंधों के रूप में आचार्य द्विवेदी में अपने समाज, संस्कृति, सभ्यता, कला और जीवन के संबंध में कालातीत साहित्य की उद्भावना की है। 'पंडितों की पंचायत' भी इसी श्रेणी का ललित निबंध है। इस निबंध का उद्देश्य एक तरफ जहाँ सहस्रों वर्षों से अर्जित सूक्ष्मतम ज्योतिष विद्या का विकासमान पक्ष उजागर करना है वहीं दूसरी तरफ शास्त्र के समानांतर चलने वाली सृजनबद्ध, सहज लोक-दृष्टि का रेखाकंन एवं महत्त्व प्रतिपादन भी है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का लिखा यह निबंध अपनी सृजनात्मकता, सहजता, पाण्डित्य और सांस्कृतिक-सम्पन्न दृष्टि के कारण अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हालाकि 'पंडितों की पंचायत' नामक यह निबंध अपनी विषय वस्तु, संवाद-शैली, भाषा-प्रक्रिया, उद्देश्य एवं सांस्कृतिक अवधारणा के आधार पर अपनी तरह का अकेला निबंध नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अन्य कई निबंध अपनी आंतरिक रचनाप्रक्रिया और बाह्य रूपाकार के आधार पर समानशील हैं। इस बात को पुष्ट करने के लिए 'ठाकुर जी की बटोर', 'अशोक के फूल', 'भारतीय मेले', 'घनपति से घनश्याम तक' आदि अन्य कई निबंधों का उदाहरण दिया जा सकता है। सम्पूर्ण भारतीय सांस्कृतिक इतिहास को महाकाल की अवधारणा के साथ जोड़कर मानव सत्य की सर्वप्रमुखता एवं मानवीय संवेदनों की व्याख्या करना आचार्य द्विवेदी के साहित्य का केन्द्रीय बिन्दु है।

'पंडितों की पंचायत' निबंध का स्वरूप भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के भीतर से प्रसरित मानव-सत्य की जिजीविषा पर आधारित है।

अपने गाँव की एक छोटी सी घटना समस्या के बहाने पं. द्विवेदी सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में व्याप्त ज्योतिष विद्या के विकासमान एवं शास्त्रीय स्वरूप की समीक्षा के भीरत वे शास्त्र और लोक के द्वन्द्व को केन्द्रीय बिन्दु के रूप में स्थापित करते हुए शास्त्रीय चिंता के परिप्रेक्ष्य में विकासशील लौकिक ज्ञान को प्रमुखता देते हैं। संस्कृत के पण्डित होते हुए भी आचार्य द्विवेदी लोक ज्ञान की महत्ता को जानते हैं और पंडितों की जड़ पंचायत में बैठे-बैठे सम्पूर्ण मानवीय विकास-चेतना के लिए सूत्र-रत्नों का निर्माण करने का प्रयत्न करने लगते हैं। आचार्य द्विवेदी प्रस्तुत निबंध में भी लोक चिंता से परिचालित दिखाई देते हैं। वे अपने अन्य निबंधों की ही तरह इस निबंध में शास्त्र को लोक का अनुगामी मानने की बात करते हैं। जैसा कि आप ने निबंध में पढ़ा -

" यह जो एकादशी व्रत का निर्णय मेरे सामने हो रहा है, जिसमें बीसियों आचार्यों के सैकड़ों श्लोक उद्धृत किए जा रहे हैं, अपने आप में ऐसा क्या महत्व रखता है जिसके लिए एक दिन सैकड़ों पंडितों ने परिश्रमपूर्वक सैकड़ों निबंध रचे थे और आज आसेतु हिमाचल समस्त भारतवर्ष के पंडित उनकी सहायता से व्रत का निर्णय कर रहे हैं। क्या श्रद्धापूर्वक किसी एक दिन उपवास कर लेना पर्याप्त नहीं था! यदि एकादशी किसी दिन 55 दण्ड से ऊपर हो गई, या किसी दिन उदय काल में न आ सकी, या किसी दिन उदय काल में आ गई तो क्या बन या बिगड़ गया ? किसी भी एक दिन व्रत कर लेना पर्याप्त नहीं है ? मुझे 'ननु' 'तथा च' और 'उक्त च' की धुआँधार वर्षा से मध्य युग का आकाश इतना आविल जान पड़ा कि बीसवीं शताब्दी का ज्ञान लोक अनेक चेष्टाओं के बाद भी निबंधकारों की असली समस्या तक नहीं पहुँच सका। मैंने फिर एक बार सोचा, शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर यह चुहिया क्यों निकाली जा रही है। "

आचार्य द्विवेदी मानवीय चेतना को सहज और विकासशील मानते हैं । परम्परा का पाठ - पूर्व एवं उत्तर पक्ष के आधार पर करते हुए वे दोनों ही पक्षों को समान भाव से सम्मान की दृष्टि से देखने की पक्षपाती हैं परन्तु शर्त यह है कि मानवीय-सत्य, मानवीय मूल्यों का संवर्धन एवं संरक्षण होता रहे। आचार्य द्विवेदी का सम्पूर्ण साहित्य मानवीय मूल्यों, मानवीय-सत्य, मानवता एवं सम्पूर्ण भारतीय चेतनाधारा पर अखण्ड विश्वास एवं श्रद्धा का साहित्य है। आचार्य द्विवेदी निबंध का अंत करते हुए लिखते हैं – " लेकिन भारतीय संस्कृति क्या सचमुच ऐसी कमजोर नींव पर खड़ी है, कोई एक एक्ट, कोई एक कानून और कोई एक विचार-विनिमय उसे हिला दे ? मैं समझता हूँ, नहीं। मेरे सामने छः हजार वर्षों की और सहस्त्रों योजन विस्तृत देश की विशाल संस्कृति खड़ी है, उसके इस वृद्ध शरीर में जरा भी बुढ़ापा नहीं है, वह किसी चिरनवीन प्रेरणा से परिचालित है। उसके मस्तिष्क में सहस्त्रों वर्ष का अनुभव है; लेकिन थकान नहीं है, उसकी आँखों में अनादि तेज झलक रहा है, पर आलस्य नहीं है! वह अपूर्व शक्ति और अनंत धैर्य को अपने वक्ष-स्थल में वहन करती आ रही है। उसने अपने विराट परिवर्तनशील दीर्घ जीवन में क्या -क्या नहीं देखा है ? कुछ और देख लेने में उसे कुछ भी झिझक नहीं,

कुछ भी हिचक नहीं है। जो लोग इस तेजोमय मूर्ति को नहीं देख सकते वही घबराते हैं, मैं नहीं घबरा सकता। शास्त्र चर्चा अब भी चल रही थी। मैं सोचने लगा क्या यह जरूरी नहीं है कि सभी पंचांगवाले एकमत होकर एक ही तरह का निर्णय करें। शायद नहीं। क्यों कि हमारा देश एक विचित्र परिस्थिति में से गुजर रहा है। वह पुराना रास्ता छोड़ने को बाध्य है, किन्तु नया रास्ता अभी मिला नहीं। वह कुछ पुराने के मोह में और कुछ नए के नशे में भूल रहा है। चलने दो, इन भिन्न-भिन्न मतों को, इन भिन्न–भिन्न पक्षों को, भारतीय जनमत स्वयमेव इनमें से अच्छे को चुन लेगा। इस दृष्टि से इस सभा का बड़ा महत्त्व है. यह भटके हुए लोगों का राह खोजने का प्रयास है। यह अच्छा है। "

अभ्यास प्रश्न

अभ्यास प्रश्न क - अतिलघु प्रश्न

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी का जन्म कब और कहाँ हुआ।
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी के पिता का नाम क्या था।
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी के चार उपन्यासों के नाम बताइये।
4. हजारी प्रसाद द्विवेदी की मृत्यु कब हुई ?

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी का संक्षिप्त जीवन वृत्त लिखिए।
2. हजारी प्रसाद द्विवेदी का संक्षिप्त साहित्यिक परिचय लिखिए।

अभ्यास प्रश्न (ख) अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 'पंडितों की पंचायत' निबंध किस पुस्तक में संकलित है।
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने निबंध की कितनी कोटियाँ मानी है ?
3. आचार्य वराहमिहिर की रचना का नाम बताइये।
4. 'पंडितों की पंचायत' किस कोटी का निबंध है।

5.7 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने -

- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने व्यक्तिगत एवं साहित्यिक जीवन एवं उसके क्रमिक विकास का ज्ञान प्राप्त किया होगा
- 'पंडितों की पंचायत' निबंध का परिचय एवं उसके पाठ द्वारा ललित निबंध का आस्वाद प्राप्त किया होगा।
- लोक तथा शास्त्र के चिरपरिचित द्वन्द्व के भारतीय जनमानस पर पढ़ने वाले स्वरूप एवं प्रभाव को समझा होगा।
- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक महत्त्व का ज्ञान प्राप्त किया होगा।

5.8 शब्दावली

1.	तिलमिलाकर	-	गुस्से में,
2.	अनुसंधान	-	खोज, ढूढ़ना
3.	शतच्छिद्र	-	कई सौ छेदों वाला
4.	विध्वस्त	-	टूटना, खण्डित
5.	आत्मनिष्ठ	-	अपने आप में लगा हुआ
6.	व्यैक्तिक	-	व्यक्ति संबंधी
7.	आत्मभिव्यक्ति	-	अपने आप को प्रकट करना
8.	परिहार	-	खत्म, समाप्त

5.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न (क) के उत्तर

1. 19 अगस्त, 1907, बलिया (उ.प्र.) में हुआ
2. पं0 अनमोल द्विवेदी
3. बाणभट्ट की आत्मकथा, चारूचन्द्रलेख, अनामदास का पोथा, पुनर्नवा
4. 19 मई 1979, दिल्ली

अभ्यास प्रश्न (ख) के उत्तर

1. कल्पलता (1951)
2. 1. वार्तालाप मूलक 2. व्याख्यान मूलक 3. अनियंत्रित गप्प-मूलक 4. स्वगत-चिन्तन मूलक 5. कलह-मूलक
3. वृहत् संहिता
4. ललित निबंध

5.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा. राजमल बोरा, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, व्यक्ति और साहित्य, गणपति चंद्र, गुप्त, भारतेन्दु भवन, चण्डीगढ़
3. हजारी प्रसाद द्विवेदी: चिंतन और व्यक्तित्व , (सं) कृपाशंकर चौबे, कलकत्ता
4. साहित्य सहचर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी
5. दूसरी परम्परा की खोज, नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
6. व्योमकेश दरवेश, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

5.11 निबंधात्मक प्रश्न

1.आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व एवं कृतित्त्व पर विस्तार से एक निबंध लिखिए।

2.'पंडितों की पंचायत' निबंध का समीक्षात्मक विवेचन करते हुए आचार्य द्विवेदी की प्रासंगिकता एवं महत्त्व स्पष्ट कीजिए।

इकाई 6 :उत्तराखण्ड में संतमत और संत साहित्य : परिचय, पाठ एवं आलोचना

इकाई की रूपरेखा

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल: व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व
6.4 उत्तराखण्ड में संतमत और संत साहित्य : पाठ
6.5 निर्गुण संत मत और डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
6.6 सारांश
6.7 शब्दावली
6.8 उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.9 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में आप उत्तराखण्ड के बहुप्रतिष्ठित विद्वान एवं निर्गुण साहित्य के मर्मज्ञ डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल द्वारा लिखित 'उत्तराखण्ड में संतमत तथा संत साहित्य' का अध्ययन करेंगे।

6.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

• डा. पीताम्बर बड़थ्वाल के जीवन एवं साहित्य से परिचय प्राप्त कर सकेंगे।

• हिंदी साहित्येतिहास के अन्तर्गत निर्गुण सम्प्रदाय की स्थिति तथा उत्तराखंड की भूमि में प्रसारित संत मत विशेषतः निर्गुण संत मत एवं साहित्य के संबंध में ज्ञान लाभ कर सकेंगे ।

6.3 डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल: व्यक्तित्व एवं कृत्तित्व

पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का जन्म शुक्रवार 24 मार्गशीर्ष सं0 1958 (13 दिसम्बर, 1901) को गढ़वाल में लैंसडाउन के पास पाली नामक एक छोटे से गांव में हुआ था। इनके पिता का नाम पं. गौरीदत्त बड़थ्वाल था। वे अच्छे ज्योतिषी तथा कर्मकाण्डी विद्वान थे। बालक पीताम्बर का पालन उनके ताऊ पं. मणिराम बड़थ्वाल ने किया, जिनकी अपनी कोई सन्तान नहीं थी। वैसे भी जब बालक पीताम्बर केवल दस वर्ष के थे तो उनके पिता पं. गौरीदत्त जी का देहावसान हो गया था।

आरम्भ में घर पर रहकर ही उन्होंने संस्कृत की पढ़ाई अमरकोष के अध्ययन से आरम्भ की। कुछ समय समीपस्थ विद्यालय में अध्ययन करने के बाद वे श्रीनगर (गढ़वाल) गवर्नमेंट हाई स्कूल में अध्ययन करने चले गए, परन्तु वहां उपयुक्त में कालीचरण हाई स्कूल में प्रवेश लिया, जहां उस समय हेडमास्टर

के पद पर हिंदी के दिग्गज बाबू श्यामसुन्दरदास काम कर रहे थे। बाबू श्यामसुन्दरदास अपने विद्यार्थी पीताम्बर दत्त से अत्यधिक प्रभावित हुए और यह परिचय घनिष्ठ होकर बाद में साहित्यिक सहयोग में परिवर्तित हो गया। 1920 में हाई स्कूल सम्मान सहित पास कर, वे एफ.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। तदुपरान्त बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में बी.ए. करने के लिए नाम लिखा लिया था, परन्तु बीमार पड़ने के कारण पढ़ाई न कर सके। लगभग दो वर्ष तक बीमारी की हालत में गांव में रहे। इसी दौरान इनके ताऊ का भी देहान्त हो गया। 1924 में उन्होंने बनारस जाकर इन्हीं दिनों बनारस पुन: पढ़ाई आरम्भ किया। सन् 1926 में बी0ए0 की परीक्षा पास की। सौभाग्यवश इन्हीं दिनों बनारस विश्वविद्यालय में एम0ए0 परीक्षा में प्रथम श्रेणी स्थान प्राप्त किया। उन्हें हिंदी विभाग में शोध कार्य पर नियुक्त किया गया। वे अपना शोध कार्य बड़े मनोयोग से करने लगे और इसी दौरान 1926 में उन्होंने एल.एल.बी. की परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली . 1930 में वे बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में लेक्चरार नियुक्त किए गए।

अध्यापन कार्य के बाद उन्हें जो भी समय मिलता था उसे वे शोधकर्ता में लगाते थे। उनकी अध्ययनशीलता को देखकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने उन्हें अपने खोज विभाग का अवैतनिक संचालक नियुक्त किया, साथ-साथ वे स्वयं डाक्टरेट की तैयारी में लगे रहे। दो-तीन वर्ष परिश्रम करने के बाद उन्होंने अपना शोध निबंध 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ हिंदी पोयट्री' प्रस्तुत किया।
अपनी साहित्य साधना में वे निरन्तर लगे रहे। जिसके परिणामस्वरूप वे विद्वानों में गिने जाने गले और जगह-जगह महत्वपूर्ण सम्मेलनों में बड़े आदर से बुलाए जाने लगे। यह सब होते हुए भी बनारस में इन्हें असिस्टेंट प्रोफेसर का वेतनमान नहीं दिया गया। महामना मालवीय जी आदि ने हिंदी अध्यापकों को अन्य विषयों के अध्यापकों के समकक्ष वेतन देने से इन्कार कर दिया। डॉ.बड़थ्वाल ने वाइस-चांसलर को सम्बोधित कर अपने 6 मार्च 1938 के अभ्यावेदन में स्पष्ट रूप से लिखा था कि ''अन्य विषयों के डी. लिट्. के समकक्ष मुझे वेतन ने दिए जाने कारण एक ही दिखाई देता है और वह है मेरा हिंदी का स्नातक होना।'' इसके बाद वे लखनऊ चले गए, वहां हिंदी विभाग के प्राध्यापक के रूप में काम करने लगे। परन्तु चाहे जो भी कारण रहा हो लखनऊ का वातावरण उन्हें माफिक नहीं रहा और धीरे-धीरे उनकी शारीरिक तथा मानसिक अस्वस्थता बढ़ती गई। जब काम करना असम्भव हो गया तो अपने गांव आकर रहने लगे जहां सोमवार 24 जुलाई, 1944 (सं0 2001 के श्रावण मास की शुक्ल चतुर्थी) को उनका देहावसान हो गया।

डॉ. बड़थ्वाल का जीवन संघर्ष का जीवन रहा। एक ओर पारिवारिक चिन्ताएँ, दूसरी ओर अर्थाभाव उन्हें घेरे रहा। फिर भी वे निरन्तर हिंदी की सेवा करते रहे।" (सच्चिदानंद कबटियाल)

6.4 उत्तराखण्ड में संतमत और संत साहित्य : पाठ

सन्त विचार-परम्परा का गढ़वाल से विशेष संबंध है। संत मत मूल्त: निवृत्ति मार्ग है। उसके सर्वप्रथम आचार्य सनत्कुमार थे छांदोग्य के अनुसार इस संतमत अथवा अध्यात्म-विद्या को सनत्कुमार से नारद

से सीखा। इन्हीं नारद की प्रचार की हुई भक्ति में कबीर आदि संतों ने भी डुबकी लगायी। सनत्कुमार ने नारद की वृत्ति को धीरे-धीरे अन्तर्मुख किया। वेद, अन्न, स्मृति, आशा, प्राण, सत्य, मति, श्रद्वा, भूमा आदि के मार्ग से ले जाते हुए वे नारद को वास्वविक आत्मानुभूति की अवस्था तक पहुँचा देते हैं। महाभारत के नारदोपाख्यान के अनुसार नारद की अध्यात्म मार्ग को सीखने के लिए ऐकांतिकों के पास श्वेतद्वीप गये थे। श्वेतद्वीप सूमेरू से उत्तर दिशा में क्षीरसागर के उत्तर तट पर एक द्वीप था। थियासफी के योगविदों के अनुसार यह स्थान चीन के गोबी नामक विस्तीर्ण मरू में-जहाँ पहले क्षीरसागर रहा होगा, अब भी विद्यमान है और इस सृष्टिकाल के सबसे बड़े आचार्य सनत्कुमार अब भी वहाँ रहते हैं। पंडित नरदेव शास्त्री तो हिमगिरि को ही श्वेतद्वीप मानते हैं और गढ़वाल को सनत्कुमार का स्थान।महाभारत के अनुसार जिन लोगों से अध्यात्म-विद्या सीखने के लिए नारद श्वेतद्वीप गये थे वे 'नारायण पर' थे और उसमें संदेह नहीं कि समेरू के निकट नारायणीय धर्म के संबंध रखने वाला सबसे प्रसिद्व स्थान बदरिकाश्रम है जिसका महाभारत-काल में भी आजकल ही के समान अत्यन्त आदर था।

बदरीनाथ बदरीनारायण हैं। बदरिकाश्रम नारायणाश्रम है और नारायण के अवतार व्यासजी का भी मूल आश्रय वही है। वहीं उन्होंने अध्यात्मविद्याके आधार ग्रथ ब्रह्मसूत्र का प्रणयन किया था। वस्तुत: उत्तराखंउ का यह प्रदेश सच्ची तपोभूमि है। प्राचीन काल में तपस्या के द्वारा यहीं बड़े-बड़े तपस्वियों को ज्ञान प्राप्त हुआ। अष्टावक्र ऋषि यहीं विदेहावस्था को प्राप्त हुए। व्यासाश्रम (व्यासगुफा), वसिष्ठाश्रम (हिंदाव) परशुरामाश्रम, बालखिल्याश्रम इस बात का प्रचुर साक्ष्य देते हैं कि यह प्राचीन ऋषियों की तपोभूमि है।

मध्य-युग के सबसे बड़े महात्मा गोरखनाथ ने भी यहीं अपनी सिद्वि प्राप्त की। "रख्वाली" (शरीर-रक्षा के) मंत्रों से पता चलता है कि उन्होंने अपनी घोर तपस्या 'धौलया उढ्यारी' (धवल गुहा) नामक गुफा में की थी। यह स्थान दक्षिण गढ़वाल में अत्यन्त निर्जन और बीहड़ स्थान में है। यहींवीर राजा काली हरपाल को उसकी माता ने बाल्यावस्था में बड़ी कठिनाइयों का यामना करते हुए पाला था। इस सथान का इस प्रकार गढ़वाल के इतिहास में ही नहीं संतों के इतिहास में भी बड़ा महत्व है। स्वयं गोरखनाथ ने तप के क्षेत्र में उत्तराखण्ड का बड़ा महत्व माना है।

दक्षिणी जोगी रंगा चंगा, पुरबी जोगी वादी।
पछिमी जोगी बाला भोला, सिंध जोगी उतराधी।।

गढ़वाल के मंत्र-साहित्य में गुरू गोरखनाथ का बड़ा प्राधान्य रहा है। जान पड़ता है कि किसी समय में नाथों का भी यहाँ बड़ा प्राधान्य था। अभी भी गढ़वालमें गोरखपंथी नाथ बहुत हैं। ओले, अति वर्षण आदि ईतियों के निवारण के लिए जिन डलियों को 'डाडवार' (वार्षिक वृत्ति) प्रत्येक गढ़वालीघर से मिलता है, वे नाथ ही हैं। दक्षिण गढ़वाल में बहुत नाथ रहते हैं।श्रीनगर में भी नाथों को एक अलग मुहल्ला है। गढ़वाल में बहुत नाथ रहते हैं। गढ़वाल में गोरखपंथियों का सबसे बड़ा स्थान देवलगढ़ के सत्यनाथ का मंदिर है। मूलत: देवलगढ़ देवी का पवित्र स्थान है। त्रिगर्त(काँगड़ा) के देवल नाम के एक प्राचीन राजा ने इस स्थान पर गौरा देवीका मंदिर स्थापित किया था ऐसा परंपरागत प्रवाद है देवल राजा

ही के नाम से इस स्थान का नाम देवलगढ़ पड़ा है। देवी का यह मंदिर अब तक देवलगढ़ में विद्यमान है और गोरजा देवीके मंदिर के नाम से प्रख्यात है। गढ़वाल के पँवार राज्यवंश का स्थापित किया हुआ राज-राजेश्वरी का मंदिर भी यहाँ है, परन्तु संतमत की दृष्टि से सत्यनाथ का मंदिर बड़ा महत्वपूर्ण है। इसके पीछेएक ऐतिहासिक परंपरा है जो एक बड़े ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत करती है। कहा जाता है कि राजा अजयपाल को भैरवनाथ ने सत्यनाथ ने सत्यनाथ योगी के रूप में यहीं दर्शन दिये और उन्हें कंधे पर चढ़ा कर अपना आकार बढ़ते हुए कहा कि जहां तक तुम्हारी दृष्टिजाती है, वहां तक तुम्हारा राज्य फैल गया और उसनेसत्यनाथ से प्रार्थनाकी कि अब अपना आकार न बढ़ाइए। राजा की दृष्टि हिमालय से लेकर शिवालिक (सपाद लक्ष) पर्वत-श्रेणीतक पहुँची और वहाँ तक उसका राज्य फैल गया।

किसी समय उत्तर-भारत में नाथों का खूब बोलबाला रहा है। वे केवल निरीह साधु ही नहीं रहे हैं नवीन राज्यों की स्थापना करने वाले और राज्य-शक्ति का परिचालन करने वाले भी रहे हैं। इसमें तो संदेह नहीं कि गोरखा राजा का नाम गोरखनाथ के नाम से पड़ा है। गोरखा राजा अपने आपको केबल दीवान मानते हैं, गद्दी का वास्वविक स्वामी तो गोरखनाथ माना जाता है। जान पड़ता है कि शिशोदियों की जो शाखा 94वीं शताब्दी के लगभग गोरख और पीछे नेपाल राज्य में अधिष्ठित हुई, उसको वहां लाने के कारण गोरखनाथ ही थे। जोधपुर में 97वीं 98वीं शताब्दी के नाथ लोगों के ही हाथामें प्राय:सारेराज्य की बागडोर रही है। गढ़वाल में पँवार-वंश को गहरी नींव देने में भी जान पड़ता है कि नाथों का कुछ साहाय्य रहा है, यह ऊपर के परंपरागत जनवाद से स्पष्ट है और कई प्रकार से इसकी पुष्टि होती है। गढ़वाल के गाँव-गाँव में सिद्वों के स्थानों का होना इस बात का सूचक है कि गोरक्ष आदि सिद्वों को यहाँ बड़ा माना था। सिद्वों ने गढ़वाल में ग्राम-देवताओं का स्थान ग्रहण कर लिया है और भैरव तथा देवी के साथ-साथ उनकी भी पूजा होती है। बल्कि भैरव और देवी की तो कभी-कभी याद आती है, सिद्वि का स्परण पद-पद पर किया जाता है। गढ़वाल में मंत्र-साहित्य में गोरखनाथ, सत्यनाथ, मछिंद्रनाथ, गरीबनाथ, कबीरनाथ, आदि सिद्वों की आणें पड़ती है।

जान पड़ता है कि देवलगढ़ में सत्यनाथ के मन्दिर की स्थापना संवत् 1683 में आषाढ़18 गते को हुई। उससे पहले वह केवल गुफा मात्र रही होगी। मन्दिर रूप में बन जाने पर पहले पीर हंसनाथ जी थे जिनका नाम मंदिर में संवत् के साथ लिखा हुआ है। किसी प्रभावशाली व्यक्ति प्रभातनाथ ने सम्भवत: उसी समय एक बड़ा भारी भंडारा भी किया था। उसका भी उल्लेख शिलालेख में है। यह भी सम्भव है कि मन्दिर की स्थापना हंसनाथजी ने बहुत प्राचीन काल में की हो और प्रभातनाथजी ने संवत् 1683 में मन्दिर की केवल मरम्मत और भंडारा किया हो। स्वर्गीय वजीर पं. हरीकृष्णजी रतूड़ी का मत है कि राजा अजयपाल ने राज-राजेश्वरी और सत्यनाथ दोनों मन्दिरों की स्थापना संवत् 1512 के लगभग की राजधानी चाँदपुर से हटा कर देवलगढ़ में स्थापित हुई।यह अजयपाल राजा वही हैं जिन्होंने गढ़वाल में बहुत कुछ शांति स्थापित की। इनके समय का चला हुआ देवलिया पाथा (पात्र भर कर अन्न नापने

का एक परिणाम द्यूल्या पाथो 'देवलीय प्रस्थ') अब तक गढ़वाल में प्रचलित है। इसके प्रचार संबंधी शिलालेख भी अब तक देवलगकढ़ में विद्यमान हैं।

जान पड़ता है कि नाथों का जो मान अजयपाल ने किया उसके कारण स्वयं वे भी महात्माओं की श्रेणी में आ गये हैं। नाथों या सिद्वों में केवल अजयपाल अजयपाल भरथरी और गोपीचन्द ही ऐसे हैं जिनके नाम से आगे नाथ या पाव ('पाद'-'पा' भी यही है) नहीं आये हैं इससे पता चलता है कि गोपीचन्द और भरथरी के समान सिद्व अजयपाल भी राजा था। कबीर का संत-मत से धनिष्ठ संबंध है। वह भी गढ़वाल में सिद्व मानाजाता है। कहीं-कहीं पर उसको कबीरनाथ भी कहा है। गढ़वाल में कबीर के मत का भी प्रचार हुआ था। गढ़वाल के डोम जो निंकार (निराकर) को पूजा चढ़ाया करते हैं, वस्तुत: कबीर के ही अनुयायी हैं। निरंकार की पूजा में कबीर की 'जागर' लगती है। यद्यपि कबीर अहिंसावादी थे फिर भी डोम निरंकार की पूजामें बड़ी निर्दयता से सुअरों का बलिदान करते हैं। किन्तु इस बलिदान को भी उन्होंने विलक्षण रूप से कबीर के साथ जोड़ दिया है।

जागर के अनुसार कबीर ने निरंकार को एक टोकरी अन्न और दो नारियल अग्याल (मनौती की अग्रिम भेंट) के रूप में चढ़ाये थे। कबीर जब कहीं बाहर गये हुए थे तब निरंकर स्वयं एक लंगड़े मँगता के वेश में कबीर के घर आया और उसकी स्त्री से भीख माँगने लगा। कबीर की स्त्री ने कहा कि घर में निरंकरकी अग्याल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। मँगता ने उसी में से अपने छोटे खप्पर को भरकर भीख मिल जाने का आग्रह किया। कबीर की स्त्री यह आग्रह न टाल सकी। किंतु मँगता का खप्पर तब जाकर भरा जब सारी अग्याल उसमें डाल दी गयी। कबीर की स्त्री अपने किये पर पछताती हुई खाली पात्र रखने के लिए भीतर गयी तो उसने सारा कमरा अन्न से भरा हुआ पाया। अब उसे सूझा कि हो न हो यह भिखमंगा स्वयं निरंकार ही था। परन्तु इससे पहले कि वह बाहर निकल कर उसके चरणों पर पड़े और अनुनय-विनय करे वह लंगड़ाता हुआ भाग खड़ा हुआ। भागने में उसके खप्पर में से दोनों नारियल एक मैले स्थान पर गिर गये और सुअर के रूप में परिवर्तित हो गये। तब से निरंकार के लिए सुअरों की बलि दी जाती है। एक प्रकार से सुअर सुअर नहीं, नारियल हैं और उनको चढ़ाने से अहिंसा का विरोध नहीं होता।

मैं तो समझता हूं कि मुसलमान कुल में पैदा हुए गुरू के चेलों को जब लोग मुसलमान ही गिनने लगे तब उनमें से कुछ को अपना मुसलमान न होना सिद्व करने के लिए शूकर-वध का यह उपाय काम में लाना पड़ा। यह कहा जा चुका है कि व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र की रचना बदरिकाश्रम में ही की थी। हिन्दी का भी थोड़ा-सा आध्याम्तिक साहित्य गढ़वाल में लिखा हुआ मिलता है।

मोलाराम का नाम चित्रकारी के लिए प्रसिद्व है। उसने चित्रकारी के साथ-साथ कविता भी की थी। मोलाराम ने नाना विषयों पर लिखा है। मोलाराम ने जो कुछ लिखा है उसका काव्य की दृष्टि से से विशेष महत्व नहीं परन्तु अन्य दृष्टियों से उसका बहुत महत्व है। गढ़वाल के तत्कालीन इतिहास पर उनकी कविताओं से अच्छी तरह प्रकाश पड़ाता है। थोड़ा बहुत अध्यात्म विद्या पर भी उन्होंने लिखा है। साधना पंथ के मनोविज्ञान की दृष्टि से इन कविताओं का बड़ा महत्व है।

कुछ मनस्तत्ववेत्ताओं का मत है कि मनुष्य के सब भावों का मूल्य प्रेरक श्रृंगार ही है। यही एक भाव नाना रूप धारण कर मनुष्य के विविध क्रिया-कलापों में प्रकट होता है। जान पड़ता है कि मोलाराम के विषय में गढ़वाल में भी एक साधना-पंथ ऐसा था जिसके आचार्यो को इस मनोवैज्ञानिक तथ्य का ज्ञान था और उसी पर उन्होंनेइस पंथ की नींवडाली थी। इस पंथ का नाम मोलाराम के अनुसार मनमथ-पंथ था। यह पंथ का नाम मोलाराम के अनुसार आदि शक्ति ही सर्वोपरि और सृष्टि का मूल है। अकल रूप में वह सदाशिव है, निर्गुण है। सकल या सगुण रूप धारण कर वही सृष्टि रचती है।

आदि शक्ति रचना जब रची या विश्व माहिं
मन मथि कै ध्यान धर् यो मनमथ हुलासा है।
मनमथ, सौ इच्छा भई भेग और विलास हूँ की
ताके हेत ब्रह्म हरि रूद्र कौं प्रकासा है।।

इस प्रकार मोलाराम के अनुसार आध्यात्मिक साधना धर्मनीति, समाजनीति, राजनीति, साहित्य, संगीत, कला, वाणिज्य-व्यवसाय सब क्षेत्रों में एक ही मूल प्रवृत्ति नाना रूपों में काम करती है। मनमथ, कामदेव आदि शब्दों के व्यवहार से यह नहीं समझना चाहिए कि जिस पंथ का वर्णन मोलाराम ने किया है, वह व्यभिचार फैलाने वाला पंथ है। मोलाराम ने स्पष्ट शब्दों में कुमार्ग का त्याग दया दाक्षिण्य मुक्त गृहस्थ धर्म को पालना, मन को साधना और अंतर्मुख जीवन बिताना आवश्यक बतलाया है।

है तुहू अन्दर बैठ निरंतर लेख्यो लिलाट कही नहीं जावैं।
छाड़ि कुमारग मारग मैं रहौ, धृस्य कौं मूल दया हितरावै।।
साधन तें मन साधले आपनों मोलाराम महा सुष पावै।
है तुहु अन्दर दुइत मन्दर क्यौं जग बन्दर सौं भरमावै।

वस्तुत: इस पंथ ने मनुष्य की वास्तविक प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया है और अपनी साधना को दृढ़ आधारशिला पर रखा है, जिससे साधक धोखे में न पड़े। जैसा 'यत: प्रवृति प्रसृता पुराणी' से पता चलता है। गीता भी मानती है कि फैलाव जितना है प्रवृत्ति का है। इसलिए वही पंथ जो इस प्रवृत्ति को ध्यान में रख कर चलता है, वस्तुत: लाभदायक हो सकता है। अतएव मोलाराम ने जीव से सीव (शिव-ब्रह्म) होने को एक मात्र उपय बताया है। इन मन:शक्ति को उपयुक्त रूप में मंथन कर उसे नाना दिशाओं में दौड़ने से रोक कर एक ही स्थान में लाना यही सारी साधना का सार है, इसी का दूसरा नाम निवृत्ति तथा योग है: मन के साथ जोब-जबर से काम नहीं चलता। उसे बलात एक स्थान पर सिमटाना असंभव है। उसीलिए मन को समझाने का उपदेश है:

काहू सौं बकवाद नहीं हम करैं करावैं।
मनमथ पंथी होय अपनो मन समझावैं।
कहा बाद मैं स्वाद जो हम काहूँ सों बादैं।
जे सज्जन कुलतन्त सं सो मन कौ साधैं।

मोलाराम विचार कही सुनो पंच प्रवीन तुम।
भये भक्त जग माहिं जे सब दासन के दास हम।।

जितने योग के साधन हैं, सबका उद्देश्य मन को समझा-बुझा कर एक ठिकाने पर लाना है। जप, तप, षटचक्र-वेध नादानुसंधान, ज्योति दर्शन सबका मनमथ पंथ में मोलाराम के अनुसार उचित स्थान है। यहाँ पर इतना स्थान नहीं है कि मोलाराम के इस संबंध के पूरे उद्धरण दें। परन्तु इतना तो स्पष्ट हो गया है कि मोलाराम का यह मनमथ पंथ मनस्तत्व और दर्शन के उच्च सिद्वांतों पर टिका हुआ एक शुद्व साधना मार्ग है। इसमें प्राचीन परम्परा से आती हुई उन बातों का मोलाराम ने सिद्वांत रूप से संवत् 1850 के लगभग उल्लेख कियाथा जिनको मनस्तत्व के क्षेत्र में बड़े-बड़े विद्वान् समझ रहे है कि हम ही पहले पहल आविष्कार कर रहे हैं। उन्हीं बातों के कारणमोलाराम के अनुसार यह पंथ अमृत का सार है। जो उसे जानते हैं उन्हें ब्रह्मनन्द लाभ होता है।

मनमथ को पथ ऐसो, इमृत को सार जैसो।
जानत हैं सोई संत ब्रह्म को बिलासा है।।

इसी प्रकार स्वामी शशिधर का भी गढ़वाली संत साहित्यकारों में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। महात्मा हरिमुनि शर्मा इनका बड़ा आदर करते थे। सं.1882 में ये ब्रह्मलीन हुए। इनके रचे हुए 1- दोहों की पुस्तक (दोहावली), 2- ज्ञानदीप, 3-सच्चिदानंद लहरी, और 4- योग-प्रेमावली का विवरण नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट (1912-1994) में मिलता है।

ये बड़ी पहुँच के ज्ञानी थे। जीवन-मुक्त होकर इसी शरीर से वे उस ब्रह्म पर को प्राप्त हो गये थे, जहाँ ब्रह्म की सृष्टि और विष्णु के अवतारों की पहुँच नहीं। रूपक की भाषा में उन्होंने ऐसे शहर में व्यापार करने की बात कही है:

ब्रह्म न रचे जहाँ विष्णु को नहि अवतार।
ऐसो सहर में सदा करै सब बसि बजार।।
एहि जाने सो ताको पंडित, करै मुतबाल बसाइ।
जाने बिना मिले नहीं, मूढ़ करि होत थकाइ।।

सब को वे उस स्थान तक पहुँचने का आदेश देते हैं। ब्रह्मानुभव के आनंद का उन्होंने बड़ा अच्छा वर्णन किया है:

ध्यान भजन तहाँ नहिं पूजा, आपे आप अतीत आवरण दूजा।।
बंधन-मोक्ष तहाँ पूरण आनंद, आपे आप सहज खेले निरबंद।।

-सच्चिदानन्द लहरी

इस पद तक पहुँचने का उन्होंने जो मार्ग बतलायाहै उसमें भी मन की शक्तियों का भली-भाँति ध्यान रखा गया है। उन्होंने कहा है कि ब्रह्म-लीन होने के लिए ब्रह्म-बोध होना आवश्यक है और ब्रह्म-बोध तब तक नहीं हो सकता जब तक मन को बोध विषय की प्रतीति नहीं होती।

मैं क्या कहूँ कहँ यति सति सभ कोई,

सभ सभी गावै जो बुझै सो सभ होई।
प्रतित सें बोध होवै बोध से लय लागे मन,
मन के गति मुनि जाने जाके मिलि गये तन। - ज्ञानदीप

मन को बिना कष्ट पहुँचाये सुख से अंतर्मुख करने के लिए उन्होंनेमन के सामने कृष्ण का परम प्रेमालुप्त स्वरूप रखा है:

नमस्ते नन्द कुमार नमस्ते गोपिका बर ।
बोधात्मा साधनी गावै दीन दास शशिधरा।।

भगवत्भजन और प्रपत्ति की भी उन्होंने महत्ता गायी है।

काया कर निकर मुख राम भजि
भक्ति मन आत्मा जागला।
येति निज नाम खेवा खियायि
भवाब्धि की बड़ पार लागला।। - योग-प्रमावली

यहां पर साधना के अतिरिक्त 'जागला'और 'लागला'आदि में उनकी भाषा का पहाड़ीपन ध्यान देने योग्य है।

गढ़वाल में संत-साहित्य का मिलना कोई आश्चर्य की बात नहीं। तितिक्षा और वैराग्य का पाठ पढ़ने युग-युगान्तर से साधक लोग इस तपोभूमि में आते रहे हैं। ब्रह्म विद्या का तो इसे घर होना चाहिए। मैंने जो कुछ यहां लिखा है वह तो लेशमात्र है जो मुझे आसानी से प्राप्त हेा गया। गढ़वाल ही नहीं समस्त पर्वतीय देशों में अध्यात्म विद्या के ही नहीं किसी प्रकार के साहित्य का भी अभी तक अच्छी तरह से अन्वेषण नहीं हुआ है। उन्मेषशील युवक समाज से आशा की जातीहै कि वह उत्साहपूर्वक इस काम को अपनेहाथ में लेगा। हमारे वयोवृद्व उन्हें साहित्य के कल्याण-मार्ग पर सत्प्रेरणा दें और श्रीमंत उनकी कठिन साधना से प्राप्त सामग्री को प्रकाश में लाने के साधन सुलभ करें जिससे एक परिश्रम का साफल्य उत्तरोत्तर और परिश्रमों तथा प्रयत्नों की प्रेरणा करता रहे।("डा. पीताम्बर दत्त बडथ्वाल के श्रेष्ठ निबंध " पुस्तक से साभार)

6.5 निर्गुण संत मत और डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल

डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल हिंदी शोध और आलोचना के अग्रदूत रहे है। एक समय जब उच्च कक्षाओं में हिंदी का अध्ययन और अध्यापन नहीं होता था और प्राचीन हिंदी ग्रंथों की पर्याप्त खोज नहीं हुई थी, तब डा. बड़थ्वाल ने पं. रामचंद्र शुक्ल और श्याम सुन्दरदास के साथ हिंदी शोध ओर आलोचना की गहरी नींव डाली। पं. रामचंद्र शुक्ल और बाबू श्याम सुन्दर दास आलोचना के क्षेत्र में व्यस्त रहे जब कि डा. बड़थ्वाल ने शोध का कार्य अपनाया। उन्होंने अपने शोध के लिए संत साहित्य को चुना जो तब अंधकार में पड़ा था और जो साहित्य रूप में विशेष चर्चा का विषय भी न

था। उन्होंने पहली बार मूल स्रोत तक पहुँचने की कोशिश की और नई मान्यताएं स्थापित की। कबीर आदि संतों और गोरख, रामानंद आदि पर उन्होंने जो कार्य किया वह आज भी नींव के पत्थर की तरह है। डा. बड़थ्वाल ने अनेक दुष्प्राप्य हस्तलिपियों का संग्रह किया था, जिनके अध्ययन के आधार पर उन्होंने नागार्जुन, चौरंगीनाथ, कणोरिपाव, स्वामी राद्यवानन्द, सिद्धान्त पंचमात्रा निरंजनी धारा, हिंदी कविता में योग प्रभाव, कबीर का जीवन वृत, कबीर के कुल का निर्णय आदि जटिल विषयों पर लेख लिखे। डा. बड़थ्वाल के सबसे महत्वपूर्ण लेख वे हैं जो हिंदी साहित्य के इतिहास की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हैं तथा श्रृंखला को जोड़ने में सहायक होते हैं। डा. बड़थ्वाल ने अनेक ग्रंथ लिखे हैं जिनमें गोरखवानी युग प्रवर्तक रामानंद, सूरदास, रामचंद्रिका, सूरदास, योग प्रवाह, मकरंद आदि उल्लेखनीय हैं। किंतु उनका सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ 'हिंदी काव्य में निर्गुण धारा' है जो डी.लिट्. का पहला-पहला शोध प्रबंध माना जाता है, प्रस्तुत ग्रंथ शोध और आलोचना का एक मानक प्रस्तुत करता है। संतमत पर उनकी खोजों ने आगे के शोधकर्त्ताओं का मार्ग प्रशस्त किया है हमें इस आधारभूत ग्रंथ को प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष है।

" हिंदी-काव्य के इतिहास का पूर्व-रूप हमें पहले-पहल उन काव्य-संग्रहों में दीख पड़ता है जिन्हें समय-समय पर, कुछ व्यक्तियों ने, अपनी रूचि के अनुसार प्रस्तुत किया था और जिनमें, कवियों से अधिक उनकी कृतियों पर ही ध्यान दिया गया था। इसके अनन्तर कविताओं के साथ-साथ उनके रचयिताओं के संक्षिप्त परिचय भी दिये जाने लगे और उक्त प्रकार से संगृहीत रचनायें, क्रमशः केवल उदाहरणों का रूप ग्रहण करने लगी। ऐसे कवियों का नामोल्लेख, उस समय अधिकतर वर्णक्रमानुसार किया जाता था तथा उनके समय व स्थानादि का निर्देश कर दिया जाता था। उनकी कविताओं में उपलब्ध साम्य व उनकी वर्गीकरण की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था। इस दूसरे प्रकार के विवरणों का देना, उस समय से आरम्भ हुआ, जब कुछ प्रतिनिधि कवियों के अनुसार काल-विभाजन की भी प्रथा चल निकली और प्रत्येक वर्ग की चर्चा उसके काल क्रमानुसार की जाने लगी। ऐसा करते समय उन कवियों की विशेषताएं बतलायी जाने लगीं, उनकी पारस्परिक तुलना की जाने लगी और कभी-कभी उनकी रचनाओं का आलोचनात्मक परिचय भी दे दिया जाने लगा। इस प्रकार उक्त कोरे काव्य-संग्रहों का रूप क्रमशः काव्य के इतिहास में परिणत होने लगा और कवियों के साथ-साथ गद्यलेखकों की भी चर्चा आ जाने के कारण इस प्रकार की रचनाएं पूरे हिंदी साहित्य का इतिहास बनकर प्रसिद्ध हो चली। परन्तु नामानुसार किया गया उक्त काल-विभाजन भी आगे चलकर उतना उपयुक्त नहीं समझा गया। कवियों एवं लेखकों की विभिन्न रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय अब उनके रचना-काल की परिस्थितियों पर भी कुछ अधिक विचार किया जाने लगा और तात्कालिक समाज के भीतर उनकी भावधारा तथा रचनाशैली की विशेषताओं के कारणों की भी खोज की जाने लगी। तदनुसार एक समान रचनाओं के किसी काल विशेष में ही उपलब्ध होने के कारण क्रमशः उनके रचनाकाल की प्रमुख विचारधाराओं का भी पता लगाना आवश्यक हो गया है और इस प्रकार उक्त काल-विभाजन के आधार में आमूल परिवर्तन कर दिया गया। आचार्य रामचन्द्र

शुक्ल ने सर्वप्रथम अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' की रचना बहुत कुछ इसी दृष्टिकोण के अनुसार सं. 1986 में की थी और तब से वैसे अन्य इतिहासकार भी अधिकतर इसी नियम का पालन करते आये हैं। वे प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण उनकी विभिन्न धाराओं के अंतर्गत भिन्न-भिन्न कवियों का वर्गीकरण करते हैं और उनका वर्णन करते समय कृतियों की समीक्षा पर भी विशेष ध्यान देते आये हैं। फलतः हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल के अंतर्गत 'निर्गुणधारा' एवं 'सगुणधारा' नाम की दो भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों की कल्पना की गयी है और 'निर्गुणधारा' को भी 'ज्ञानाश्रयी' तथा 'प्रेमाश्रयी' नामक दो शाखाओं को विभाजित कर, कबीर, नानक आदि कवियों का परिचय 'ज्ञानाश्रयी शाखा' के अंतर्गत किया जाने लगा है।

कबीर, नानक, रैदास, दादू जैसे संतों के नामों से लोग बहुत दिनों से परिचित थे और उनकी विविध बानियों का प्रचार भी अनेक वर्षों से बढ़ता ही चला जा रहा था। स्वयं उन संतों ने अपने पूर्ववर्ती संतों के नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिये थे और बहुधा उन्हें सफल साधकों व भक्तों की श्रेणी में गिनते हुए उनका स्मरण किया था। इसी प्रकार भक्तमालों के रचयिताओं ने भी अपने पूर्वकालीन संतों के चमत्कारपूर्ण जीवन की झांकियां दिखलाई थी और कभी-कभी उनकी विशेषताओं की ओर लक्ष्य करते हुए उनके महत्व का मूल्यांकन करने की भी चेष्टा की थी। परन्तु, इस प्रकार के वर्णन अधिकतर पौराणिक पद्धति का ही अनुसरण करते आये और इसी कारण इनमें उनके सर्वांगपूर्ण परिचय के उदाहरण नहीं पाये जाते। इसी प्रकार हम उन आलोचनात्मक परिचयों को भी एकॉगी ही कह सकते हैं जो यूरोप तथा भारत के कतिपय विद्वानों-द्वारा विविध धर्मों के इतिहासों में दिये गये मिलते हैं और जिनमें इन संतों की सांप्रदायिक प्रवृत्ति और इनकी सुधार-पद्धति की ओर ही विशेष ध्यान दिया गया है। संतों की कृतियों का अध्ययन उनमें केवल धार्मिक दृष्टिकोध से ही करने का प्रयत्न किया गया है और इनके नामों के आधार पर निकले हुए पंथों का इतिहास भी बतलाया गया है। इस कारण ऐसी पुस्तकों में विशेष कर प्रचलित भेदों और उपासना-पद्धतियों का विस्तृत वर्णन ही पाया जाता है।

उपर्युक्त साहित्यिक अथवा सांप्रदायिक परिचयों में इन संतों का वर्णन सामूहिक रूप में किया गया नहीं दीख पड़ता। पहले प्रकार के ग्रंथों में इन्हें अन्य कवियों की ही भांति पृथक-पृथक परिचित करा कर इनकी रचनाओं के कुछ विवरण दे दिये गये हैं और इसी प्रकार, उक्त धार्मिक इतिहासों में भी इन्हें निरा धार्मिक प्रचारक मानकर इनका वर्णन अलग-अलग कर दिया गय है। संतों को एक वर्ग-विशेष में गिनते हुए उनके सिद्धान्तों तथा साधनाओं का सामूहिक परिचय देने अथवा उनकी कथनशैली व प्रचार पद्धति पर भी पूर्ण प्रकाश डालने का काम उक्त दोनों में से किसी प्रकार की भी पुस्तकों में किया गया नहीं दीख पड़ता। वास्तव में इन संतों के विषय में सर्व साधारण की धारणा पहले यही रहती आई थी कि ये लोग केवल साधारण श्रेणी के भक्तमात्र थे, इन्होंने अपने-अपने समय के धार्मिक आन्दलनों में भाग लेकर अपने-अपने नामों पर नवीन पंथ चलाने की चेष्टा की थी और अपनी विचित्र प्रकार के रहन-सहन एवं अटपटी बानियों के कारण इन्होंने अपने लिए बहुत से अनुयायी भी बना लिए

थे। इनकी अन्य भक्तों से भिन्नता, इनके सिद्धान्तों की एकरूपता, इनकी साधनाओं की विलक्षणता अथवा इनकी मुख्य देन के प्रति किसी ने विचार नहीं किया था।

संतों की इस परंपरा को एक सूत्र में ग्रंथित करने तथा उनके मत का व्यापक रूप निश्चित करने में कई कठिनाइयाँ भी पड़ती थी। केवल दो-एक को छोड़कर इनमें से अन्य संतों का कोई साधारण परिचय भी उपलब्ध नहीं था। इनकी बानियों या तो इनके अनुयायियों के पास हस्तलिखित रूप से सुरक्षित पायी जाती थीं अथवा विकृत होकर यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हुई मिल जाया करती थी। इसके सिवाय इन संतों के नामों पर चलने वाली विविध पंथों के रूप और प्रचार-पद्धति में भी महान् अन्तर आ गया था। जिस उद्देश्य को लेकर उसका सर्वप्रथम संघटन हुआ उसे, काल पाकर, वे भूल से गये थे और अन्य प्रकार के प्रचलित संप्रदायों के अनुकरण में अधिक लग जाने के कारण, वे क्रमशः साधारण हिंदू समाज में ही विलीन होते जा रहे थे। इन पंथों के अनुयायियों ने अपने प्रवर्त्तकों को दैवी शक्तियों से सम्पन्न मानकर उनकी पौराणिक चरितावली भी बना डाली थी और उनके मौलिक सिद्धान्तों के सच्चे अभिप्राय को समझने की प्रायः कुछ भी चेष्टा न करते हुए उन पर अपने काल्पनिक विचारों को आरोपित कर दिया था। इस कारण वास्तविक रूप जान लेना अथवा उनके महत्त्व का समुचित मूल्यांकन करना कोई सरल काम नहीं था।

उक्त बाधाओं के बने रहने के कारण इन संतों के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों की भी धारणा भ्रांतिपूर्ण हो गयी थी। इनकी बानियों को ऐसे लोग अत्यन्त साधारण नहीं दीख पड़ती थी। संत लोग इनके समक्ष कतिपय निम्नश्रैणी की जातियों में उत्पन्न अशिक्षित व्यक्ति थे जिन्हें प्राचीन धर्मग्रंथों अथवा शास्त्रादि का कुछ भी ज्ञान नहीं था और जिन्हें इसी कारण, सच्चे मार्ग की पहचान तक नहीं हो सकती थी। ये उनके लिए सर्वसाधारण में घूम-फिर कर ऊटपटांग बातों का प्रचार करने वाले निरे साधू व फकीर-श्रेणी के लोग थे और इनके उपदेशों का कोई सुदृढ़ आधार व उद्देश्य भी नहीं था। संतों की बानियों में बिखरे हुए विचारों की संगति वे, किसी पूर्वगत विचारधारा से, लगा पाने में प्रायः असमर्थ रहा करते थे, और इस कारण, उन्हें इनमें कोई व्यवस्था नहीं दीख पड़ती थी और इनकी सार बातें उन्हें किन्हीं अस्पष्ट व क्रमहीन का संग्रहमात्र प्रतीत होती थी। अतएव संतपरम्परा, संतसाहित्य व संतमत की ओर उनका ध्यान पहले एक प्रकार की उपेक्षा का ही रहता चला आया था। इस दिशा में उनका ध्यान सर्वप्रथम उस समय से आकृष्ट होना आरम्भ हुआ जब संतों की बानियों का यत्र-तत्र संग्रह किया जाने लगा और इस प्रकार के ग्रंथ कभी-कभी प्रकाशित भी होने लगे।

विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही वास्तव में संतों और उनकी कृतियों का क्रमशः प्रकाश में आना आरम्भ हुआ। उसके पहले डा. विल्सन के ''ए स्केच ऑफ दि हिंदू सेक्ट्स''सं.1988 में उनके विषय में थोड़ा-बहुत लिखा जा चुका था, गार्सा द तासी ने अपने 'इस्त्वार द ला लितरेत्योर ऐंदुई ए इंदुस्तानी (सं.1896) में कुछ संतों व उनकी रचनाओं की चर्चा की थी और डॉ. ग्रियर्सन ने भी अपने ''मार्डन वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिंदुस्तान सं. 1946 में उनका एक आलोचनात्मक परिचय दिया था जो अधिकतर 'शिवसिंह सरोज' पर आश्रित था। इन लेखकों ने अपने विचार बहुत कुछ अधूरी

सामग्रियों के ही आधार पर निश्चित किये थे। उस समय तक न तो स्व. पं. चंद्रिका प्रसाद त्रिपाठी के ''अगबंधू'' व ''स्वामी दादूदयाल की वाणी'', (सं. 1964) स्व. बा. बालेश्वरप्रसाद की 'संतबानी पुस्तक माला' (सं. 1965) व स्व. डा. श्यामसुन्दरदास की 'कबीर ग्रंथावली' जैसे मूल साहित्य को प्रकाशन हो पाया था और न डाक्टर मेकॉलिफ के 'दि सिख रिलीजन सं. 1965 डा. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'वन हण्ड्रेड पोयम्स आफ कबीर'सं. 1980 डॉ. तारादत्त गैरोला के साम आफ दादू सं. 1986 अथवा प्रो. तेजसिंह के ' दि जपजी जैसे सुन्दर अनुवाद ही निकल पाये थे जिनका अध्ययन कर कोई निर्णय किया जाता। रे. वेस्टकाट ; सं. 1964 डॉ. फर्कुहर ;सं.1977, डॉ. भंडारकर ;सं. 1985, डॉ. कीथ ;सं. 1988 जैसे विद्वानों की धार्मिक इतिहास सम्बन्धी रचनाएँ रे. प्रेमचन्द ;सं. 1968 व रे. अहमदशाह ;सं. 1972 द्वारा किए गए बीजक के अनुवाद तथा तथा मिश्रबंधुओं का विनोद ;सं0 1969, पं. रामचन्द्र शुक्ल ;सं. 1986 व डॉ. सूर्यकांत शास्त्री ;सं. 1989 साहित्यिक इतिहास भी इसी काल में निर्मित व प्रकाशित हुए और प्राय: इसी समय से इस विषय पर अच्छे-अच्छे निबंध भी लिखे जाने लगे।" (" हिन्दी काव्य की निर्गुण धारा " पुस्तक से साभार)

6.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप -

• निर्गुण काव्य के मर्मज्ञ विद्वान डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के जीवन एवं उनके साहित्य से परिचित हो चुके होंगे।

• हिंदी साहित्येतिहास में निर्गुण काव्य एवं सम्प्रदाय के प्रसार एवं महत्त्व को जान चुके होंगे।

• उत्तराखण्ड में व्याप्त निर्गुण सम्प्रदाय एवं संतमत-साहित्य के विषय में परिचयात्मक ज्ञान प्राप्त कर लिया होगा।

6.7 शब्दावली

दुष्प्राप्य	-	जो कठिनाई से प्राप्त हो
समकक्ष	-	बराबर
अवैतनिक	-	बिना वेतन के
प्रवाद	-	झूठी बात
मनस्तत्ववेत्ता	-	मनोवैज्ञानिक डाक्टर
अन्वेषण	-	खोज

6.8 उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. गोविन्द चातक, डा. पीताम्बर दत्तर बड़थ्वाल के श्रेष्ठ निबंध, तक्षशिला नई दिल्ली

2. डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, हिंदी काव्य की निर्गुण धारा, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली
3. रामविलास शर्मा, भारतीय संस्कृति और हिन्दी -प्रदेश-2 ,किताबघर, नई दिल्ली
4. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिंदी साहित्य का इतिहास, काशी नागरी, प्रचारिणी सभा, बनारस

6.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. डा. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के जीवन एवं साहित्य पर विस्तार से एक निबंध लिखिए।
2. उत्तराखण्ड में संत मत एवं निर्गुण साहित्य पर एक विस्तृत टिप्पणी लिखिए।

इकाई 7 : कछुआ धर्म (चंद्रधर शर्मा गुलेरी) : पाठ एवं मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा
7.1 उद्देश्य
7.2 प्रस्तावना
7.3 चंद्रधर शर्मा : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
7.4 निबंध का वाचन : कछुआ धर्म
7.5 निबंध का सार
7.6 संदर्भ सहित व्याख्या
7.7 अंतर्वस्तु
    7.7.1 विचार पक्ष
    7.7.2 भाव पक्ष
7.8 संरचना शिल्प
    7.8.1 भाषा
    7.8.2 शैली
7.9 प्रतिपाद्य
7.10 सारांश
7.11 शब्दावली
7.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.13 संदर्भ ग्रंथ सूची
7.14 सहायक पाठ्य सामग्री
7.15 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप चंद्रधर शर्मा गुलेरी के निबंध 'कछुआ धर्म' से परिचित हो सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- 'कछुआ धर्म' से परिचित हो सकेंगे और उसके महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या कर सकेंगे।
- निबंध में अभिव्यक्त भावों और विचारों का विश्लेषण और विवेचन कर सकेंगे।
- निबंध की विशिष्टताओं को समझने के साथ 'कछुआ धर्म' की भाषा और शैलीगत विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- 'कछुआ धर्म' के मूल प्रतिपाद्य को समझ सकेंगे।

7.2 प्रस्तावना

हिंदी निबंध प्रश्न का यह छठवाँ अध्याय है। इस अध्याय के अंतर्गत हम चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का निबंध कछुआ धर्म पढ़ेंगे और इस निबंध का मूल्यांकन करेंगे। चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्धि का आधार उनकी कहानी 'उसने कहा था' है किंतु निबंधों में 'मारेसि मोहिं कुठाँव' और 'कछुआ धर्म' है। अगर इनके आलोचना की बात करें तो 'पुरानी हिंदी' इनके आलोचना का शीर्ष है। इन्होंने भाषा, साहित्य, कला, शिक्षा, धर्म और संस्कृति जैसे कई विषयों पर लिखा है। डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी गुलेरी जी के संदर्भ में लिखते हैं कि "गुलेरी जी संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के धुरंधर विद्वान थे। अंग्रेजी में निष्णात थे। निबंधों को देखकर प्रकट हो जाता है कि उर्दू-फ़ारसी में भी बहुत अच्छी गति थी।...वे उद्भट विद्वान थे। भारत का अतीत उन्हें हस्तामलक था। अभिभूत करने वाली बात यह है कि इतने पर भी वे अतीत जीवी नहीं थे।"

गुलेरी जी की ख़ासियत है कि वे गूढ़ दार्शनिक विषयों पर लिखते हुए भी बहुत स्पष्ट और सुलझे हुए ढंग से विचार करते हैं। वे धर्म और दर्शन में निष्णात होने के साथ साथ वर्तमान राजनीति को भी अच्छे रूप में समझते थे। स्वदेशी आंदोलन को समझते हुए उन्होंने स्वदेशी आंदोलन का समर्थन और ज़मीनदारों का विरोध किया था। गुलेरी जी वर्णव्यवस्था की अच्छाइयों और बुराइयों, धर्म और संस्कृति की प्रगतिशीलता और पारम्परिकता को भी अपने निबंधों का विषय बना कर विश्लेषण करते रहे। कछुआ धर्म में ही उन्होंने मनु महाराज का हवाला देकर हिंदू धर्म को कछुआ धर्म कहा है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने चंद्रधर शर्मा गुलेरी के निबंधों की प्रमुख विशेषता उसका 'प्रसंग गर्भत्व' बताया है। इस प्रसंग गर्भत्व के पीछे गुलेरी जी की बहुज्ञता ही है।

गुलेरी जी के संदर्भ में डॉ सतेंद्र का मानना है कि "गुलेरी जी पुरातव के मान्य विद्वान थे किंतु कहानी और निबंध के क्षेत्र में उनका स्थान अन्यतम है। संस्कृत के विद्वान होते हुए भी अपने निबंधों को व्यावहारिक एवं सरल बनाया है। विषयानुकूल भाषा को परिवर्तित करना आपको अभीष्ट था साथ ही छोटे-छोटे एवं स्पष्ट वाक्यों का प्रयोग आपके निबंधों में मिलता है। मुहावरों का भी प्रयोग मिलता है। उर्दू तथा अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग आपने बिना किसी संकोच के किया है। आपकी निबंध शैली प्रायः तत्सम प्रधान है। गुलेरी जी के निबंधों में कछुआ धर्म, मारेसि मोहिं कुठाँव बहुचर्चित निबंध है।"

7.3 चंद्रधर शर्मा गुलेरी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

चंद्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म 07 जुलाई 1883 को राजस्थान के जयपुर में हुआ था। इनके पूर्वज हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा के गुलेर से संबंधित थे। इनके पिता ज्योतिबिंद महामहोपाध्याय पंडित शिवराम शास्त्री राजसम्मान पाकर जयपुर में ही बस गए थे। अल्पायु में ही चंद्रधर शर्मा गुलेरी संस्कृत

में निपुण हो गए थे। जयपुर, कोलकत्ता विश्वविद्यालय और इलाहाबाद से शिक्षा प्राप्त करने के बाद मेयो कॉलेज, अजमेर से उन्होंने अध्यापन का कार्य प्रारंभ किया। इनकी असाधारण योग्यता और छात्रों में लोकप्रियता के कारण पंडित मदन मोहन मालवीय ने इन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रोफ़ेसर का पद दिया। इनकी नियुक्ति पंडित रामावतार शर्मा के स्थान पर हुई थी। गुलेरी जी ने अध्ययन एवं स्वाध्याय से हिन्दी और संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत, बांग्ला, अपभ्रंश, मराठी के साथ साथ जर्मन और फ्रेंच भाषाओं में भी निष्णात हो गए। आपकी रुचि धर्म, ज्योतिष, पुरातत्व, इतिहास, दर्शन, भाषा विज्ञान, साहित्य, चित्रकला, लोककला, संगीत, विज्ञान राजनीति इत्यादि में भी थी। छात्रों में ये काफ़ी लोकप्रिय अध्यापक माने जाते थे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ये पुरातत्व एवं प्राचीन इतिहास के अध्यापक थे। गुलेरी जी ने जयपुर से समालोचक पत्रिका का संपादन कार्य किया और बनारस में रहते हुए उस समय की सबसे महत्वपूर्ण पत्रिका सरस्वती में भी संपादन कार्य किया। इनकी प्रसिद्धि का आधार इनकी कहानी उसने कहा था से हुई। चंद्रधर शर्मा गुलेरी सरल और विनोदप्रिय प्रकृति के माने जाते थे। इनके बारे में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि "ऐसा गंभीर और पांडित्यपूर्ण हास, जैसा इनके लेखों में रहता था, और कहीं देखने में न आया। अनेक गूढ़ शास्त्रीय विषयों तथा कथाप्रसंगों की विनोदपूर्ण संकेत करती हुई उनकी वाणी चलती थी। इसी प्रसंगगर्भत्व (एल्यूसिवनेस) के कारण इनकी चुटकियों का आनंद अनेक विषयों की जानकारी रखने वाले पाठकों को ही विशेष मिलता था। इनके व्याकरण ऐसे रूखे विषय के लेख मजाक से ख़ाली नहीं होते थे। यह बेधड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता और अर्थगर्भित वक्रता गुलेरी जी में मिलती है, और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ले गई है। अतः इनके लेखों का पूरा आनंद उन्हीं को मिल सकता है जो बहुत या कम-से-कम बहुश्रुत हैं।"

चंद्रधर शर्मा की रचनाएँ—
निबंध : कछुआ धर्म, पुरानी हिंदी, देवकुल, संगीत, आँख
कहानियाँ : उसने कहा था, बुद्धू का काँटा, सुखमय जीवन
कविताएँ : एशिया की विजय दशमी, भारत की जय, वेनॉक बर्न, आहिताग्नि, झुकी कमान, स्वागत, ईश्वर से प्रार्थना
संपादन : समालोचन, सरस्वती
12 सितंबर 1922 को काशी में 39 वर्ष की कम आयु में इनका निधन हो गया।

7.4 निबंध का वाचन : कछुआ धर्म : चंद्रधर शर्मा गुलेरी

"मनुस्मृति' में कहा गया है कि जहाँ गुरु की निंदा या असत्कथा हो रही हो वहाँ पर भले आदमी को चाहिए कि कान बंद कर ले या कहीं उठकर चला जाए। यह हिंदुओं के या हिंदुस्तानी सभ्यता के कछुआ धरम का आदर्श है। ध्यान रहे कि मनु महाराज ने न सुनने जोग गुरु की कलंक-कथा के सुनने

के पाप से बचने के दो ही उपाय बताए हैं। या तो कान ढककर बैठ जाओ या दुम दबाकर चल दो। तीसरा उपाय, जो और देशों के सौ में नब्बे आदमियों को ऐसे अवसर पर पहले सूझेगा, वह मनु ने नहीं बताया कि जूता लेकर, या मुक्का तानकर सामने खड़े हो जाओ और निंदा करने वाले का जबड़ा तोह दो या मुँह पिचका दो कि फिर ऐसी हरकत न करे। यह हमारी सभ्यता के भाव के विरुद्ध है। कछुआ डाल में घुस जाता है, आगे बढ़कर मार नहीं सकता। अश्वघोष महाकवि ने बुद्ध के साथ-साथ चले जाते हुए साधु पुरुषों को यह उपमा दी है-

देशादनार्यैरभिभूयमानान्महर्षयो धर्ममिवापयान्तम्।

अनार्य लोग देश पर चढ़ाई कर रहे हैं। धर्म भागा जा रहा है। महर्षि भी उसके पीछे-पीछे चले जा रहे हैं। यह कर लेंगे कि दक्षिण के अप्रकाश देश को कोई अत्रि या अगस्त्य यज्ञों और वेदों के योग्य बना लें... तब तक ही जब तक कि दूसरे कोई राक्षस या अनार्य उसे भी रहने के अयोग्य न कर दें... पर यह नहीं कि डटकर सामने खड़े हो जावें और अनार्यों की बाड़ को रोकें। पुराने से पुराने आर्यों की अपने भाई असुरों से अनबन हुई। असुर असुरिया में रहना चाहते थे, आर्य सप्तसिंधुओं को आर्यावर्त बनाना चाहते थे। आगे चल दिए। पीछे वे दबाते आए। विष्णु ने अग्नि और यजपात्र और अरणि रखने के लिए तीन गाड़ियों बनाई, उसकी पत्नी ने उनके पहियों की चूल को घर से आंज दिया। ऊखल, मूसल और सोम कूटने के पत्थरों तक को साथ लिए हुए यह 'कारवाँ मूजवत् हिंदुकुश के एकमात्र दर्रे चैबर में होकर सिंधु की घाटी में उतरा। पीछे से श्वान, भ्राज, अंभारि, बंभारि, हस्त, मुहस्त, कृशन, शंड, मर्क मारते चले आते थे, बद्ध की मार से पिछली गाड़ी भी आधी टूट गई, पर तीन लंबी डग भरने वाले विष्णु ने पीछे फिर नहीं देखा और न जमकर मैदान लिया। पितृभूमि अपने भ्रातृव्यों के पास छोड़ आए और यहाँ 'भ्रातृव्यस्य बधाय', 'सजातानां मध्यमेष्ठ्याय' देवताओं को आहुति देने लगे। चलो, जम गए। जहाँ-जहाँ रास्ते में टिके थे वहाँ-वहाँ यूप खड़े हो गए। यहाँ की सुजला सुफला शस्यश्यामला भूमि में ये बुलबुलें चहकने लगीं। पर ईरान के अंगूरों और गुलों का, यानी मूजवत् पहाड़ की सोमलता का, चसका पड़ा हुआ था। लेने जाते तो वे पुराने गंधर्व मारने दौड़ते। हाँ, उनमें से कोई-कोई उस समय का चिलकौआ नकद नारायण लेकर बदले में सोमलता बेचने को राजी हो जाते थे। उस समय का सिक्का गौएँ थीं। जैसे आजकल लखपति, करोड़पति कहलाते हैं वैसे तब 'शतगु', 'सहस्रगु' कहलाते थे। ये दमडीमल के पोते करोडीचंद अपने 'नवग्वाः', 'दशम्बाः पितरों से शरमाते न थे, आदर से उन्हें याद करते थे। आजकल के मेवा बेचने वाले पेशावरियों की तरह कोई-कोई सरहदी यहाँ पर भी सोम बेचने चले आते थे। कोई आर्य सीमा प्रांत पर जाकर भी ले आया करते थे। मोल ठहराने में बही हुज्जत होती थी जैसी कि तरकारियों का भाव करने में कुंजड़िनों से हुजा करती है। ये कहते कि गौ कि एक कला में सोम बेब दी। वह कहता कि बाहा सोमराजा का दाम इससे कहीं बढ़कर है। इधर ये गौ के गुण बखानते। जैसे बुड्ढे चौबेजी ने अपने कंधे पर चड़ी बालवधू के लिए कहा था कि याही में बेटी और याही में बेटा, ऐसे ये भी कहते कि इस गौ से दूध होता है, मक्खन होता है, दही होता है. यह होता है, वह होता है। पर काबुली काहे को मानता, उसके पास सोम की मानोपली थी और इन्हें बिना लिए सरता नहीं। अंत

को गौ का एक पाद, अर्थ, होते-होते दाम तै हो जाते। भूरी आँखों वाली एक बरस की बछिया में सोमराजा खरीद लिए जाते। गाड़ी में रखकर शान से लाए जाते। जैसे मुसलमानों के यहाँ सूद लेना तो हराम है, पर हिंदी साहूकारों को सूद देना हराम होने पर भी देना ही पड़ता है वैसे यह फतवा दिया गया कि 'पापो हि सोमविक्रयी' पर सोम क्रय करना उन्हीं गंधवों के हाथ गौ बेचकर सोम लेना पाप नहीं कहला सका। तो भी सोम मिलने में कठिनाई होने लगी। गंधों ने दाम बढ़ा दिए या सफर दूर का हो गया, या रास्ते में डाके मारने वाले 'वाहीक' आ बसे, कुछ न कुछ हुआ। तब यह तो हो गया कि सोम के बदले में पूतिक लकड़ी का ही रस निचोड़ लिया जाए, पर यह किसी को न सूझी कि सब प्रकार के जलवायु की इस उर्वरा भूमि में कहीं सोम की खेती कर ली जाय जिससे जितना चाहे उतना सोम घर बैठे मिले। उपमन्यु को उसकी माँ ने और अश्वत्थामा को उसके बाप ने जैसे जल में आटा घोलकर दूध कहकर पतिया लिया था, वैसे पूतिक की सीखों से देवता पतिमाए जाने लगे।

अच्छा, अब उसी पंचनद में बाहीक आकर बसे। अश्वघोष की फडकती उपमा के अनुसार धर्म भागा और दंड-कमंडल लेकर ऋषि भी भागे। अब ब्रह्मवर्त ब्रह्मर्षिद और आर्यावर्त की महिमा हो गई और वह पुराना देश न तत्र दिवस बमेता युगंधरे पयः पीत्वा कथं स्वर्ग गमिष्याति!!!

बहुत वर्ष पीछे की बात है। समुद्र पार के देशों में और धर्म पक्के हो चले। वे लूटते-मारते तो सही, बेधर्म भी कर देते। बस, समुद्रवाचा बंदा बहाँ तो राम के बनाए सेतु का दर्शन करके ब्रह्महत्या मिटती थी और कहाँ ताब में जाने वाले द्विज का प्रायश्रित कराकर भी संग्रह बंद। नहीं कछुआ धर्मी डाल के अंदर बैठे रहो।

पुर्तगाली यहाँ व्यापार करने आए। अपना धर्म फैलाने की भी सूझी। विवृत-जधनां को विहातुं समर्थः ? कुएँ पर सैकड़ों नर-ारी पानी भर रहे और नहा रहे थे। एक पादरी ने कह दिया कि मैंने इसमें तुम्हारा अभक्ष्य डाल दिया है। फिर क्या था? कछुए को ढाल बल उलट दिया गया। अब वह चल नहीं सकता। किसी ने यह नहीं सोच कि अज्ञात पाप, पाप नहीं होता। किसी ने यह नहीं सोचा कि कुल्ले कर लें, घड़े फोड़ दें या कै ही कर डालें। गाँव के गाँव ईसाई हो गए। और दूर-दूर के गाँवों के कछुओं को यह खबर लगी तो बंबई जाने में भी प्रायश्चित कर दिया गया।

हिंदू से कह दीजिए कि विलायती खांड खाने में अधर्म है। उसमें अभक्ष्य चीजें पड़ती हैं। चाहे आप वस्तुगति से कहें, बाहे राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उसकी सहानुभूति उपजाने को कहें। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधरनी चाहिए। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि गन्ने की खेती बड़े। उसका केवल एक ही कछुआ उत्तर होगा वह खांड खाना छोड़ देगा, बनी-बनाई मिठाई गौओं को डाल देगा, या बोरियाँ गंगाजी में बहा देगा। कुछ दिन पीछे कहिए कि देसी खांड के बेचने वाले भी सफेद बूरा बनाने के लिए वही उपाय करते हैं। वह मैली खांड खाने लगेगा। कुछ दिन ठहरकर कहिए कि सस्ती जावा या मोरस की खांड मैली करके बिक रही है। वह गुड़ पर उतर आवेगा। फिर कहिए कि गुड़ के शीरे में भी सस्ती मोरिस की मैल का मेल है। वह गुड़ छोड़कर पितरों की तरह शहद (मधु) खाने लगेगा, या मीठा ही खाना छोड़ देगा। वह

सिर निकालकर यह न देखेगा कि सात मेर की खांड छोड़कर डेड़ सेर की कब तक खाई जाएगी, यह न सोचेगा कि बिना मीठे कब तक रहा जाएगा। यह नहीं देखेगा कि उसकी सी मति वाले शरबत न पीने वालों की संख्या घटती-घटती दहाइयों और इकाइयों पर आ-जा रही है. वह यह नहीं विचारेगा कि बन्नू से कलकत्ते तक डाकगाड़ी में यात्रा करने वाला जून के महीने में झुलसते हुए कंठ को बरफ से ठंडा बिना किए नहीं रह सकता। उसका कछुआपन कछुआ-भगवान की तरह पीठ पर मंदराचल की मथनी चलाकर समुद्र से नए-नए रख निकालने के लिए नहीं है। उसका कछुआपन डाल के भीतर और भी सिकुड़कर घुस जाने के लिए है।

किसी बात का टोटा होने पर उसे पूरा करने की इच्छा होती है. दुख होने पर उसे मिटाना चाहते हैं। यह स्वभाव है। अपनी-अपनी समझ है। संसार में त्रिविध दुख दिखाई पड़ने लगे। उन्हें मिटाने के लिए उपाय भी किए जाने लगे। 'दृष्ट उपाय हुए। उनसे संतोष न हुआ तो सुने सुनाए (आनुश्रविक) उपाय किए। उनसे भी मन न भरा। सांख्यों ने काठ कड़ी गिन-गिनकर उपाय निकाला, बुद्ध ने योग में पककर उपाय खोजा, किसी ने कहा कि बहस, बकझक, वाक्छल, बोली की चूक पकड़ने और कच्ची दलीलों की सीबन उधेड़ने में ही परम पुरुषार्थ है। यही नगल सही। किसी न किसी तरह कोई न कोई उपाय मिलता गया। कछुओं ने सोचा, चोर को क्या मारें, चोर की माँ को ही न मारें। न रहे बॉस न बजे बाँसुरी। यह जीवन ही तो सारे दुखों की जड़ है। लगीं प्रार्थनाएँ होने-

'मा देहि राम। जननीजठरे निवासम्' 'ज्ञात्वेत्वं न पुनः स्पृशन्ति जननी गर्नेभकत्वं जनाः और यह उस देश में जहाँ कि सूर्य का उदय होना इतना मनोहर था कि ऋषियों का यह कहते तालू सूखता था कि सौ बरस इसे हम उगता देखें, सौ बरस सुनें, सौ बरस से भी अधिक। भला जिस देश में बरस में दो ही महीने घूम-फिर सकते हों और समुद्र की मछलियों मारकर नमक लगाकर सुखाकर रखना पड़े कि दस महीने के शीत और अंधियारे में क्या खाएँगे, वहाँ जीवन में इतनी ग्लानि हो तो समझ में आ सकती है पर जहाँ राम के राज में 'अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु' बिना खेती के फसलें पक जाएँ और पत्ते-पत्ते में शहद मिले, वहाँ इतना वैराग्य क्यों?

हयग्रीव या हिरण्याक्ष दोनों में से किसी एक दैत्य से देव बहुत तंग थे। कवि कहता है-

विनिर्गतं मानदमात्ममंदिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रइतपातितार्गला निमीलिताक्षीवभियामरावती।।

महाशय यों ही मौज से घूमने निकले हैं। सुरपुर में अफवाह पहुँची। बस, इंद्र ने झटपट किवाड़ बंद कर दिए, आगल डाल दी। मानी अमरावती ने आँखें बंद कर लीं।

यह कछुआ-धरम का भाई शुतुर्मुर्ग-धरम है। कहते हैं कि शुतुर्मुर्ग का पीततै कीजिए तो वह बालू में सिर छिपा लेता है। समझता है कि मेरी आँखों से पीछा करने बाला नहीं दीखता तो उसे भी मैं नहीं दीखता। लंबा-चौड़ा शरीर चाहे बाहर रहे, आँखें और सिर तो छिपा लिया। कछुए ने हाथ-पाँव-सिर भीतर डाल लिया।

इस लड़ाई में कम-से-कम पाँच लाख हिंदू आगे-पीछे समुद्र पर जा आए हैं। पर आज कोई पढ़ने के लिए विलायत जाने लगे तो हमीज़ रोज़ बब्बल अस्ता अभी पहिला ही दिन है। सिर रेत में छिपा है।"
संदर्भ : हिंदी समय

7.5 निबंध का सार

कछुआ धर्म पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी का बहुप्रसंशित निबंध है। यह भारतीय सभ्यता और मानसिकता की एक विशिष्ट प्रवृत्ति 'कछुआ-धर्म' पर तीखा और विचारोत्तेजक व्यंग्य है। लेखक भारतीय समाज की उस प्रवृत्ति की आलोचना करता है, जिसमें अन्याय, आक्रमण, अपमान या संकट के समय सामना करने, प्रतिरोध करने या समाधान खोजने के बजाय पीछे हट जाना, चुप रहना या पलायन कर जाना ही धर्म और शील मान लिया गया है। निबंध की शुरुआत मनुस्मृति के एक विधान से होती है, जिसमें कहा गया है कि यदि गुरु की निंदा हो रही हो तो सज्जन व्यक्ति को चाहिए कि या तो कान बंद कर ले या वहाँ से चला जाए। लेखक इसी को 'कछुआ-धर्म' कहता है- अर्थात् संकट आने पर खोल में सिमट जाना। लेखक व्यंग्यपूर्वक कहता है कि मनु ने तीसरा उपाय नहीं बताया; अर्थात् निंदा करने वाले का डटकर विरोध करना। यही प्रवृत्ति आगे चलकर पूरी हिंदू सभ्यता का स्वभाव बन गई। लेखक इस मानसिकता को स्पष्ट करने के लिए अश्वघोष के काव्य से उदाहरण देता है, जहाँ अनार्यों के आक्रमण के समय धर्म और ऋषि दोनों भागते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ धर्म की रक्षा के लिए संघर्ष नहीं, बल्कि पलायन को ही श्रेष्ठ आचरण माना गया है। लेखक बताता है कि आर्यों का इतिहास भी ऐसा ही रहा वे टकराव से बचते हुए आगे बढ़ते गए, पीछे मुड़कर शत्रु से निर्णायक संघर्ष नहीं किया। विष्णु के तीन पगों और आर्यों के कारवाँ का वर्णन करते हुए लेखक दिखाता है कि आर्य लोग अपनी पितृभूमि छोड़कर आगे बढ़ते गए, नए स्थानों को पवित्र तो करते रहे, पर अपने शत्रुओं को समाप्त करने का साहस नहीं दिखाया। यही कारण है कि सोमलता जैसी महत्वपूर्ण वस्तु के लिए भी वे दूसरों पर निर्भर बने रहे। उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि अपनी भूमि में सोम की खेती की जाए, बल्कि नकली उपायों से ही काम चलाया यह भी कछुआ धर्म का ही उदाहरण है। निबंध में आगे लेखक बताता है कि जब पुर्तगाली मिशनरी आए और उन्होंने पानी के कुएँ को अपवित्र कह दिया, तो हिंदू समाज ने तर्क या प्रतिवाद करने के बजाय धर्म परिवर्तन कर लिया। किसी ने यह नहीं सोचा कि अज्ञात पाप पाप नहीं होता या उसका समाधान निकाला जा सकता है। भय और अंधविश्वास ने पूरे गाँवों को ईसाई बना दिया। यह कछुआ-धर्म का चरम रूप है। इसके बाद लेखक खांड (चीनी) का उदाहरण देता है। कोई कह दे कि विदेशी खांड अपवित्र है, तो हिंदू उसे छोड़ देता है। फिर देसी खांड, फिर गुड़, फिर शहद; अंततः मीठा खाना ही छोड़ देता है, पर यह नहीं सोचता कि समस्या का व्यावहारिक और विवेकपूर्ण समाधान क्या हो सकता है। समाज धीरे-धीरे विकल्पहीन होता जाता है, पर सिर उठाकर वास्तविकता देखने का साहस नहीं करता। निबंध के अंतिम भाग में लेखक कछुआ धर्म की तुलना शुतुरमुर्ग धर्म से करता है; जैसे शुतुरमुर्ग खतरा देखकर रेत में सिर छिपा लेता है, वैसे ही हिंदू समाज भी आँखें बंद कर

लेता है और मान लेता है कि संकट टल गया। चाहे शरीर पूरा बाहर रहे, लेकिन आँखें बंद कर लेने से आत्मसंतोष मिल जाता है।

7.6 संदर्भ सहित व्याख्या

"हिंदू से कह दीजिए कि विलायती खांड खाने में अधर्म है। उसमें अभक्ष्य चीजें पड़ती हैं। चाहे आप वस्तुगति से कहें, बाहे राजनैतिक चालबाजी से कहें, चाहे अपने देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उसकी सहानुभूति उपजाने को कहें। उसका उत्तर यह नहीं होगा कि राजनैतिक दशा सुधरनी चाहिए।"

संदर्भ : प्रस्तुत पंक्तियाँ चंद्रधर शर्मा गुलेरी के प्रसिद्ध व्यंग्यात्मक निबंध 'कछुआ धर्म' से उद्धृत हैं। इस निबंध में लेखक ने हिंदू समाज की उस मानसिक प्रवृत्ति की आलोचना की है, जिसमें वह सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं का तर्कसंगत समाधान खोजने के बजाय भय, अंधविश्वास और पलायन का रास्ता अपनाता है।

व्याख्या : इन पंक्तियों में लेखक हिंदू समाज की अविवेकशील और आत्मसंकोची प्रवृत्ति को उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट करता है। लेखक कहता है कि यदि किसी हिंदू से यह कह दिया जाए कि विदेशी (विलायती) खांड खाना अधर्म है, क्योंकि उसमें कोई अभक्ष्य वस्तु मिली होती है, तो हिंदू बिना विचार किए तुरंत उसका त्याग कर देगा। लेखक यह भी स्पष्ट करता है कि यह बात चाहे वास्तविक कारणों से कही जाए, चाहे राजनीतिक चालबाज़ी के उद्देश्य से या फिर देश की आर्थिक स्थिति सुधारने की भावना से कही जाए; हिंदू उस कथन के पीछे छिपे उद्देश्य या तर्क पर विचार नहीं करेगा। लेखक व्यंग्यपूर्वक कहता है कि हिंदू का उत्तर यह नहीं होगा कि देश की राजनीतिक दशा सुधरनी चाहिए, या देशी उद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए। वह समस्या के मूल कारणों तक पहुँचने का प्रयास नहीं करता। उसका समाधान केवल इतना होता है कि वह उस वस्तु का त्याग कर दे, जिसे अधर्म कह दिया गया है। यह त्याग विवेक से प्रेरित नहीं, बल्कि भय और धार्मिक संकोच से उत्पन्न होता है। लेखक यहाँ यह दिखाना चाहता है कि हिंदू समाज में समस्या का सामना करने या उसे सुधारने की चेतना नहीं है। वह हर स्थिति में अपने को सुरक्षित रखने के लिए 'कछुए' की तरह खोल में सिमट जाता है। यही 'कछुआ धर्म' है; जिसमें व्यक्ति सिर उठाकर परिस्थिति का विश्लेषण करने के बजाय आँख मूँदकर पीछे हट जाना ही धर्म समझ लेता है।

निष्कर्ष : इन पंक्तियों के माध्यम से लेखक हिंदू समाज की उस मानसिकता पर प्रहार करता है, जिसमें त्याग को ही समाधान मान लिया जाता है, जबकि विवेक, साहस और सक्रिय सुधार का मार्ग अपनाया ही नहीं जाता। लेखक के अनुसार ऐसी प्रवृत्ति समाज को आगे बढ़ाने के बजाय उसे जड़ और निष्क्रिय बना देती है।

7.7 अंतर्वस्तु

'कछुआ धर्म' निबंध की अंतर्वस्तु हिंदू समाज की मानसिक प्रवृत्ति की तीखी आलोचना पर केंद्रित है। लेखक ने इसमें उस स्वभाव को उजागर किया है, जिसमें संकट, विरोध, अपमान या समस्या के समय सामना करने और समाधान खोजने के बजाय चुप रह जाना, पीछे हट जाना या त्याग कर देना ही धर्म और सदाचार मान लिया जाता है। इस निबंध की मुख्य अंतर्वस्तु यह है कि भारतीय सभ्यता ने धीरे-धीरे संघर्षशीलता और प्रतिरोध की शक्ति को खो दिया है। मनुस्मृति जैसे ग्रंथों की व्याख्याओं से यह धारणा बनी कि निंदा या संकट से बचने का श्रेष्ठ उपाय कान बंद कर लेना या वहाँ से हट जाना है। यही प्रवृत्ति आगे चलकर सामाजिक जीवन में भी दिखाई देने लगी। लेखक ऐतिहासिक और सांस्कृतिक उदाहरणों के माध्यम से दिखाता है कि आर्य समाज ने बार-बार टकराव से बचकर पलायन किया। सोमलता, भूमि, धर्म और संस्कृति के प्रश्नों पर भी व्यावहारिक उपायों के स्थान पर अस्थायी और दिखावटी समाधान अपनाए गए। परिणामस्वरूप समाज आत्मनिर्भर बनने के बजाय दूसरों पर निर्भर होता चला गया। निबंध में यह भी बताया गया है कि हिंदू समाज अंधविश्वास और भय के कारण छोटी-छोटी बातों पर बड़े त्याग करने को तैयार हो जाता है: जैसे विदेशी खांड, पानी की अपवित्रता या भोजन की शुद्धता; पर समस्या की जड़ तक पहुँचने की कोशिश नहीं करता। यह प्रवृत्ति समाज को धीरे-धीरे निष्क्रिय और आत्मसंकोची बना देती है। अंततः निबंध की अंतर्वस्तु यह स्पष्ट करती है कि 'कछुआ धर्म' जीवन और सभ्यता के लिए घातक है। धर्म का वास्तविक अर्थ साहस, विवेक और कर्मशीलता होना चाहिए, न कि डर के कारण खोल में सिमट जाना। लेखक समाज को जागरूक करना चाहता है कि बिना संघर्ष और विवेक के कोई भी संस्कृति जीवंत नहीं रह सकती।

7.7.1 विचार पक्ष

'कछुआ धर्म' निबंध का विचार-पक्ष अत्यंत सशक्त, तर्कपूर्ण और व्यंग्यात्मक है। इसमें लेखक ने भारतीय; विशेषतः हिंदू; समाज की उस मानसिक प्रवृत्ति का गहन विश्लेषण किया है, जिसमें संकट, विरोध और अपमान के समय सक्रिय प्रतिकार, विवेकपूर्ण समाधान और साहसिक निर्णय के बजाय संकोच, पलायन और आत्म-संरक्षण को ही धर्म और सदाचार मान लिया जाता है। निबंध का केंद्रीय विचार यह है कि धर्म का अर्थ केवल निषेध, त्याग और भय से बचाव नहीं होना चाहिए, बल्कि वह जीवन की रक्षा, समाज की उन्नति और न्याय की स्थापना का साधन होना चाहिए। लेखक मानता है कि जब धर्म को केवल 'कान बंद कर लेना' या 'दुम दबाकर चल देना' सिखाया जाता है, तब समाज में कायरता और जड़ता जन्म लेती है। चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने यह भी प्रतिपादित किया है कि भारतीय समाज में समस्याओं का समाधान बाह्य त्याग में खोजा जाता है, न कि आंतरिक सुधार में। चाहे विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार हो, धर्म-शुद्धि का भय हो या जीवन की कठिनाइयों से पलायन; हर जगह वही कछुआ स्वभाव दिखाई देता है। इससे समाज न तो आत्मनिर्भर बन पाता है और न ही आधुनिक चुनौतियों का सामना कर पाता है। निबंध का विचार-पक्ष यह संकेत देता है कि इतिहास में भी भारतीय सभ्यता ने बार-बार संघर्ष से बचकर आगे बढ़ने का मार्ग चुना। यह प्रवृत्ति दीर्घकाल में संस्कृति को सुरक्षित नहीं रख पाती, बल्कि उसे कमजोर बनाती है। लेखक मानता है कि संस्कृति का संरक्षण साहस,

विवेक और कर्म से होता है, न कि केवल पलायन से। अंततः निबंध का विचार-पक्ष समाज को यह चेतावनी देता है कि यदि धर्म को भय और संकोच का पर्याय बना दिया गया, तो जीवन निष्क्रिय हो जाएगा। लेखक का आग्रह है कि भारतीय समाज 'कछुआ धर्म' छोड़कर जागरूक, तर्कशील और संघर्षशील जीवन-दृष्टि अपनाए, तभी सभ्यता जीवंत और प्रगतिशील बन सकेगी।

7.7.2 भाव पक्ष

'कछुआ धर्म' निबंध का भाव-पक्ष गहन व्यंग्य, पीड़ा, क्षोभ और चेतावनी से युक्त है। लेखक के भीतर अपने समाज के प्रति गहरा लगाव है, पर साथ ही उसकी कायरता, आत्मसंकोच और निष्क्रियता को देखकर तीव्र मानसिक वेदना भी है। यही भाव इस निबंध की आत्मा है। निबंध में लेखक बार-बार भारतीय समाज की उस प्रवृत्ति पर क्षोभ प्रकट करता है, जिसमें अन्याय, अपमान या संकट के समय संघर्ष के बजाय पलायन को श्रेष्ठ मान लिया जाता है। यह क्षोभ क्रोध में नहीं, बल्कि तीखे व्यंग्य और मार्मिक उदाहरणों के रूप में व्यक्त हुआ है। लेखक का भाव आक्रोशपूर्ण होते हुए भी नियंत्रित है, जिससे उसकी आलोचना अधिक प्रभावशाली बन जाती है। निबंध के भाव पक्ष में व्यंग्य की करुणा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। लेखक समाज की स्थिति पर हँसता भी है, पर यह हँसी भीतर से रोने जैसी है। विदेशी खांड, अपवित्र पानी, सोमलता और जीवन त्याग जैसे उदाहरणों के माध्यम से लेखक पाठक को यह महसूस कराता है कि यह स्थिति हास्यास्पद भी है और दुखद भी। गुलेरी जी के भावों में चिंता और निराशा भी स्पष्ट है। वह देखता है कि जीवन से प्रेम रखने वाला समाज धीरे-धीरे जीवन से ही पलायन की ओर बढ़ रहा है। इतना सुजलाम् सुफलाम् देश होते हुए भी वैराग्य और मृत्यु इच्छा का भाव उभरना लेखक को व्यथित करता है। इसके साथ ही निबंध में एक अंतर्निहित आशा भी है। लेखक चाहता है कि समाज आत्मनिरीक्षण करे, अपने 'कछुआपन' को पहचाने और उसे छोड़े। वह सीधे उपदेश नहीं देता, बल्कि भावात्मक झकझोरन के माध्यम से पाठक को जागने के लिए विवश करता है। अंत में 'कछुआ धर्म' का भाव-पक्ष यह स्पष्ट करता है कि लेखक का उद्देश्य समाज का अपमान नहीं, बल्कि उसमें साहस, विवेक और जीवन-विश्वास का संचार करना है। व्यंग्य की कठोरता के भीतर राष्ट्र और संस्कृति के प्रति गहरी करुणा और प्रेम निहित है।

7.8 संरचना शिल्प

'कछुआ धर्म' निबंध का संरचना शिल्प अत्यंत संगठित, प्रभावपूर्ण और व्यंग्यात्मक है। यह निबंध किसी पारंपरिक भूमिका, विकास अथवा उपसंहार के साँचे में बँधा हुआ नहीं है, बल्कि विचार प्रवाह के आधार पर विकसित होता है। लेखक ने उदाहरण, इतिहास, धर्म, मिथक और समकालीन जीवन सबको जोड़कर एक सशक्त वैचारिक संरचना निर्मित की है।

7.8.1 भाषा

'कछुआ धर्म' निबंध की भाषा चंद्रधर शर्मा गुलेरी की गद्य प्रतिभा का अत्यंत सशक्त उदाहरण है। यह भाषा केवल विचार व्यक्त करने का साधन नहीं, बल्कि व्यंग्य, तर्क और भाव को एक साथ साधने

वाली सजीव माध्यम बन जाती है। इसकी भाषा व्यंग्यात्मक और कटाक्षपूर्ण है। निबंध की भाषा का सबसे प्रमुख गुण उसका तीखा व्यंग्य है। लेखक सीधे आरोप नहीं लगाता, बल्कि भाषा के माध्यम से समाज की कमजोरियों को इस ढंग से उभारता है कि पाठक स्वयं असहज हो उठता है। जैसे : खांड, पानी, धर्म और अधर्म के प्रसंगों में भाषा में कटाक्ष और विडंबना स्पष्ट दिखाई देती है। इस निबंध में बोलचाल और साहित्यिक भाषा का संतुलन देखने को मिलता है। गुलेरी जी की भाषा न तो अत्यधिक क्लिष्ट है और न ही साधारण। इसमें लोक-प्रचलित शब्द जैसे : कछुआ, दुम दबाकर, दाम ठहराना इत्यादि सहज ही देखने को मिल जाता है। इस निबंध में साहित्यिक और संस्कृतनिष्ठ शब्दावली दोनों का सुंदर संतुलन है। इससे भाषा बुद्धि को चुनौती देती है और पाठक से आत्मीय संवाद भी बनाए रखती है। संस्कृत, प्राकृत और लोक शब्दों का प्रयोग भाषा में संस्कृत के श्लोक, वैदिक शब्द, पौराणिक संकेत और लोक-प्रयोग एक साथ मिलते हैं। इससे निबंध की वैचारिक गंभीरता बढ़ती है और भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि सजीव हो उठती है। संस्कृत उद्धरण भाषा को बोझिल नहीं बनाते, बल्कि तर्क को ऐतिहासिक गहराई प्रदान करते हैं। कथात्मक और चित्रात्मक भाषा निबंध की भाषा में कथात्मकता के तत्व को बढ़ाते हैं। आर्यों का कारवाँ, सोम की खरीद-फरोख्त, पुर्तगालियों का प्रसंग इन सबमें भाषा चित्र खींच देती है। यह गुण निबंध को शुष्क वैचारिक लेखन से ऊपर उठाकर रसपूर्ण गद्य बना देता है। प्रतीक और रूपक प्रधान भाषा जैसे 'कछुआ', 'शुतुरमुर्ग', 'खोल', 'सिर छिपाना' जैसे प्रतीक भाषा के माध्यम से ही प्रभावशाली बनते हैं। भाषा यहाँ केवल कथन नहीं, बल्कि प्रतीक निर्माण का औजार है। इन रूपकों से विचार सहज, मार्मिक और स्मरणीय बन जाता है। प्रश्नात्मक और संवादात्मक शैली कहीं कहीं भाषा में प्रश्नात्मकता का तत्व है, जो पाठक को सोचने के लिए बाध्य करती है। ऐसा लगता है मानो लेखक पाठक से सीधे संवाद कर रहा हो। यह शैली निबंध को जीवंत और विचारोत्तेजक बनाती है।

7.8.2 शैली

चंद्रधर शर्मा गुलेरी का निबंध 'कछुआ धर्म' शैली की दृष्टि से हिंदी निबंध-साहित्य की एक विशिष्ट और प्रभावशाली रचना है। इसकी शैली केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं, बल्कि विचार-प्रहार का माध्यम है। इसमें व्यंग्य, तर्क, उदाहरण और सांस्कृतिक संकेतों का ऐसा समन्वय है कि शैली स्वयं निबंध के विचार को धार देती है। इस निबंध की प्रमुख शैली व्यंग्यात्मक है। लेखक समाज की कायरता, आत्मसंकोच और पलायन वृत्ति पर सीधा उपदेश नहीं देता, बल्कि व्यंग्य के माध्यम से उसे आईना दिखाता है। 'कछुआ-धर्म', 'दुम दबाकर चल देना', 'कान ढक लेना' जैसे प्रयोग शैली को तीखा और प्रभावशाली बनाते हैं। यह व्यंग्य कटु नहीं, बल्कि बौद्धिक और मार्मिक है। 'कछुआ धर्म' मूलतः एक वैचारिक निबंध है। लेखक ऐतिहासिक, धार्मिक और सामाजिक उदाहरणों के सहारे अपने विचार को क्रमशः विकसित करता है। शैली में भावुकता से अधिक तर्क और विश्लेषण है। लेखक प्रत्येक प्रसंग के माध्यम से अपने केंद्रीय विचार पलायनशील मानसिकता को पुष्ट करता है। निबंध की शैली में

उदाहरणों की प्रचुरता है जैसे : मनुस्मृति, अश्वघोष, आर्य इतिहास, सोमलता, पुर्तगाली मिशनरी इत्यादि। ये उदाहरण शैली को बोझिल नहीं बनाते, बल्कि बात को सहज और विश्वसनीय बनाते हैं। उदाहरणों के माध्यम से लेखक अमूर्त विचारों को मूर्त रूप दे देता है। कछुआ और शुतुरमुर्ग जैसे प्रतीक पूरी शैली की रीढ़ हैं। इनके माध्यम से लेखक जटिल सामाजिक मानसिकता को सरल और प्रभावी ढंग से प्रस्तुत करता है। यह प्रतीकात्मकता शैली को साहित्यिक ऊँचाई प्रदान करती है। कहीं-कहीं निबंध में कथात्मक शैली भी दिखाई देती है जैसे : आर्यों का कारवाँ, सोम की खरीद-बिक्री, या पौराणिक प्रसंग। इससे शैली में रस और प्रवाह आता है और निबंध नीरस नहीं होता। लेखक सीधे पाठक से बात करता हुआ प्रतीत होता है "हिंदू से कह दीजिए" यह शैली पाठक को केवल श्रोता नहीं, बल्कि विचार प्रक्रिया का सहभागी बना देती है।

7.9 प्रतिपाद्य

भारतीय समाज ने धर्म को संघर्ष और सृजन की शक्ति के बजाय पलायन और आत्म-संकोच का साधन बना लिया है। यह कछुआ धर्म न तो जीवन की समस्याओं का समाधान करता है और न ही सभ्यता को आगे बढ़ाता है। आवश्यकता है कि समाज साहस, विवेक और कर्मशीलता को धर्म का अंग बनाए, न कि भय और पलायन को।

अभ्यास प्रश्न

1. चंद्रधर शर्मा गुलेरी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का परिचय दीजिए।
   .....
   .....
   .....
2. कछुआ धर्म निबंध का सार अपने शब्दों में लिखिए।
   .....
   .....
   .....
3. कछुआ धर्म के भाव पक्ष पर प्रकाश डालिए।
   .....
   .....
   .....
4. कछुआ धर्म निबंध के भाषा और शिल्प पर टिप्पणी लिखिए।
   .....
   .....
   .....

7.10 सारांश

इस अध्याय को पढ़ने के बाद आप चंद्रधर शर्मा गुलेरी के निबंध कछुआ धर्म से परिचित हो चुके हैं। आप इस अध्याय को पढ़ कर कछुआ धर्म निबंध के कला और विचार पक्ष को समझ गए हैं। अब आप इस इस निबंध के किसी भी हिस्से का सोदाहरण व्याख्या, ससंदर्भ व्याख्या कर सकते हैं। इस अध्याय का अध्ययन करते हुए आपने जाना कि समाज साहस और कर्मशीलता को अपना आदर्श बनाना चाहता है न कि पलायन के मूल्यों को। इस निबंध का मूल प्रतिपाद्य यह बतलाता है कि जीवन की समस्याओं से भाग कर नहीं उससे साहस के साथ प्रतिकार कर के ही जीवन को सुन्दर बनाया जा सकता है। इस निबंध में आपने कछुआ और शुतुर्गमुर्ग के प्रतीकों के बहाने जीवन में श्रम और औदार्य के महत्व को समझा होगा।

7.11 शब्दावली

गूढ़ : जटिल रहस्यों वाला
दार्शनिक विषय : दर्शन का विषय
बहुश्रुत : जिसे बहुत सुना गया हो
खाँड़ : देशी चीनी, ईख से बना हुआ, गुड
विचारोत्तेजक : विचार की उत्तेजना
कथात्मक शैली : कथा की शैली जैसी, कथा जैसी
पलायन : एक जगह से दूसरी जगह अनचाहे अथवा किसी के दबाव में जाना

7.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 7.3 देखें।
2. 7.5 देखें।
3. 7.7.2 देखें।
4. 7.8 देखें।

7.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
2. निबंध निलय, डॉ. सतेंद्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. हिंदी निबंध और निबंधकार, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

7.14 सहायक ग्रन्थ सामग्री

1. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी

2. निबंध निलय, डॉ. सतेंद्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. हिंदी निबंध और निबंधकार, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
4. प्रतिनिधि निबंध, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, सं. विश्वनाथ त्रिपाठी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली

7.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. चंद्रधर शर्मा गुलेरी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए कछुआ धर्म निबंध का मूल्यांकन कीजिए।
2. कछुआ धर्म निबंध का अपने शब्दों में सार संक्षेप करते हुए उसे भाव पक्ष और विचार पक्ष पर प्रकाश डालिए।

इकाई 8 : मजदूरी और प्रेम : पाठ और आलोचना

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8 .1 प्रस्तावना
8 .2 निबंध का पाठ : मजदूरी और प्रेम
8 .3 निबंध का सार
8 .4 सन्दर्भ सहित व्याख्या
8 .5 अंतर्वस्तु
8 .5.1 विचार पक्ष
8 .5.2 भाव पक्ष
8 .6 लेखकीय अभिव्यक्ति
8 .7 संरचना शिल्प
8 .7.1 भाषा
8 .7.2 शैली
8 .8 मूल्यांकन
8 .8.1 निबंध का प्रतिपाद्य
8 .8.2 शीर्षक
8 .9 सारांश
8 .10 बोध प्रश्नों / अभ्यासों के उत्तर

8 .0 उद्देश्य

इस इकाई के अंतर्गत हम मजदूरी और प्रेम नामक निबंध का अध्ययन करेंगे। निबंध के रचनाकार हैं। इस इकाई के अंतर्गत हम हिंदी निबंध में उनके योगदान का भी अध्ययन करेंगे। साथ ही लेखक परिचय, निबंध का सार और प्रमुख अंशों का सन्दर्भ सहित व्याख्या भी की जाएगी।

इस इकाई को पढ़ने के बाद निम्नलिखित बिन्दुओं को समझ पाएंगे:

- निबंध की विषयवस्तु और सार अपने शब्दों में लिख सकेंगे
- कठिन शब्दों के अर्थ आसानी से निकाल सकेंगे
- निबंध में आए महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या कर सकेंगे
- निबंध के संरचना शिल्प को समझ सकेंगे

8.1 प्रस्तावना

भारतेंदु कालीन निबंधों के बारे में कहा गया है कि "भारतेन्दु-युग गद्य-साहित्य के बचपन का समय था।" बचपन में लापरवाही, खिलवाड़, विनोद, मनोरंजन, मुग्धता, चंचलता रहती है। किशोर अवस्था में थोड़ी जिम्मेदारी, समझदारी, शिक्षा, नियम-पालन, साज-संवार, स्थिरता आ जाती है। इसी अवस्था में प्रतिस्पर्धा की भावना भी जागती है।

द्विवेदी युग के निबंधकार

इस युग के प्रमुख निबंधकार हैं:

• महावीर प्रसाद द्विवेदी

• माधव प्रसाद मिश्र

•अध्यापक पूर्णसिंह

•चंद्रधर शर्मा गुलेरी

गोविंद नारायण मिश्र, पद्मसिंह शर्मा और श्याम सुंदर दास का नाम दूसरी श्रेणी में रखा जा सकता है।

भाषा का महत्व

द्विवेदी ने लिखा है: "शुद्ध भाषा का जितना मान होता है, अशुद्ध का नहीं होता। जहां तक संभव हो, शब्दों का मूल रूप न बिगाड़ना चाहिए। मुहावरे का विचार रखना चाहिए।"

सरदार पूर्ण सिंह का महत्व

इस युग के महत्वपूर्ण निबंधकार हैं । इनके निबंधों में परिवर्तन व भावुकता एक साथ देखा जा सकता है । वर्तमान जीवन की विसंगतियों पर सरदार पूर्ण सिंह गंभीर सवाल पैदा करते हैं । प्रमुख निबन्ध इस प्रकार है

- मजदूरी और प्रेम
- आचरण की सभ्यता
- सच्ची वीरता

इस इकाई में निबंध के माध्यम से भारतीय समाज के मुख्य उत्पादक वर्ग और उसकी पीड़ा का अध्ययन करेंगे।

8 .7 निबन्ध का पाठ

हल चलाने वाले का जीवन

हल चलाने वाले और भेड़ चराने वाले प्रायः स्वभाव से ही साधु होते हैं । हल चलाने वाले अपने शरीर का हवन किया करते हैं। खेत उनकी हवनशाला है। उनके हवनकुंड की ज्वाला की किरणें चावल के लंबे और सुफेद दानों के रूप में निकलती हैं। गेहूँ के लाल-लाल दाने इस अग्नि की चिनगारियों की डालियों-सी हैं। मैं जब कभी अनार के फूल और फल देखता हूँ तब मुझे बाग के माली का रुधिर याद

आ जाता है। उसकी मेहनत के कण जमीन में गिरकर उगे हैं और हवा तथा प्रकाश की सहायता से मीठे फलों के रूप में नजर आ रहे हैं।

किसान मुझे अन्न में, फूल में, फल में आहुति हुआ सा दिखाई पड़ता है। कहते हैं, ब्रह्माहुति से जगत् पैदा हुआ है। अन्न पैदा करने में किसान भी ब्रह्मा के समान है। खेती उसके ईश्वरी प्रेम का केंद्र है। उसका सारा जीवन पत्ते-पत्ते में, फूल-फूल में, फल-फल में बिखर रहा है।

किसान का आध्यात्मिक जीवन

वृक्षों की तरह उसका भी जीवन एक प्रकार का मौन जीवन है। वायु, जल, पृथ्वी, तेज और आकाश की निरोगता इसी के हिस्से में है। विद्या यह नहीं पढ़ा; जप और तप यह नहीं करता; संध्या-वंदनादि इसे नहीं आते; ज्ञान, ध्यान का इसे पता नहीं; मंदिर, मस्जिद, गिरजे से इसे कोई सरोकार नहीं।

केवल साग-पात खाकर ही यह अपनी भूख निवारण कर लेता है। ठंडे झरनों और बहती हुई नदियों के शीतल जल से यह अपनी प्यास बुझा लेता है।

प्रातःकाल उठकर यह अपने हल-बैलों को नमस्कार करता है और खेत जोतने चल देता है। दोपहर की धूप इसे भाती है। इसके बच्चे मिट्टी ही में खेल-खेलकर बड़े हो जाते हैं। इसको और इसके परिवार को बैल और गाँवों से प्रेम है।

पानी बरसाने वाले के दर्शनार्थ आँखें नीले आकाश की ओर उठती हैं। नयनों की भाषा में यह प्रार्थना करता है। सायं और प्रातः दिन और रात विधाता इसके हृदय में अचिंतनीय और अद्भुत आध्यात्मिक भावों की वृष्टि करता है।

किसान की सेवा और दया

यदि कोई इसके घर आ जाता है तो यह उसको मृदु वचन, मीठे जल और अन्न से तृप्त करता है। धोखा यह किसी को नहीं देता। यदि इसको कोई धोखा दे भी दे, तो इसका इसे ज्ञान नहीं होता; क्योंकि इसकी खेती हरी-भरी है; गाय इसकी दूध देती है; स्त्री इसकी आज्ञाकारिणी है; मकान इसका पुण्य और आनंद का स्थान है। पशुओं को चराना, नहलाना, खिलाना, पिलाना, उसके बच्चों की अपने बच्चों की तरह सेवा करना, खुले आकाश के नीचे उसके साथ रातें गुजार देना क्या स्वाध्याय से कम है? दया, वीरता और प्रेम जैसा इन किसानों में देखा जाता है, अन्यत्र मिलने का नहीं। गुरु नानक ने ठीक कहा है: "भोले भाव मिलें रघुराई"। भोले भाले किसानों को ईश्वर अपने खुले दीदार का दर्शन देता है। उनकी फूस की छतों में से सूर्य और चंद्रमा छन-छनकर उनके बिस्तरों पर पड़ते हैं। ये प्रकृति के जवान साधु हैं।

8.3 गड़रिये का जीवन

एक बार मैंने एक बुड्ढे गड़रिये को देखा। घना जंगल है। हरे-हरे वृक्षों के नीचे उसकी सफेद ऊन वाली भेड़ें अपना मुँह नीचे किए हुए कोमल-कोमल पत्तियाँ खा रही हैं। गड़रिया बैठा आकाश की ओर देख रहा है। ऊन कातता जाता है। उसकी आँखों में प्रेम-लाली छाई हुई है। वह निरोगता की पवित्र मदिरा से मस्त हो रहा है।

बाल उसके सारे सुफेद हैं और क्यों न सुफेद हों? सुफेद भेड़ों का मालिक जो ठहरा, परंतु उसके कपोलों से लाली फूट रही है। बरफानी देशों में वह मानो विष्णु के समान क्षीरसागर में लेटा है।

गड़रिये का परिवार

उसकी प्यारी स्त्री उसके पास रोटी पका रही है। उसकी दो जवान कन्याएँ उसके साथ जंगल-जंगल भेड़ चराती घूमती हैं। अपने माता-पिता और भेड़ों को छोड़कर उन्होंने किसी और को नहीं देखा।

मकान इनका बेमकान है, घर इनका बेघर है, ये लोग बेनाम और बेपता हैं।

कहना है: किसी के घर कर मैं न घर कर बैठना इस दारे फानी में। ठिकाना बेठिकाना और मकाँ वर ला-मकाँ रखना।

इस दिव्य परिवार को कुटी की जरूरत नहीं। जहाँ जाते हैं, एक घास की झोपड़ी बना लेते हैं। दिन को सूर्य रात को तारागण इनके सखा हैं।

गड़रिये की कन्या

गड़रिये की कन्या पर्वत के शिखर के ऊपर खड़ी सूर्य का अस्त होना देख रही है। उनकी सुनहली किरणें इसके लिए लावण्यमय मुख पर पड़ रही हैं। यह सूर्य को देख रही है और वह इसको देख रहा है।

हुए थे आँखों के कल इशारे इधर हमारे उधर तुम्हारे। चले थे अश्कों के क्या फवारे इधर हमारे उधर तुम्हारे।

बोलता कोई भी नहीं। सूर्य उसकी युवावस्था की पवित्रता पर मुग्ध है और वह आश्चर्य के अवतार सूर्य की महिमा के तूफान में पड़ी नाच रही है।

गड़रिये के जीवन की पवित्रता

इनका जीवन बर्फ की पवित्रता से पूर्ण और वन की सुगंधि से सुगंधित है। इनके मुख, शरीर और अंतःकरण सुफेद, इनकी बर्फ, पर्वत और भेड़ें सुफेद। अपनी सुफेद भेड़ों में यह परिवार शुद्ध सुफेद ईश्वर के दर्शन करता है।

जो खुदा को देखना हो तो मैं देखता हूँ तुमको। मैं देखता हूँ तुमको जो खुदा को देखना हो।

भेड़ों की सेवा

भेड़ों की सेवा ही इनकी पूजा है। जरा एक भेड़ बीमार हुई, सब परिवार पर विपत्ति आई। दिन-रात उसके पास बैठे काट देते हैं। उसे अधिक पीड़ा हुई तो इन सब की आँखें शून्य आकाश में किसी को देखने लग गईं। पता नहीं ये किसे बुलाती हैं।

हाथ जोड़ने तक की इन्हें फुरसत नहीं। पर हाँ, इन सब की आँखें किसी के आगे शब्द-रहित संकल्प-रहित मौन प्रार्थना में खुली हैं।

दो रातें इसी तरह गुजर गईं। इनकी भेड़ अब अच्छी है। इनके घर मंगल हो रहा है। सारा परिवार मिलकर गा रहा है।

प्रकृति का साथ

इतने में नीले आकाश पर बादल घिरे और झम-झम बरसने लगे। मानो प्रकृति के देवता भी इनके आनंद से आनंदित हुए। बूढ़ा गड़रिया आनंद-मत्त होकर नाचने लगा। वह कहता कुछ नहीं, रग-रग उसकी नाच रही है। पिता को ऐसा सुखी देख दोनों कन्याओं ने एक-दूसरे का हाथ पकड़कर पहाड़ी राग अलापना आरंभ कर दिया।

साथ ही धम-धम थम-थम नाच की उन्होंने धूम मचा दी। मेरी आँखों के सामने ब्रह्मानंद का समाँ बाँध दिया।

लेखक की भावनाएं

मेरे पास मेरा भाई खड़ा था। मैंने उससे कहा: "भाई, अब मुझे भी भेड़ें ले दो।" ऐसे ही मूक जीवन से मेरा भी कल्याण होगा। विद्या को भूल जाऊँ तो अच्छा है। मेरी पुस्तकें खो जायँ तो उत्तम है। ऐसा होने से कदाचित इस वनवासी परिवार की तरह मेरे दिल के नेत्र खुल जायँ और मैं ईश्वरीय झलक देख सकूँ। चंद्र और सूर्य की विस्तृत ज्योति में जो वेदगान हो रहा है उसे इस गड़रिये की कन्याओं की तरह मैं सुन तो न सकूँ, परंतु कदाचित प्रत्यक्ष देख सकूँ।

कहते हैं, ऋषियों ने भी इनको देखा ही था, सुना न था। पंडितों की ऊटपटाँग बातों से मेरा जी उकता गया है।

प्रकृति की मंद-मंद हँसी में ये अनपढ़ लोग ईश्वर के हँसते हुए ओंठ देख रहे हैं। पशुओं के अज्ञान में गंभीर ज्ञान छिपा हुआ है। इन लोगों के जीवन में अद्भुत आत्मानुभव भरा हुआ है।

गड़रिये के परिवार की प्रेम-मजदूरी का मूल्य कौन दे सकता है?

8 .4 मजदूर की मजदूरी

आपने चार आने पैसे मजदूर के हाथ में रखकर कहा "यह लो दिन भर की अपनी मजदूरी।" वाह क्या दिल्लगी है! हाथ, पाँव, सिर, आँखें इत्यादि सब के सब अवयव उसने आपको अर्पण कर दिए। ये सब चीजें उसकी तो थीं ही नहीं, ये तो ईश्वरीय पदार्थ थे।

जो पैसे आपने उसको दिए वे भी आपके न थे। वे तो पृथ्वी से निकली हुई धातु के टुकड़े थे; अतएव ईश्वर के निर्मित थे। मजदूरी का ऋण तो परस्पर की प्रेम-सेवा से चुकता होता है। अन्न-धन देने से नहीं। वे तो दोनों ही ईश्वर के हैं। अन्न-धन वही बनाता है, जल भी वही देता है।

मजदूर की कला की महत्ता

एक जिल्दसाज ने मेरी एक पुस्तक की जिल्द बाँध दी। मैं तो इस मजदूर को कुछ भी न दे सका, परंतु उसने उम्र भर के लिए एक विचित्र वस्तु मुझे दे डाली। जब कभी मैंने उस पुस्तक को उठाया, मेरे हाथ जिल्दसाज के हाथ पर जा पड़े। पुस्तक देखते ही मुझे जिल्दसाज याद आ जाता है। वह मेरा आमरण मित्र हो गया है।

पुस्तक हाथ में आते ही मेरे अंतःकरण में रोज भरतमिलाप का सा समाँ बँध जाता है।

विधवा की मजदूरी

गाढ़े की एक कमीज को एक अनाथ विधवा सारी रात बैठकर सीती है, साथ ही साथ वह अपने दुख पर रोती भी है। एक दिन को खाना न मिला। रात को भी कुछ मयस्सर न हुआ। अब वह एक-एक टाँके पर आशा करती है कि कमीज कल तैयार हो जायगी; तब कुछ तो खाने के लिए मिलेगा।

जब वह थक जाती है तब ठहर जाती है। सुई हाथ में लिए हुए है, कमीज घुटने पर बिछी हुई है। उसकी आँखों की दशा उस आकाश की जैसी है जिसमें बादल बरसकर अभी-अभी बिखर गए हैं। खुली आँखें ईश्वर के ध्यान में लीन हो रही हैं।

कुछ काल के उपरांत "हे राम" कहकर उसने फिर सीना शुरू कर दिया।

पवित्रता की प्रतीक मजदूरी

इस माता और इस बहन की सिली हुई कमीज मेरे लिए मेरे शरीर का नहीं मेरी आत्मा का वस्त्र है। इसका पहनना मेरी तीर्थ-यात्रा है। इस कमीज में उस विधवा के सुख-दुःख, प्रेम और पवित्रता के मिश्रण से मिली हुई जीवन-रूपिणी गंगा की बाढ़ चली जा रही है।

ऐसी मजदूरी और ऐसा काम प्रार्थना, संध्या और नमाज से क्या कम है? शब्दों से तो प्रार्थना हुआ नहीं करती। ईश्वर तो कुछ ऐसी ही मूक प्रार्थनाएँ सुनता है और तत्काल सुनता है।

8 .5 प्रेम-मजदूरी

मुझे तो मनुष्य के हाथ से बने हुए कामों में उनकी प्रेममय पवित्र आत्मा की सुगंध आती है। राफेल आदि के चित्रित चित्रों में उनकी कला-कुशलता को देख इतनी सदियों के बाद भी उनके अंतःकरण के सारे भावों का अनुभव होने लगता है।

केवल चित्र का ही दर्शन नहीं, किंतु साथ ही उसमें छिपी हुई चित्रकार की आत्मा तक के दर्शन हो जाते हैं।

हाथ की कला बनाम यंत्र की कला

यंत्रों की सहायता से बने हुए फोटो निर्जीव से प्रतीत होते हैं। उनमें और हाथ के चित्रों में उतना ही भेद है जितना कि बस्ती और श्मशान में। हाथ की मेहनत से चित्रों में जो रस भर जाता है वह भला लोहे के द्वारा बनाई हुई चीज में कहाँ!

जिस आलू को मैं स्वयं बोता हूँ, मैं स्वयं पानी देता हूँ, जिसके इर्द-गिर्द की घास-पात खोदकर मैं साफ करता हूँ उस आलू में जो रस मुझे आता है वह टीन में बंद किए हुए अचार मुरब्बे में नहीं आता।

प्रेम का महत्व

मेरा विश्वास है कि जिस चीज में मनुष्य के प्यारे हाथ लगते हैं, उसमें उसके हृदय का प्रेम और मन की पवित्रता सूक्ष्म रूप से मिल जाती है और उसमें मुर्दे को जिंदा करने की शक्ति आ जाती है।

होटल में बने हुए भोजन यहाँ नीरस होते हैं क्योंकि वहाँ मनुष्य मशीन बना दिया जाता है। परंतु अपनी प्रियतमा के हाथ से बने हुए रूखे-सूखे भोजन में कितना रस होता है।

प्रियतमा का प्रेम

जिस मिट्टी के घड़े को कंधों पर उठाकर, मीलों दूर से उसमें मेरी प्रेममग्न प्रियतमा ठंडा जल भर लाती है, उस लाल घड़े का जल जब मैं पीता हूँ तब जल क्या पीता हूँ, अपनी प्रेयसी के प्रेमामृत को पान करता हूँ।

जो ऐसा प्रेमप्याला पीता हो उसके लिए शराब क्या वस्तु है? प्रेम से जीवन सदा गद्गद् रहता है।

मैं अपनी प्रेयसी की ऐसी प्रेम-भरी, रस-भरी, दिल-भरी सेवा का बदला क्या कभी दे सकता हूँ?

प्रातःकाल की शोभा

उधर प्रभात ने अपनी सुफेद किरणों से अँधेरी रात पर सुफेदी-सी छिटकाई। इधर मेरी प्रेयसी, मैना अथवा कोयल की तरह अपने बिस्तर से उठी। उसने गाय का बछड़ा खोला; दूध की धारा से अपना कटोरा भर लिया। गाते-गाते अन्न को अपने हाथों से पीसकर सुफेद आटा बना लिया।

इस सुफेद आटे से भरी हुई छोटी-सी टोकरी सिर पर; एक हाथ में दूध से भरा हुआ लाल मिट्टी का कटोरा, दूसरे हाथ में मक्खन की हाँड़ी।

प्राकृतिक सौंदर्य

जब मेरी प्रिया घर की छत के नीचे इस तरह खड़ी होती है तब वह छत के ऊपर की श्वेत प्रभा से भी अधिक आनंददायक, बलदायक, बुद्धिदायक जान पड़ती है। उस समय वह उस प्रभा से अधिक रसीली, अधिक रँगीली, जीती-जागती, चैतन्य और आनंदमयी प्रातःकालीन शोभा-सी लगती है।

आग और रोटी

मेरी प्रिया अपने हाथ से चुनी हुई लकड़ियों को अपने दिल से चुराई हुई एक चिनगारी से लाल अग्नि में बदल देती है। जब वह आटे को छलनी से छानती है तब मुझे उसकी छलनी के नीचे एक अद्भुत ज्योति की लौ नजर आती है।

जब वह उस अग्नि के ऊपर मेरे लिए रोटी बनाती है तब उसके चूल्हे के भीतर मुझे तो पूर्व दिशा की नभोलालिमा से भी अधिक आनंददायिनी लालिमा देख पड़ती है।

यह रोटी नहीं, कोई अमूल्य पदार्थ है। मेरे गुरु ने इसी प्रेम से संयम करने का नाम योग रखा है। मेरा यही योग है।

8 .6 मजदूरी और कला

आदमियों की तिजारत करना मूर्खों का काम है। सोने और लोहे के बदले मनुष्य को बेचना मना है। आजकल भाप की कलों का दाम तो हजारों रुपया है; परंतु मनुष्य कौड़ी के सौ-सौ बिकते हैं!

सच्चा आनंद

सोने और चाँदी की प्राप्ति से जीवन का आनंद नहीं मिल सकता। सच्चा आनंद तो मुझे मेरे काम से मिलता है। मुझे अपना काम मिल जाय तो फिर स्वर्गप्राप्ति की इच्छा नहीं।

मनुष्य-पूजा ही ईश्वर-पूजा

मनुष्य-पूजा ही सच्ची ईश्वर-पूजा है। मंदिर और गिरजे में क्या रखा है? ईंट, पत्थर, चूना कुछ ही कहो।

आज से हम अपने ईश्वर की तलाश मंदिर, मस्जिद, गिरजा और पोथी में न करेंगे। अब तो यही इरादा है कि मनुष्य की अनमोल आत्मा में ईश्वर के दर्शन करेंगे। यही आर्ट है – यही धर्म है।

श्रम का महत्व

मनुष्य के हाथ से ही ईश्वर के दर्शन कराने वाले निकलते हैं। बिना काम, बिना मजदूरी, बिना हाथ के कला-कौशल के विचार और चिंतन किस काम के!

सभी देशों के इतिहासों से सिद्ध है कि निकम्मे पादरियों, मौलवियों, पंडितों और साधुओं का, दान के अन्न पर पला हुआ ईश्वर-चिंतन, अंत में पाप, आलस्य और भ्रष्टाचार में परिवर्तित हो जाता है।

जिन देशों में हाथ और मुँह पर मजदूरी की धूल नहीं पड़ने पाती वे धर्म और कला-कौशल में कभी उन्नति नहीं कर सकते।

कर्म ही ईश्वर-प्राप्ति

पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। यही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरी का काम लिया जाता है।

सभी कार्य समान हैं

लकड़ी, ईंट और पत्थर को मूर्तिमान करने वाले लुहार, बढ़ई, मेमार तथा किसान आदि वैसे ही पुरुष हैं जैसे कवि, महात्मा और योगी आदि। उत्तम से उत्तम और नीच से नीच काम, सबके सब प्रेम-शरीर के अंग हैं।

8 .7 मजदूरी और नई कविता

निकम्मे रहकर मनुष्यों की चिंतन-शक्ति थक गई है। बिस्तरों और आसनों पर सोते और बैठे-बैठे मन के घोड़े हार गए हैं। सारा जीवन निचुड़ चुका है। स्वप्न पुराने हो चुके हैं।

आजकल की कविता

आजकल की कविता में नयापन नहीं। उसमें पुराने जमाने की कविता की पुनरावृत्ति मात्र है। इस नकल में असल की पवित्रता और कुँवारेपन का अभाव है।

अब तो एक नए प्रकार का कला-कौशल-पूर्ण संगीत साहित्य संसार में प्रचलित होने वाला है। यदि वह न प्रचलित हुआ तो मशीनों के पहियों के नीचे दबकर हमें मरा समझिए।

नया साहित्य और मजदूर

यह नया साहित्य मजदूरों के हृदय से निकलेगा। उन मजदूरों के कंठ से यह नई कविता निकलेगी जो अपना जीवन आनंद के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, लकड़ी की रगों का, पत्थर की नसों का भेदभाव दूर करेंगे।

हाथ में कुल्हाड़ी, सिर पर टोकरी नंगे सिर और नंगे पाँव, धूल से लिपटे और कीचड़ से रँगे हुए ये बेजबान कवि जब जंगल में लकड़ी काटेंगे तब लकड़ी काटने का शब्द इनके असभ्य स्वरों से मिश्रित

होकर वायुयान पर चढ़ दसों दिशाओं में ऐसा अद्भुत गान करेगा कि भविष्य के कलावंतों के लिए वही ध्रुपद और मल्हार का काम देगा।

चरखा कातने वाली स्त्रियों के गीत

चरखा कातने वाली स्त्रियों के गीत संसार के सभी देशों के कौमी गीत होंगे। मजदूरों की मजदूरी ही यथार्थ पूजा होगी। जब कलारूपी धर्म की तभी वृद्धि होगी।

भविष्य के कवि और धर्म

तभी नए कवि पैदा होंगे, तभी नए औलियों का उद्भव होगा, परंतु ये सब के सब मजदूरी के दूध से पलेंगे। धर्म, योग, शुद्धाचरण, सभ्यता और कविता आदि के फूल इन्हीं मजदूर-ऋषियों के उद्यान में प्रफुल्लित होंगे।

8 .8 मजदूरी और फकीरी

मजदूरी और फकीरी का महत्व थोड़ा नहीं। मजदूरी और फकीरी मनुष्य के विकास के लिए परमावश्यक है। बिना मजदूरी किए फकीरी का उच्च भाव शिथिल हो जाता है; फकीरी भी अपने आसन से गिर जाती है; बुद्धि बासी पड़ जाती है।

बासी चीजें

बासी चीजें अच्छी नहीं होतीं। कितने ही, उम्र भर बासी बुद्धि और बासी फकीरी में मग्न रहते हैं; परंतु इस तरह मग्न होना किस काम का?

हवा चल रही है; जल बह रहा है; बादल बरस रहा है; पक्षी नहा रहे हैं; फूल खिल रहे हैं; घास नई, पेड़ नए, पत्ते नए – मनुष्य की बुद्धि और फकीरी ही बासी!

प्रातःकाल का महत्व

ऐसा दृश्य तभी तक रहता है जब तक बिस्तर पर पड़े-पड़े मनुष्य प्रभात का आलस्य सुख मनाता है। बिस्तर से उठकर जरा बाग की सैर करो, फूल की सुगंध लो, ठंडी वायु में भ्रमण करो, वृक्षों के कोमल पल्लवों का नृत्य देखो तो पता लगे कि प्रभात-समय जागना बुद्धि और अंतःकरण को तरोताजा करना है और बिस्तर पर पड़े रहना उन्हें बासी कर देना है।

आलस्य और अज्ञान

निकम्मे बैठे हुए चिंतन करते रहना, अथवा बिना काम किए शुद्ध विचार का दावा करना, मानो सोते-सोते खर्राटे मारना है।

जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु, संन्यासी, हल, कुदाल और खुरपा लेकर मजदूरी न करेंगे तब तक उनका आलस्य जाने का नहीं, तब तक उनका मन और उनकी बुद्धि, अनंत काल बीत जाने तक, मलिन मानसिक जुआ खेलती ही रहेगी।

उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका लेख बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।

ताजापन की खोज

इसमें संदेह नहीं कि इस साल के गुलाब के फूल भी वैसे ही हैं जैसे पिछले साल के थे, परंतु इस साल वाले ताजे हैं। इनकी लाली नई है, इनकी सुगंध भी इन्हीं की अपनी है। जीवन के नियम नहीं पलटते; वे सदा एक ही से रहते हैं। परंतु मजदूरी करने से मनुष्य को एक नया और ताजा खुदा नजर आने लगता है।

ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग

गेरुए वस्त्रों की पूजा क्यों करते हो? गिरजे की घंटी क्यों सुनते हो? रविवार क्यों मनाते हो? पाँच वक्त नमाज क्यों पढ़ते हो? त्रिकाल संध्या क्यों करते हो? मजदूर के अनाथ नयन, अनाथ आत्मा और अनाश्रित जीवन की बोली सीखो। फिर देखोगे कि तुम्हारा यही साधारण जीवन ईश्वरीय भजन हो गया।

8 .9 प्रेम-धर्म और समाज

मजदूरी तो मनुष्य के समष्टि-रूप परिणाम है, आमा रूपी धातु के गढ़े हुए सिक्के का नकदी बयाना है जो मनुष्यों की आत्माओं को खरीदने के वास्ते दिया जाता है।

सच्ची मित्रता ही सेवा

सच्ची मित्रता ही तो सेवा है। उससे मनुष्यों के हृदय पर सच्चा राज्य हो सकता है। जाति-पाँति, रूप-रंग और नाम-धाम तथा बाप-दादे का नाम पूछे बिना ही अपने आप को किसी के हवाले कर देना प्रेम-धर्म का तत्व है।

सार्वभौमिक भाईचारा

जिस समाज में इस तरह के प्रेम-धर्म का राज्य होता है उसका हर कोई हर किसी को बिना उसका नाम-धाम पूछे ही पहचानता है; क्योंकि पूछने वाले का कुल और उसकी जात वहाँ वही होती है जो उसकी, जिससे कि वह मिलता है।

वहाँ सब लोग एक ही माता-पिता से पैदा हुए भाई-बहन हैं। अपने ही भाई-बहनों के माता-पिता का नाम पूछना क्या पागलपन से कम समझा जा सकता है?

एक कुटुंब के रूप में संसार

यह सारा संसार एक कुटुंबवत् है। लँगड़े, लूले, अंधे और बहरे उसी मौरूसी घर की छत के नीचे रहते हैं जिसकी छत के नीचे बलवान, निरोग और रूपवान कुटुंबी रहते हैं।

मूढ़ों और पशुओं का पालन-पोषण बुद्धिमान, सबल और नीरोग ही तो करेंगे।

आनंद और प्रेम का सिंहासन

आनंद और प्रेम की राजधानी का सिंहासन सदा से प्रेम और मजदूरी के ही कंधों पर रहता आया है। कामना सहित होकर भी मजदूरी निष्काम है।

सारांश

का एक महत्वपूर्ण निबंध है जो भारतीय समाज के उत्पादक वर्ग को सम्मान देता है। इसमें लेखक ने:

1. किसान की महिमा: हल चलाने वाले किसान को ब्रह्मा के समान दर्शाया है।
2. गड़रिये का जीवन: प्रकृति के साथ जीवन यापन करने वाले मजदूरों की आध्यात्मिकता को दर्शाया है।
3. मजदूरी का मूल्य: हर काम को पवित्र और महत्वपूर्ण माना है।
4. प्रेम की शक्ति: प्रेम से किए गए काम को सर्वश्रेष्ठ माना है।
5. भविष्य की कविता: मजदूरों के हृदय से निकलने वाली नई कविता की भविष्यवाणी की है।
6. सामाजिक समानता: सभी को समान मानते हुए प्रेम-धर्म पर जोर दिया है।

यह निबंध आधुनिक समय में भी प्रासंगिक है और मानव श्रम के प्रति सम्मान का संदेश देता है।

• 8 .10 बोध प्रश्नों / अभ्यासों के उत्तर

बहुविकल्पीय प्रश्न :

प्रश्न 1- मजदूरी और प्रेम निबंध का प्रकाशन वर्ष कौन सा है?

A. 1905 ई.

B. 1912 ई.

C. 1920 ई.

D. 1930 ई.

उत्तर: B. 1912 ई.

प्रश्न 2- निबंध में लेखक का मुख्य संदेश क्या है?

A. प्रेम का महत्त्व सर्वोपरि है

B. श्रम का महत्त्व सर्वोपरि है

C. मशीनों का प्रयोग आवश्यक है

D. भिखारी जीवन श्रेष्ठ है

उत्तर: B. श्रम का महत्त्व सर्वोपरि है

प्रश्न 3- निबंध में लेखक किसकी भर्त्सना करते हैं?

A. किसान के श्रम की

B. हाथ की मजदूरी की

C. मशीनों के प्रयोग की

D. फकीरी की

उत्तर: C. मशीनों के प्रयोग की

प्रश्न 4 'मजदूरी और प्रेम' निबंध के एक उपशीर्षक के रूप में निम्नलिखित में से कौन सा सही है?

A. मजदूर की मजबूती

B. मजदूरी और कला

C. गडरिये का जीवन

D. उपर्युक्त सभी

उत्तर: D. उपर्युक्त सभी

1- मजदूरी और प्रेम का संक्षिप्त सारांश बताइए

2- लेखक सरदार पूर्णसिंह का परिचय और जीवनकाल कब था

3- निबंध के प्रमुख विचार और थीम क्या हैं

4- इस निबंध के आलोचनात्मक पहलू क्या हैं

इकाई 9- गेहूँ और गुलाब : पाठ और मूल्यांकन

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 रामवृक्ष बेनीपुरी –व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    9.3.1 व्यक्तित्व
    9.3.2 कृतित्व
9.4 रामवृक्ष बेनीपुरी की निबंध कला
    9.4.1 भावपक्ष
    9.4.2 कलापक्ष
9.5 गेहूँ और गुलाब - मूल पाठ (कथावस्तु)
9.6 गेहूँ और गुलाब - मूल्यांकन
9.7 सारांश
9.8 शब्दावली
9.9 अभ्यास प्रश्न
9.10 निबंधात्मक प्रश्न
9.11 संदर्भ ग्रंथ सूची / उपयोगी पाठ्य सामग्री

9.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत निबंध गेहूँ और गुलाब रामवृक्ष बेनीपुरी कृत निबंध पर आधारित है। जिसमें ('गेहूँ' भूख का प्रतीक है, तो गुलाब कला और संस्कृति का। मानवीय जीवन में भूख का जितना महत्व है, उतना ही महत्व कला और संस्कृति का भी है। इसमें लेखक ने गेहूँ को आर्थिक और राजनीतिक प्रगति का द्योतक माना है तथा गुलाब को सांस्कृतिक प्रगति का। इसमें इन्होंने प्रतिपादित किया है कि राजनीतिक एवं आर्थिक प्रगति सदा एकांगी रहेगी और इसे पूर्ण बनाने के लिए सांस्कृतिक प्रगति की आवश्यकता होगी। मानव-संस्कृति के विकास के लिए साहित्यकारों एवं कलाकारों की भूमिका गुलाब की भूमिका है और इसका अपना स्थान है। गेहूँ और गुलाब में प्राचीन काल में समन्वय था, किन्तु आज आवश्यकता इस बात की है कि गेहूँ पर विजय प्राप्त की जाय। इस पाठ में रामवृक्ष बेनीपुरी ने उपयोगितावाद और सौंदर्यबोध के प्रश्न को बड़े संवेदनशील और प्रभावी रूप में प्रस्तुत किया है। मनुष्य का जीवन केवल भौतिक आवश्यकताओं पर नहीं चलता, बल्कि मानसिक, भावनात्मक और सौंदर्य की आवश्यकताएँ भी महत्वपूर्ण हैं।

9.2 उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से विद्यार्थी—

- गेहूँ और गुलाब की उपयोगिता और सौंदर्य के संबंध को समझ सकेंगे।

- गेहूँ और गुलाब के माध्यम से मनुष्य के जीवन में कला, सौंदर्य और संवेदना के महत्व को पहचान सकेंगे।
- बेनीपुरी की भाषा-शैली और चिंतन से ग्रामीण जीवन, किसान की परिस्थितियाँ और सामाजिक यथार्थ से अवगत हो सकेंगे।

9.3 रामवृक्ष बेनीपुरी –व्यक्तित्व एवं कृतित्व

9.3.1 व्यक्तित्व

रामवृक्ष बेनीपुरी का जन्म सन् 1902 ई० में विहार स्थित मुजफ्फरपुर जिले के बेनीपुर गाँव में हुआ था। इनके पिता श्री फूलवन्त सिंह एक साधारण किसान थे। बचपन में ही इनके माता-पिता का देहावसान हो गया और इनका लालन-पालन इनकी मौसी की देखरेख में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा बेनीपुर में ही हुई। बाद में इनकी शिक्षा इनके ननिहाल में भी हुई। मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करने के पूर्व ही सन् 1920 में इन्होंने अध्ययन छोड़ दिया और महात्मा गाँधी के नेतृत्व में प्रारम्भ हुए असहयोग आन्दोलन में कूद पड़े। बाद में हिन्दी साहित्य सम्मेलन से विशारद' की परीक्षा उत्तीर्ण की। ये राष्ट्रसेवा के साथ-साथ साहित्य की भी साधना करते रहे। साहित्य की ओर इनकी रुचि 'रामचरितमानस' के अध्ययन से जागृत हुई। पन्द्रह वर्ष की आयु से ही ये पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगे थे। देश-सेवा के परिणामस्वरूप इनको अनेक वर्षों तक जेल की यातनाएँ भी सहनी पड़ीं। सन् 1968 में इनका निधन हो गया। बेनीपुरी जी के निबंध संस्मरणात्मक और भावात्मक हैं। भावुक हृदय के तीव्र उच्छ्वास की छाया इनके प्रायः सभी निबंध में विद्यमान है। इन्होंने जो कुछ लिखा है वह स्वतंत्र भाव से लिखा है। ये एक राजनीतिक एवं समाजसेवी व्यक्ति थे। विधानसभा सम्मेलन, किसान सभा, राष्ट्रीय आन्दोलन, विदेश यात्रा, भाषा-आन्दोलन आदि के बीच में रमे रहते हुए भी इनका साहित्यक व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य को अनेक सुन्दर ग्रंथ दे गया है। इनकी अधिकांश रचनाएँ जेल में लिखी गयी हैं किन्तु इनका राजनीनि व्यक्तित्व इनके साहित्यकार व्यक्तित्व को दवा नहीं सका। इनकी शैली की विशिष्टताएँ कई हैं जो इनके हर लेखन में मि हैं। बेनीपुरी का गद्य हिन्दी की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है, बातचीत के करीब है और कथ्य को सहज भाव से पाठक तना में उतार देता है।

बेनीपुरी का व्यक्तित्व उत्साहपूर्ण, ओजस्वी, लोक-जीवन से जुड़ा और संवेदनशील था। वे प्रकृति, मनुष्य और समाज के प्रति गहरी करुणा रखते थे। उनकी रचनाओं में जनजीवन की गंध और क्रियाशीलता का तेज मिलता है।

9.3.2 कृतित्व

बेनीपुरी जी ने उपन्यास, नाटक, कहानी, संस्मरण, निबंध, रेखाचित्र आदि सभी गद्य-विधाओं पर लेखन कार्य किया है। इनके कुछ प्रमुख ग्रंथ निम्नलिखित हैं।

निबंध और रेखाचित्र- मशाल', 'गेहूँ और गुलाब', 'वन्दे वाणी विनायकी', 'माटी की मूरतें', 'लालताग' आदि।

संस्मरण- मील के पत्थर', 'जंजीरे और दीवारें।

नाटक- अम्बपाली', 'सीता की माँ', 'रामराज्य'।
उपन्यास- 'पतितों के देश में।
कहानी संग्रह- 'चिता के फूल'।
जीवनी- 'जयप्रकाश नारायण', 'महाराणा प्रतापसिंह', 'कार्ल मार्क्स'।
यात्रावृत्तान्त- उड़ते चलें', 'पैरों में पंख बाँधकर'।
आलोचना- बिहारी मंतसई की सुबोध टीका', 'विद्यापति पदावली'।
पत्र-पत्रिकाएँ- 'तरुण भारती', 'युवक', 'हिमालय', 'नई धारा', 'कैदी', 'जनता', 'योगी', 'बालक', 'किसान-मित्र', 'बुजू-मुधू' आदि पत्र-पत्रिकाओं का कुशल संपादन। इनका संपूर्ण साहित्य 'बेनीपुरी ग्रंथावली' नाम से दस खण्डों में प्रकाशित है। निबंधों और रेखाचित्रों के लिए इनकी ख्याति सर्वाधिक है। माटी की मूरत इनके श्रेष्ठ रेखाचित्रों का संग्रह है जिसमें बिहार के जन-जीवन को पहचानने के लिए अच्छी सामग्री है। कुल 12 रेखाचित्र हैं और सभी एक-से-एक बढ़कर है ।

9.4 रामवृक्ष बेनीपुरी की निबंध कला

9.4.1 भावपक्ष

रामवृक्ष बेनीपुरी के निबंधों का भावपक्ष अत्यंत संवेदनशील, जीवन्त और मानवीय है। उनके निबंधों में जनजीवन के प्रति गहरी आत्मीयता दिखाई देती है। वे सामान्य जन की पीड़ा, संघर्ष और आकांक्षाओं को पूरी संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्त करते हैं। उनके निबंधों में राष्ट्रीय चेतना का स्वर भी स्पष्ट रूप से उपस्थित है, किंतु यह चेतना आक्रामक न होकर मानवीय और लोकतांत्रिक दृष्टि से जुड़ी हुई है।

बेनीपुरी के निबंधों में ग्रामीण जीवन, भारतीय समाज और संस्कृति के यथार्थ चित्र मिलते हैं। वे परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व को सहज भाव से प्रस्तुत करते हैं तथा सामाजिक कुरीतियों, असमानताओं और शोषण के विरुद्ध सशक्त आवाज उठाते हैं। उनके भावपक्ष में मानवतावादी दृष्टिकोण प्रमुख है, जिसमें करुणा, सहानुभूति और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। वे जीवन को आशा, संघर्ष और सकारात्मक दृष्टि से देखते हैं, जिससे उनके निबंध पाठक को संवेदनशील और जागरूक बनाते हैं।

9.4.2 कलापक्ष

रामवृक्ष बेनीपुरी की निबंध-कला का कलापक्ष सहजता, प्रवाह और सजीवता के लिए जाना जाता है। उनकी शैली सरल, आत्मीय और संवादात्मक है, जिससे पाठक के साथ सीधा संबंध स्थापित हो जाता है। भाषा में अनावश्यक अलंकरण नहीं है, फिर भी उसमें सौंदर्य और प्रभाव बना रहता है। उनके निबंधों में काव्यात्मकता का भी मधुर स्पर्श दिखाई देता है, किंतु यह काव्यात्मकता भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति से उत्पन्न होती है।

बेनीपुरी की भाषा प्रांजल, बोलचाल के निकट और भावानुकूल है, जिससे उनके निबंध सहज रूप से बोधगम्य बन जाते हैं। वे उदाहरणों, अनुभवों और जीवन से जुड़े प्रसंगों के माध्यम से अपने

विचार प्रस्तुत करते हैं, जिससे निबंधों में विश्वसनीयता और जीवंतता आती है। उनके निबंधों की संरचना भी संतुलित और स्वाभाविक है, जिसमें भूमिका, विषय-विकास और निष्कर्ष सहज रूप से जुड़ते हैं। इस प्रकार रामवृक्ष बेनीपुरी का कलापक्ष उनकी निबंध-कला को सरल, प्रभावशाली और पाठक-केंद्रित बनाता है।

9.5 गेहूँ और गुलाब: मूल पाठ (कथावस्तु)

गेहूँ हम खाते हैं, गुलाब सूँघते हैं। एक से शरीर की पुष्टि होती है, दूसरे से हमारा मानस तृप्त होता है।

गेहूँ बड़ा या गुलाब? हम क्या चाहते हैं—पुष्ट शरीर या तृप्त मानस? या पुष्ट शरीर पर तृप्त मानस!

जब मानव पृथ्वी पर आया, भूख लेकर। क्षुधा, क्षुधा; पिपासा, पिपासा। क्या खाए, क्या पीए? माँ के स्तनों को निचोड़ा; वृक्षों को झकझोरा; कीट-पतंग, पशु-पक्षी—कुछ न छूट पाए उससे!

गेहूँ—उसकी भूख का क़ाफिला आज गेहूँ पर टूट पड़ा है! गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ, गेहूँ उपजाओ! मैदान जोते जा रहे हैं, बाग़ उजाड़े जा रहे हैं—गेहूँ के लिए! बेचारा गुलाब—भरी जवानी में कहीं सिसकियाँ ले रहा है! शरीर की आवश्यकता ने मानसिक प्रवृत्तियों को कहीं कोने में डाल रखा है, दबा रखा है।

किंतु; चाहे कच्चा चरे, या पकाकर खाए—गेहूँ तक पशु और मानव में क्या अंतर? मानव को मानव बनाया गुलाब ने! मानव, मानव तब बना, जब उसने शरीर की आवश्यकताओं पर मानसिक वृत्तियों को तरजीह दी!

यही नहीं; जब उसके पेट में भूख खाँव-खाँव कर रही थी, तब भी उसकी आँखें गुलाब पर टँगी थी, टँकी थीं।

उसका प्रथम संगीत निकला, जब उसकी कामिनियाँ गेहूँ को ऊखल और चक्की में कूट-पीस रही थीं। पशुओं को मारकर, खाकर ही वह तृप्त नहीं हुआ। उसकी खाल का बनाया ढोल और उनकी सींग का बनायी तुरही। मछली मारने के लिए जब वह अपनी नाव में पतवार का पंख लगाकर जल पर उड़ा जा रहा था, तब उसके छप-छप में उसने ताल पाया, तराने छोड़े! बाँस से उसने लाठी ही नहीं बनाई, बंसी भी बजाई!

रात का काला घुप्प पर्दा दूर हुआ, तब वह उच्छ्वसित हुआ सिर्फ़ इसलिए नहीं कि अब पेट-पूजा की समिधा जुटाने में उसे सहूलियत मिलेगी; बल्कि वह आनंदविभोर हुआ ऊषा की लालिमा से, उगते सूरज की शनैः शनैः प्रस्फुटित होने वाली सुनहली किरणों से, पृथ्वी पर चमचम करते लक्ष-लक्ष ओस कणों से! आसमान में जब बादल उमड़े, तब उनमें अपनी कृषि का आरोप करके ही वह प्रसन्न नहीं हुआ; उनके सौंदर्य-बोध ने उसके मन-मोर को नाच उठने के लिए लाचार किया; इंद्रधनुष ने उसके हृदय को भी इंद्रधनुषी रंगों में रंग दिया!

मानव शरीर में पेट का स्थान नीचे है, हृदय का ऊपर और मस्तिष्क का सबसे ऊपर! पशुओं की तरह उसका पेट और मानस समानांतर रेखा में नहीं हैं! जिस दिन वह सीधे तनकर खड़ा हुआ, मानस ने उसके पेट पर विजय की घोषणा की।

गेहूँ की आवश्यकता उसे है। किंतु उसकी चेष्टा रही है गेहूँ पर विजय प्राप्त करने की! उपवास, व्रत, तपस्या आदि उसी चेष्टा के भिन्न-भिन्न रूप रहे है!

जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का संतुलन रहा, वह सुखी रहा, सानंद रहा!

वह कमाता हुआ गाता था और गाता हुआ कमाता था। उसके श्रम के साथ संगीत बँधा हुआ था और संगीत के साथ श्रम।

उसका साँवला दिन में गाय चराता था, रात में रास रचाता था।

पृथ्वी पर चलता हुआ, वह आकाश को नहीं भूला था और जब आकाश पर उसकी नज़रें गड़ी थीं, उसे याद था कि उसके पैर मिट्टी पर हैं! किंतु धीरे-धीरे यह संतुलन टूटा।

अब गेहूँ प्रतीक बन गया हड्डी तोड़ने वाले, थकाने वाले, उबाने वाले, नारकीय यंत्रणाएँ देने वाले श्रम का वह श्रम, जो पेट की क्षुधा भी अच्छी तरह शांत न कर सके।

और, गुलाब बन गया प्रतीक विलासिता का भ्रष्टाचार का, गंदगी और गलीज़ का! वह विलासिता जो शरीर को नष्ट करती है और मानस को भी।

अब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिए। नतीजा - महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश !

वह परंपरा चली आ रही है। आज चारों ओर महाभारत है, गृहयुद्ध है, सर्वनाश है, महानाश है!

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में, गुलाब रो रहा है बगीचों में - दोनों अपने-अपने पालन-कर्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर !

चलो, पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम एक बार फिर सम-तुलन स्थापित करें।

किंतु मानव क्या पीछे मुड़ा है? मुड़ सकता है?

यह महायात्री चलता रहा है, चलता रहेगा !

और क्या नवीन सम-तुलन चिरस्थायी हो सकेगा? क्या इतिहास फिर दुहराकर नहीं रहेगा?

नहीं, मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो। अब गुलाब और गेहूँ में फिर सम-तुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं।

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे! गेहूँ पर गुलाब की विजय-चिर विजय! अब नए मानव की यह नई आकांक्षा हो!

क्या यह संभव है?

बिलकुल सोलह आने संभव है !

विज्ञान ने बता दिया हैअब उसके साँवले ने हाथ में शंख और चक्र लिए। नतीजा - महाभारत और यदुवंशियों का सर्वनाश !

वह परंपरा चली आ रही है। आज चारों ओर महाभारत है, गृहयुद्ध है, सर्वनाश है, महानाश है!

गेहूँ सिर धुन रहा है खेतों में, गुलाब रो रहा है बगीचों में - दोनों अपने-अपने पालन-कर्ताओं के भाग्य पर, दुर्भाग्य पर !

चलो, पीछे मुड़ो। गेहूँ और गुलाब में हम एक बार फिर सम-तुलन स्थापित करें।

किंतु मानव क्या पीछे मुड़ा है? मुड़ सकता है?

यह महायात्री चलता रहा है, चलता रहेगा !

और क्या नवीन सम-तुलन चिरस्थायी हो सकेगा? क्या इतिहास फिर दुहराकर नहीं रहेगा?

नहीं, मानव को पीछे मोड़ने की चेष्टा न करो।

अब गुलाब और गेहूँ में फिर सम-तुलन लाने की चेष्टा में सिर खपाने की आवश्यकता नहीं।

अब गुलाब गेहूँ पर विजय प्राप्त करे ! गेहूँ पर गुलाब की विजय - चिर विजय! अब नए मानव की यह नई आकांक्षा हो!

क्या यह संभव है?

बिलकुल सोलह आने संभव है !

विज्ञान ने बता दिया है–यह गेहूँ क्या है। और उसने यह भी जता दिया है कि मानव में यह चिर-बुभुक्षा क्यों है। गेहूँ का गेहुँत्व क्या है, हम जान गए हैं। यह गेहुँत्व उसमें आता कहां से है, हमसे यह भी छिपा नहीं है।

पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्व एक विशेष प्रतिक्रिया के पौदों की बालियों में संगृहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं। उन्हीं तत्वों की कमी हमारे शरीर में भूख नाम पाती है !

क्यों पृथ्वी की कुड़ाई, जुताई, गुड़ाई! हम पृथ्वी और आकाश के नीचे इन तत्वों को क्यों न ग्रहण करें?

यह तो अनहोनी बात–युटोपिया, युटोपिया!

हाँ, यह अनहोनी बात, युटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक मानव संहार-कांड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्यों ही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह बात हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी !

और, विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या, सर्व ब्रह्मांड का संहार निश्चित है !

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर भी कदम बढ़ा रहा है !

कम से कम इतना तो अवश्य ही कर देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की परमावश्यक वस्तुएँ हवा, पानी की तरह इफरात हो जायँ। बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके और किस्म आदि तो निकलते ही जा रहे हैं जो गेहूँ की समस्या को हल कर दें!

प्रचुरता–शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले साधनों की प्रचुरता–की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है !

प्रचुरता?–एक प्रश्न चिह्न!

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शांति दे सकती है?

'हमारा सोने का हिंदोस्तान'–यह गीत गाइए, किंतु यह न भूलिए कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता निवास करती थी! जिसे दूसरे की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी। राक्षसता–जो रक्त पीती थी, जो अभक्ष्य खाती थी, जिसके अकाय शरीर था, दस शिर थे, जो छह महीने सोती थी!

गेहूँ बड़ा प्रबल है–वह बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम बनाकर रखना चाहेगा! पेट की क्षुधा शांत कीजिए, तो वह वासनाओं की क्षुधा जाग्रत कर बहुत दिनों तक आपको तबाह करना चाहेगा।

तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आवे, इसके लिए क्या उपाय?

अपनी मनोवृत्तियों को वश में करने के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है–इंद्रियों के संयमन की ओर वृत्तियों को उर्ध्वगामी करने की। संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनि देते आए हैं। किंतु, इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने हैं–बड़े-बड़े तपस्वियों की लंबी-लंबी तपस्याएँ एक रंभा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गईं!

आज भी देखिए। गांधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलनेवाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं।

इसलिए उपाय एकमात्र है–वृत्तियों को उर्ध्वगामी करना !

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिए। शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो–गेहूँ पर गुलाब की !

गेहूँ के बाद गुलाब–बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं!

गेहूँ की दुनिया खत्म होने जा रही है। वह दुनिया जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छाई है।

जो आर्थिक रूप से रक्त पीती रही, राजनीतिक रूप में रक्त बहाती रही!

अब दुनिया आने वाली है जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेंगे। गुलाब की दुनिया-मानस का संसार-सांस्कृतिक जगत्।

अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानव-जगत् का नया लोक बनाएँगे?

जब गेहूँ से हमारा पिण्ड छूट जाएगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छंद विहार करेंगे!

गुलाब की दुनिया–रंगों की दुनिया, सुगंधों की दुनिया!

भौंरे नाच रहे, गूँज रहे; फुल सूँघनी फुदक रही, चहक रही! नृत्य, गीत–आनंद, उछाह!

कहीं गंदगी नहीं, कहीं कुरूपता नहीं, आंगन में गुलाब, खेतों में गुलाब, गालों पर गुलाब खिल रहे, आँखों से गुलाब झाँक रहा!

जब सारा मानव-जीवन रंगमय, सुगंधमय, नृत्यमय, गीतमय बन जायगा! वह दिन कब आएगा! वह आ रहा है–क्या आप देख नहीं रहे हैं ! कैसी आँखें हैं आपकी। शायद उन पर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए वह अलौकिक स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की

पृथ्वी पर ही! शौके दीदार अगर है, तो नजर पैदा कर! यह गेहूँ क्या है। और उसने यह भी जता दिया है कि मानव में यह चिर-बुभुक्षा क्यों है।

गेहूँ का गेहुँत्व क्या है, हम जान गए हैं। यह गेहुँत्व उसमें आता कहां से है, हमसे यह भी छिपा नहीं है। पृथ्वी और आकाश के कुछ तत्व एक विशेष प्रतिक्रिया के पौदों की बालियों में संगृहीत होकर गेहूँ बन जाते हैं। उन्हीं तत्वों की कमी हमारे शरीर में भूख नाम पाती है!

क्यों पृथ्वी की कुड़ाई, जुताई, गुड़ाई! हम पृथ्वी और आकाश के नीचे इन तत्वों को क्यों न ग्रहण करें? यह तो अनहोनी बात–युटोपिया, युटोपिया!

हाँ, यह अनहोनी बात, युटोपिया तब तक बनी रहेगी, जब तक मानव संहार-काण्ड के लिए ही आकाश-पाताल एक करता रहेगा। ज्यों ही उसने जीवन की समस्याओं पर ध्यान दिया, यह बात हस्तामलकवत् सिद्ध होकर रहेगी!

और, विज्ञान को इस ओर आना है; नहीं तो मानव का क्या, सर्व ब्रह्मांड का संहार निश्चित है!

विज्ञान धीरे-धीरे इस ओर भी कदम बढ़ा रहा है!

कम से कम इतना तो अवश्य ही कर देगा कि गेहूँ इतना पैदा हो कि जीवन की परमावश्यक वस्तुएँ हवा, पानी की तरह इफरात हो जायँ। बीज, खाद, सिंचाई, जुताई के ऐसे तरीके और किस्म आदि तो निकलते ही जा रहे हैं जो गेहूँ की समस्या को हल कर दें!

प्रचुरता–शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले साधनों की प्रचुरता–की ओर आज का मानव प्रभावित हो रहा है! प्रचुरता?–एक प्रश्न चिह्न!

क्या प्रचुरता मानव को सुख और शांति दे सकती है?

'हमारा सोने का हिंदोस्तान'–यह गीत गाइए, किंतु यह न भूलिए कि यहाँ एक सोने की नगरी थी, जिसमें राक्षसता निवास करती थी! जिसे दूसरे की बहू-बेटियों को उड़ा ले जाने में तनिक भी झिझक नहीं थी। राक्षसता–जो रक्त पीती थी, जो अभक्ष्य खाती थी, जिसके अकाय शरीर था, दस शिर थे, जो छह महीने सोती थी!

गेहूँ बड़ा प्रबल है–वह बहुत दिनों तक हमें शरीर का गुलाम बनाकर रखना चाहेगा! पेट की क्षुधा शांत कीजिए, तो वह वासनाओं की क्षुधा जाग्रत कर बहुत दिनों तक आपको तबाह करना चाहेगा। तो, प्रचुरता में भी राक्षसता न आवे, इसके लिए क्या उपाय? अपनी मनोवृत्तियों को वश में करने के लिए आज का मनोविज्ञान दो उपाय बताता है–इंद्रियों के संयमन की ओर वृत्तियों को उर्ध्वगामी करने की। संयमन का उपदेश हमारे ऋषि-मुनि देते आए हैं। किंतु, इसके बुरे नतीजे भी हमारे सामने हैं–बड़े-बड़े तपस्वियों की लंबी-लंबी तपस्याएँ एक रम्भा, एक मेनका, एक उर्वशी की मुस्कान पर स्खलित हो गईं!

आज भी देखिए। गांधीजी के तीस वर्ष के उपदेशों और आदेशों पर चलनेवाले हम तपस्वी किस तरह दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे हैं।

इसलिए उपाय एकमात्र है–वृत्तियों को उर्ध्वगामी करना!

कामनाओं को स्थूल वासनाओं के क्षेत्र से ऊपर उठाकर सूक्ष्म भावनाओं की ओर प्रवृत्त कीजिए।
शरीर पर मानस की पूर्ण प्रभुता स्थापित हो–गेहूँ पर गुलाब की!
गेहूँ के बाद गुलाब - बीच में कोई दूसरा टिकाव नहीं, ठहराव नहीं !
गेहूँ की दुनिया ख़त्म होने जा रही है। वह दुनिया जो आर्थिक और राजनीतिक रूप में हम सब पर छाई है।
जो आर्थिक रूप से रक्त पीती रही, राजनीतिक रूप में रक्त बहाती रही !
अब दुनिया आने वाली है जिसे हम गुलाब की दुनिया कहेंगे। गुलाब की दुनिया-मानस का संसार-सांस्कृतिक जगत्।
अहा, कैसा वह शुभ दिन होगा हम स्थूल शारीरिक आवश्यकताओं की जंजीर तोड़कर सूक्ष्म मानव-जगत् का नया लोक बनाएँगे?
जब गेहूँ से हमारा पिण्ड छूट जायगा और हम गुलाब की दुनिया में स्वच्छंद विहार करेंगे !
गुलाब की दुनिया-रंगों की दुनिया, सुगंधों की दुनिया!
भौंरे नाच रहे, गूँज रहे; फुल सूँघनी फुदक रही, चहक रही! नृत्य, गीत-आनंद, उछाह!
कहीं गंदगी नहीं, कहीं कुरूपता नहीं, आंगन में गुलाब, खेतों में गुलाब, गालों पर गुलाब खिल रहे, आँखों से गुलाब झाँक रहा !
जब सारा मानव-जीवन रंगमय, सुगंधमय, नृत्यमय, गीतमय बन जाएगा! वह दिन कब आएगा!
वह आ रहा है–क्या आप देख नहीं रहे हैं ! कैसी आँखें हैं आपकी। शायद उन पर गेहूँ का मोटा पर्दा पड़ा हुआ है। पर्दे को हटाइए और देखिए वह अलौकिक स्वर्गिक दृश्य इसी लोक में, अपनी इस मिट्टी की पृथ्वी पर ही!
शौके दीदार अगर है, तो नज़र पैदा कर!

9.6 गेहूँ और गुलाब की कथावस्तु का मूल्यांकन

गेहूँ और गुलाब दोनों मानव के लिए उपयोगी हैं। एक शरीर को पौष्टिक आहार प्रदान करता है। तथा शरीर को पुष्ट करता है। तो दूसरा मन को तृप्त करता है। मानव पृथ्वी पर भूख के लिए ही आया है तथा भूख के लिए ही गेहू का उपयोग होता है, मानव को जो खाने की वस्तु मिलती है वो वह सभी चीज़े खाता हैं। गेहूँ उगाने के लिए मैदान एवं बाग उजाड़े गए। परिणामस्वरूप गुलाब की खेती बर्बाद हो गई। पहले मानव अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम करता था जिससे उसका मानसिक विकास भी होता था और वह मानसिक विकास के लिए कला, संस्कृति, गीत, संगीत तथा साहित्य की आराधना करता था। जब तक मानव के जीवन में गेहूँ और गुलाब का संतुलन रहा, वह सुखी और आनंदित रहा, गेहूँ बलवान होकर लोगों को शरीर और वासनाओं का गुलाम बनाकर रखेगा, इसलिए अपनी वृत्तियों के सुधार दवारा हम उन पर नियंत्रण रख पाएँगे। विज्ञान ने गेहूँ के गेहूँत्व को प्रकट कर दिया है। लेखक का मानना है कि गेहूँ की आर्थिक और राजनीतिरूपी शोषक से दुनिया का अंत होगा और गुलाब की दुनिया अर्थात रंगों और सुगंधों की दुनिया आने वाली है।

9.7 सारांश

इस निबंध की कथावस्तु गेहूँ और गुलाब जैसे दो भिन्न प्रतीकों के माध्यम से मनुष्य के जीवन की दो मूल आवश्यकताओं **अन्न** (उपयोगिता) और **सौंदर्य** (भावना/कला) के बीच संतुलन को स्थापित करती है। निबंध का सार है कि क्या मनुष्य केवल पेट भरने के लिए जीवित है, या वह सौंदर्य और संवेदना की भी तलाश में रहता है? केवल अन्न (गेहूँ) जीवन को पूर्ण नहीं बना सकता। कला–सौंदर्य (गुलाब) मनुष्य के भीतर आनंद, संवेदना और मानवीय भावनाओं को जगाता है। किसान उपयोगिता के आधार पर फसल उगाता है, पर उसके मन में भी सौंदर्य के फूल खिलते हैं। समाज यदि केवल उपयोगितावाद पर आधारित हो जाए, तो मनुष्य की कल्पना, रस और संवेदनशीलता समाप्त हो जाएगी। लेखक बड़ी कुशलता से दिखाता है कि जीवन में **भोजन और सौंदर्य दोनों अनिवार्य हैं**, और यही संतुलन मनुष्य को पूर्ण बनाता है। निबंध में लेखक ने गेहूँ और गुलाब की तुलना के माध्यम से जीवन-दर्शन प्रस्तुत किया है। लेखक का अंतिम निष्कर्ष यह है कि-

- **भोजन** मनुष्य को जीवित रखता है, **सौंदर्य** मनुष्य को **मानव** बनाए रखता है। गेहूँ शरीर का भोजन है गुलाब मन का भोजन दोनों के संतुलन में ही जीवन का वास्तविक सौंदर्य छिपा है। मनुष्य केवल जीवित रहना नहीं चाहता; वह जीना चाहता है—
  और जीने का अर्थ है **अन्न के साथ कला का स्वाद**,
  श्रम के साथ सौंदर्य,
  कठोरता के साथ कोमलता,
  उपयोगिता के साथ कल्पना।

गेहूँ और गुलाब का यह संतुलन ही जीवन को पूर्णता प्रदान करता है।

9.8 शब्दावली

- **उपयोगिता** – लाभ, काम, प्रायोगिक महत्व
- **सौंदर्यबोध** – सुंदरता को समझने की क्षमता
- **सोद्देश्यता** – उद्देश्यपूर्ण होना
- **प्रतीकात्मकता** – किसी विचार को प्रतीकों के माध्यम से दिखाना।
- **संतुलन** – समान रूप से महत्व देना

9.9 अभ्यास प्रश्न

1. गेहूँ और गुलाब की आवश्यकता समाज में किस प्रकार से है?
2. गेहूँ और गुलाब में संतुलन टूटने पर क्या होता है।
3. बेनीपुरी ने निबंध के माध्यम से 'मानव' और 'पशु' में क्या अंतर बताया है।

9.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. 'गेहूँ बनाम गुलाब' निबंध में प्रस्तुत जीवन-दर्शन की व्याख्या कीजिए।
2. बेनीपुरी की भाषा-शैली की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. गेहूँ बनाम गुलाब' शीर्षक की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

9.11 संदर्भ ग्रंथ सूची / उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. रामवृक्ष बेनीपुरी - संपूर्ण निबंध
2. हिन्दी गद्य के प्रतिनिधि निबंधकार - संपादित, विभिन्न लेखक
3. आधुनिक हिन्दी निबंध -आलोचनात्मक अध्ययन
4. रामविलास शर्मा- भाषा और समाज
5. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास - डॉ बच्चन सिंह राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली, प्रथम संस्करणसंशोधित संस्करण, 2006 ,1996 ,
6. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान नयी दिल्ली, संस्करण 2010
7. हिन्दी साहित्य का इतिहास नेशनल ,डॉ हरदयाल ,डॉ नगेंद्र–पब्लिशिंग हाउस अंसारी रोड दरियागंज2009 ,

इकाई 10 मेरे राम का मुकुट भीग रहा है (विद्यानिवास मिश्र) : पाठ एवं मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा
10.1 उद्देश्य
10.2 प्रस्तावना
10.3 विद्यानिवास मिश्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
10.4 निबंध का वाचन : मेरे राम का मुकुट भीग रहा है
10.5 निबंध का सार
10.6 संदर्भ सहित व्याख्या
10.7 अंतर्वस्तु
10.7.1 विचार पक्ष
10.7.2 भाव पक्ष
10.8 संरचना शिल्प
10.8.1 भाषा
10.8.2 शैली
10.9 प्रतिपाद्य
10.10 सारांश
10.11 शब्दावली
10.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.13 संदर्भ ग्रंथ सूची
10.14 सहायक पाठ्य सामग्री
10.15 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप विद्यानिवास मिश्र का ललित निबंध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' से परिचित हो सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' से परिचित हो सकेंगे और उसके महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या कर सकेंगे।
- निबंध में अभिव्यक्त भावों और विचारों का विश्लेषण और विवेचन कर सकेंगे।
- ललित निबंध की विशिष्टताओं को समझने के साथ 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' की भाषा और शैलीगत विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' के मूल प्रतिपाद्य को समझ सकेंगे।

10.2 प्रस्तावना

हिंदी निबंध प्रश्न पत्र की यह नौवीं इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के पहले आपने हिंदी निबंध के परिदृश्य को समझ लिया है। साथ ही इस निबंध के पूर्ववर्ती महत्वपूर्ण निबंधों को भी आपने विस्तार से समझते हुए निबंध-परंपरा से आप वाक़िफ़ हो चुके हैं। आपने निबंध के स्वरूप और हिन्दी निबंध के विकास का भी अध्ययन कर लिया है। विकास-क्रम में कुछ महत्वपूर्ण निबंधों के महत्वपूर्ण अंशों का भी आपने अध्ययन किया है।

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' ललित निबंधकार विद्यानिवास मिश्र का चर्चित निबंध है। विद्यानिवास मिश्र भारतीय परम्परा के प्रसिद्ध निबंधकार और आलोचक माने जाते हैं। इनकी रचनाओं में भारतीयता के मूल्यों और आत्मा का रेखांकन सहज की पल्लवित और पुष्पित होता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने जिस लालित्यपूर्ण गद्य को निबंधों में प्रयोग किया उसका सबसे विकसित रूप विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में दिखाई देता है। विद्यानिवास मिश्र भारतीय दर्शन, ज्ञान-परंपरा, संस्कृति, साहित्य, भाषा और लोक के मर्मज्ञ विद्वान हैं। उन्होंने भारतीय ज्ञान के विभिन्न रूपों के साथ-साथ लोकजीवन और लोक संस्कृति का भी विशद अध्ययन किया है। विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में वैदिक, साहित्यिक ज्ञान के अतिरिक्त लोक ज्ञान का व्यापक और सहज प्रयोग मिलता है। निश्चय ही हिंदी निबंध साहित्य के परम्परा में ज्ञान और लोक का जैसा समन्वय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया है; उनके उपरांत विद्यानिवास मिश्र के अतिरिक्त किसी अन्य निबंधकार ने नहीं किया है। विद्यानिवास मिश्र सच्चे अर्थों में निबंधों के संदर्भ में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के उत्तराधिकारी हैं। विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में ज्ञान का विशद उपयोग, चिंतन के धरातल पर मूल्यों का निकष और लोक की सरलता सहजता और सरसता के साथ अभिव्यक्ति पाते हैं।

10.3 डॉ. विद्यानिवास मिश्र : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

डॉ. विद्यानिवास मिश्र का जन्म उत्तरप्रदेश के गोरखपुर के पकड़डीहा गाँव में 28 जनवरी, 1926 को हुआ। इनकी आरंभिक शिक्षा गोरखपुर में और फिर इलाहाबाद, बनारस और गोरखपुर से हुई। इन्होंने गोरखपुर विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. एवं संस्कृत कॉलेज वाराणसी से साहित्य शास्त्री की उपाधि प्राप्त की। इन्होंने गोरखपुर विश्वविद्यालय, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, वाशिंगटन विश्वविद्यालय, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय एवं के.एम. मुंशी हिंदी शोध-संस्थान में अध्यापन का कार्य किया। इनके लेखन और ख्याति का मूलाधार निबंध और भाषाविज्ञान-चिंतन है। शास्त्रीयता और लोक-संस्कृति का सम्मिलन इनकी विशिष्टता है। अवधी-भोजपुरी के आंचलिक रसों के परिपाग से समन्वित हिंदी गद्य का लालित्यपूर्ण निर्वाह इनके निबन्धों की सरसता को वैभवपूर्ण बनाती है। इनके निबंधों के इस पक्ष को रेखांकित करते हुए डॉ. सतेंद्र लिखते हैं, **"भारतेंदु-युग में व्यक्तिनिष्ठ निबंधों की एक**

अनोखी परंपरा प्रारंभ हुई थी, जिसमें सजीवता के साथ विषय-चयन की नवीनता और वर्णन-शैली की रोचकता रहती थी। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उसे नवीन रूप और परिवेश में पुनरुज्जीवित किया। विद्यानिवास मिश्र ने आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की परम्परा को भोजपुरी लोक संस्कृति और साहित्य की मिठास से सिक्त कर हिन्दी ललित निबंध को एक नया क्षितिज प्रदान किया।" (निबंध निलय, डॉ सतेंद्र, पृष्ठ 105)

कृतित्व

डॉ विद्यानिवास मिश्र की प्रकाशित पुस्तकें हैं-

निबंध संग्रह :

छितवन की छाँह; कदम की फूली डाल; तुम चन्दन हम पानी; आँगन का पंक्षी बनजारा मन; मैंने सील पहुँचाई; बसंत आ गया कोई उत्कंठा नहीं(मंगला प्रसाद पुरस्कार से पुरस्कृत); भोर का आवाहन(संपादक : शिवप्रसाद सिंह); मेरे राम का मुकुट भीग रहा है; परंपरा बंधन नहीं; कौन तू फुलवा बिननिहारी; तमाल के झरोखे से; भ्रमरानंद के पत्र; संचारिणी; अंगद की नियति; अग्निरथ; गाँव का मन; मेरे निबंध मेरी पसंद के; शेफाली झर रही है; नैरंतर्य और चुनौती; सोहम्; देश, धर्म और साहित्य; नदी, नारी और संस्कृति; जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है(मारवाड़ी पुस्तकालय मुंबई के साहित्य के सर्वोच्च सम्मान से पुरस्कृत); फागुन दुइ रे दिना; पीपल के बहाने; शिरीष की याद आई; कँटीले तारों के आरपार; अस्मिता के लिए; भ्रमरानन्द का पचड़ा; स्वरूप-विमर्श; गिर रहा है आज पानी; जसुदा के नन्दन; रथयात्रा; थोड़ी-सी जगह दे; गांधी का करुण रस; वाद्य वृन्द; रहिमन पानी राखिए; साहित्य के सरोकार; कितने मोरचे

यात्रावृत्त और संस्मरण :

यात्राओं की यात्रा; सपने कहाँ गए; चिड़िया रैन बसेरा

कविता संग्रह :

पानी की पुकार; उत्तर गीत गोविंद

रेडियो रूपक :

पंचशर

साहित्यालोचन :

साहित्य की चेतना, निज मुख मुकुर, साहित्य का प्रयोजन, लोगो रंग हरि : श्यामरसायन, महाभारत का काव्यार्थ (मूर्तिदेवी पुरस्कार एवं शंकर सम्मान से पुरस्कृत कृति); भावपुरुष श्रीकृष्ण; कालिदास से साक्षात्कार; बूँद मिले सागर में; सहृदय; साहित्य का खुला आकाश; तंत्र, कला और आस्वाद; मध्यगीन कविता को पढ़ना-पढ़ाना; हिंदी साहित्य का पुनरावलोकन; लोक और लोक का स्वर; रामायण का काव्य-मर्म; रागबोध और रस; अनछुए बिंदु; अज्ञेय : वन का छन्द; तुलसीदास : भक्तिप्रबंध का नया उत्कर्ष; Foundation of Indian Aesthetics

संस्कृति संवाद :

हिंदी धर्म : जीवन में सनातन की खोज; हिंदू धर्म दीपिका; भारतीय परंपरा; भारतीयता की पहचान; भारतीय चिंतनधारा; अध्यापन : भारतीय दृष्टि; साल भर पर्व; भारतीय संस्कृति के आधार; The Indian Creature Mind; The structure of Indian Mind : studies in Indian Thought and Culture

भाषा-चिंतन :

हिंदी की शब्द सम्पदा; रीति-विज्ञान; भारतीय भाषा-दृश्न की पीठिका; हिंदी और हम; संप्रेषण और संप्रेषणात्मक व्याकण; The Descriptive Technique of Panini

अनुवाद और व्याख्या :

अमरूक शतक; राधा माधव रंग रंगी (गीत गोविंद की व्याख्या); गीतगोविंदम्; Modern Hindi Poetry and anthology; Indian Poetic Tradition

रचना संचयन :

संचयिता : पंडित विद्यानिवास मिश्र; विद्यानिवास मिश्र संचयन

साक्षात्कार :

गाँव के मन से रू ब रू; सांस्कृतिक आलोक से संवाद; गंगा से भूमध्य सागर तक

संपादन :

हिंदी काव्य

राष्ट्रीय कविताएँ; आज के लोकप्रिय कवि अज्ञेय; रामचरितमानस; नई कविता की मुक्त धारा; सत्यनारायण कविरत्न ग्रंथावली; सूर वाङ्मय सूची; देव की दीपशिखा; ब्रज के लोकमंगल का संसार;

तुलसी-मंजरी; रसखान ग्रंथावली; चंदन-चौक; आलम ग्रंथावली; कबीर वचनामृत; रहीम ग्रंथावली; अज्ञेय काव्य-स्तबक; राहुल चयनिका; वाचिक कविता : भोजपुरी; सूर सरसि; द्विजदेव ग्रंथावली; हिंदी की जनपदीय कविता; वाचिक कविता : अवधी

निबंध/रेखाचित्र/आलोचना

संविधान का मसौदा; प्रेमचंद के उपन्यासों कि भूमिका; आधुनिक निबंधावली; श्यामसुन्दर दास के निबंध; गति और रेखा; Creativity and Environment; स्तबक; साहित्य और सौंदर्यशास्त्र

कोश/ भाषा-चिंतन

शासन शब्दकोश; भाषा-विज्ञान शब्दकोश; दर्शनशास्त्रीय पारिभाषिक कोश; भारतीय दर्शन का विश्वकोश(शैव दर्शन); प्रौढ़ों का शब्द-संसार; भारतीय भाषाशास्त्रीय-चिंतन; हिंदी प्रयोग वार्षिकी कोश; साहित्यिक ब्रजभाषा कोश (तीन खंडों में); पुराण कथा-कोश

संस्कृत वाङ्मय

Studies इन Vedic Indo Aryan Religion; श्रीमद्भगवद्गीता; वैयाकरण भूषण; साहित्य रत्नकोशे वैदाख्यान कल्पद्रुम; महाभारत का तात्पर्य-प्रकाश; महाभारत निर्णय-प्रकाश; Perception of Vedas : Anand K. Kumarswamy; परशुराम कल्पसूत्रम

अभिनंदन ग्रंथ/ स्मृति ग्रंथ/ जीवन-चरित

हिंदी सेवा की संकल्पना; नारायण दत्त तिवरी : संघर्ष के सोपान; वेदार्थ मंजरी (चंद्रबली तिवारी अभिनन्दन ग्रन्थ); Follow the Notes of Flute; संस्कृत साधना; हिन्दीमय जीवन; सारस्वत विमर्श : विश्वेश्वर से महाकालेश्वर : राममूर्ति त्रिपाठ : व्यक्तित्व एवं कृतित्व; अंतरंग; देवेंद्रनाथ शर्मा : समष्टिमय व्यक्तित्व; श्री स्वामी स्मृतिग्रंथ; शेमूषी : पद्मभूषण बलदेव उपाध्याय जन्मशती ग्रंथ

पत्र-पत्रिकाएँ

विन्ध्यभूमि; सम्मेलन पत्रिका(भारतेंदु शती अंक); भारतीय साहित्य; संस्कृत प्रतिभा; अभिरुचि; नान्दी;गरुतमान; नवभारत टाइम्स; विचार मीमांसा; साहित्य अमृत; कार्ष्णि कलाप

प्रमुख सम्मान :

पद्मभूषण; पद्मश्री; उत्तरप्रदेश संगीत अकादमी का सर्वोच्च सम्मान रत्न सदस्यता; मूर्तिदेवी पुरस्कार; विश्व भारती पुरस्कार; शंकर सम्मान; साहित्य अकादमी का सर्वोच्च सम्मान महत्तर सदस्यता' भारत भारती सम्मान; मदन मोहन मालवीय सम्मान

देहावसान :

14 फ़रवरी 2005 (सड़क-दुर्घटना में)

10.4 निबंध का वाचन : मेरे राम का मुकुट भीग रहा है : विद्यानिवास मिश्र

महीनों से मन बेहद-बेहद उदास है। उदासी की कोई ख़ास वजह नहीं, कुछ तबीयत ढीली, कुछ आसपास के तनाव और कुछ उनसे टूटने का डर, खुले आकाश के नीचे भी खुलकर साँस लेने की जगह की कमी, जिस काम में लगकर मुक्ति पाना चाहता हूँ, उस काम में हज़ार बाधाएँ; कुल ले-देकर उदासी के लिए इतनी बड़ी चीज़ नहीं बनती। फिर भी रात-रात नींद नहीं आती। दिन ऐसे बीतते हैं, जैसे भूतों के सपनों की एक रील पर दूसरी रील चढ़ा दी गई हो और भूतों की आकृतियाँ और डरावनी हो गई हों। इसलिए कभी-कभी तो बड़ी-से-बड़ी परेशानी करने वाली बात हो जाती है और कुछ भी परेशानी नहीं होती, उल्टे ऐसा लगता है, जो हुआ, एक सहज क्रम में हुआ; न होना ही कुछ अटपटा होता और कभी-कभी बहुत मामूली-सी बात भी भयंकर चिंता का कारण बन जाती है।

अभी दो-तीन रात पहले मेरे एक साथी संगीत का कार्यक्रम सुनने के लिए नौ बजे रात गए, साथ में जाने के लिए मेरे एक चिरंजीव ने और मेरी एक मेहमान, महानगरीय वातावरण में पली कन्या ने अनुमति माँगी। शहरों की आजकल की असुरक्षित स्थिति का ध्यान करके इन दोनों को जाने तो नहीं देना चाहता था, पर लड़कों का मन भी तो रखना होता है, कह दिया, एक-डेढ़ घंटे सुनकर चले आना।

रात के बारह बजे। लोग नहीं लौटे। गृहिणी बहुत उद्विग्न हुईं, झल्लाईं; साथ में गए मित्र पर नाराज़ होने के लिए संकल्प बोलने लगीं। इतने में ज़ोर की बारिश आ गई। छत से बिस्तर समेटकर कमरे में आया। गृहिणी को समझाया, बारिश थमेगी, आ जाएँगे, संगीत में मन लग जाता है, तो उठने की तबीयत नहीं होती, तुम सोओ, ऐसे बच्चे नहीं हैं। पत्नी किसी तरह शांत होकर सो गईं, पर मैं अकुला उठा। बारिश निकल गई, ये लोग नहीं आए। बरामदे में कुर्सी लगाकर राह जोहने लगा। दूर कोई भी आहट होती तो, उदग्र होकर फाटक की ओर देखने लगता। रह-रहकर बिजली चमक जाती थी और सड़क दिप जाती थी। पर सामने की सड़क पर कोई रिक्शा नहीं, कोई चिरई का पूत नहीं। एकाएक कई दिनों से मन में उमड़ती-घुमड़ती पँक्तिया गूँज गईं—

मोरे राम के भीजे मुकुटवा
लछिमन के पटुकवा

मोरी सीता के भीजै सेनुरवा
त राम घर लौटहिं।
(मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा, मेरे लखन का पटुका (दुपट्टा) भीग रहा होगा, मेरी सीता की माँग का सिंदूर भीग रहा होगा, मेरे राम घर लौट आते।)

बचपन में दादी-नानी जापें पर वह गीत गातीं, मेरे घर से बाहर जाने पर विदेश में रहने पर वे यही गीत विह्वल होकर गातीं और लौटने पर कहतीं—'मेरे लाल को कैसा वनवास मिला था।' जब मुझे दादी-नानी की इस आकुलता पर हँसी भी आती, गीत का स्वर बड़ा मीठा लगता। हाँ, तब उसका दर्द नहीं छूता। पर इस प्रतीक्षा में एकाएक उसका दर्द उस ढलती रात में उभर आया और सोचने लगा, आने वाली पीढ़ी पिछली पीढ़ी की ममता की पीड़ा नहीं समझ पाती और पिछली पीढ़ी अपनी संतान के संभावित संकट की कल्पना मात्र से उद्विग्न हो जाती है। मन में यह प्रतीति ही नहीं होती कि अब संतान समर्थ है, बड़ा-से-बड़ा संकट झेल लेगी। बार-बार मन को समझाने की कोशिश करता, लड़की दिल्ली विश्वविद्यालय के एक कॉलेज में पढ़ाती है, लड़का संकट-बोध की कविता लिखता है, पर लड़की का ख़्याल आते ही दुश्चिंता होती, गली में जाने कैसे तत्व रहते हैं! लौटते समय कहीं कुछ हो न गया हो और अपने भीतर अनायास अपराधी होने का भाव जाग जाता, मुझे रोकना चाहिए था या कोई व्यवस्था करनी चाहिए थी, पराई लड़की (और लड़की तो हर एक पराई होती है, धोबी की मुटरी की तरह घाट पर खुले आकाश में कितने दिन फहराएगी, अंत में उसे गृहिणी बनने जाना ही है) घर आई, कहीं कुछ हो न जाए!

मन फिर घूम गया कौसल्या की ओर, लाखों-करोड़ों कौसल्याओं की ओर, और लाखों करोड़ों कौसल्याओं के द्वारा मुखरित एक अनाम-अरूप कौसल्या की ओर, इन सबके राम वन में निर्वासित हैं, पर क्या बात है कि मुकुट अभी भी उनके माथे पर बँधा है और उसी के भीगने की इतनी चिंता है? क्या बात है कि आज भी काशी की रामलीला आरंभ होने के पूर्व एक निश्चित मुहुर्त में मुकुट की ही पूजा सबसे पहले की जाती है? क्या बात है कि तुलसीदास ने 'कानन' को 'सत अवध समाना' कहा और चित्रकूट में ही पहुँचने पर उन्हें 'कलि की कुटिल कुचाल' दीख पड़ी? क्या बात है कि आज भी वनवासी धनुर्धर राम ही लोकमानस के राजा राम बने हुए हैं? कहीं-न-कहीं इन सबके बीच एक संगति होनी चाहिए।

अभिषेक की बात चली, मन में अभिषेक हो गया और मन में राम के साथ राम का मुकुट प्रतिष्ठित हो गया। मन में प्रतिष्ठित हुआ, इसलिए राम ने राजकीय वेश में उतारा, राजकीय रथ से उतरे, राजकीय भोग का परिहार किया, पर मुकुट तो लोगों के मन में था, कौसल्या के मातृ-स्नेह में था, वह कैसे उतरता, वह मस्तक पर विराजमान रहा और राम भीगें तो भीगें, मुकुट न भीगने पाए, इसकी चिंता बनी रही। राजा राम के साथ उनके अंगरक्षक लक्ष्मण का कमर-बंद दुपट्टा भी (प्रहरी की जागरूकता का

उपलक्षण) न भीगने पाए और अखंड सौभाग्यवती सीता की माँग का सिंदूर न भीगने पाए, सीता भले ही भीग जाएँ। राम तो वन से लौट आए, सीता को लक्ष्मण फिर निर्वासित कर आए, पर लोकमानस में राम की वनयात्रा अभी नहीं रूकी। मुकुट, दुपट्टे और सिंदूर के भीगने की आशंका अभी भी साल रही है। कितनी अयोध्याएँ बसीं, उजड़ीं, पर निर्वासित राम की असली राजधानी, जंगल का रास्ता अपने काँटों-कुशों, कंकड़ों-पत्थरों की वैसी ही ताज़ा चुभन लिए हुए बरकरार है, क्योंकि जिनका आसरा साधारण गँवार आदमी भी लगा सकता है, वे राम तो सदा निर्वासित ही रहेंगे और उनके राजपाट को संभालने वाले भरत अयोध्या के समीप रहते हुए भी उनसे भी अधिक निर्वासित रहेंगे, निर्वासित ही नहीं, बल्कि एक कालकोठरी में बंद जिलावतनी की तरह दिन बिताएँगे।

सोचते-सोचते लगा की इस देश की ही नहीं, पूरे विश्व की एक कौसल्या है; जो हर बारिश में विसूर रही है—'मोरे राम के भीजे मुकुटवा' (मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा)। मेरी संतान, एश्वर्य की अधिकारिणी संतान वन में घूम रही है, उसका मुकुट, उसका ऐश्वर्य भीग रहा है, मेरे राम कब घर लौटेंगे; मेरे राम के सेवक का दुपट्टा भीग रहा है, पहरुए का कमरबंद भीग रहा है, उसका जागरण भीग रहा है, मेरे राम की सहचारिणी सीता का सिंदूर भीग रहा है, उसका अखंड सौभाग्य भीग रहा है, मैं कैसे धीरज धरूँ? मनुष्य की इस सनातन नियति से एकदम आतंकित हो उठा ऐश्वर्य और निर्वासन दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिसे एश्वर्य सौंपा जाने को है, उसको निर्वासन पहले से बदा है। जिन लोगों के बीच रहता हूँ, वे सभी मंगल नाना के नाती हैं, वे 'मुद मंगल' में ही रहना चाहते हैं, मेरे जैसे आदमी को वे निराशावादी समझकर बिरादरी से बाहर ही रखते हैं, डर लगता रहता है कि कहीं उड़कर उन्हें भी दुख न लग जाए, पर मैं अशेष मंगलाकांक्षाओं के पीछे से झाँकती हुई दुर्निवार शंकाकुल आँखों में झाँकता हूँ, तो मंगल का सारा उत्साह फीका पड़ जाता है और बंदनवार, बंदनवार न दिखकर बटोरी हुई रस्सी की शक्ल में कुंडली मारे नागिन दिखती है, मंगल-घट औंधाई हुई अधफूटी गगरी दिखता है, उत्सव की रोशनी का तामझाम धुओं की गाँठों का अंबार दिखता है और मंगल-वाद्य डेरा उखाड़ने वाले अंतिम कारबरदार की उसाँस में बजकर एकबारगी बंद हो जाता है।

लागति अवध भयावह भारी, मानहुँ कालराति अँधियारी।
घोर जंतु सम पुर नरनारी, डरपहिं एकहि एक निहारी।
घर मसान परिजन जनु भूता, सुत हित मीत मनहुँ जमदूता।
वागन्ह बिटप बेलि कुम्हिलाहीं, सरित सरोवर देखि न जाहीं।

कैसे मंगलमय प्रभात की कल्पना थी और कैसी अँधेरी कालरात्रि आ गई है? एक-दूसरे को देखने से डर लगता है। घर मसान हो गया है, अपने ही लोग भूत-प्रेत बन गए हैं, पेड़ सूख गए हैं, लताएँ कुम्हला गई हैं। नदियों और सरोवरों को देखना भी दुस्सह हो गया है। केवल इसलिए कि जिसका ऐश्वर्य से अभिषेक हो रहा था, वह निर्वासित हो गया। उत्कर्ष की ओर उन्मुख समष्टि का चैतन्य अपने ही घर से बाहर कर दिया गया, उत्कर्ष की, मनुष्य की ऊर्ध्वोन्मुख चेतना की यही क़ीमत सनातन काल से अदा

की जाती रही है। इसीलिए जब क़ीमत अदा कर ही दी गई, तो उत्कर्ष कम-से-कम सुरक्षित रहे, यह चिंता स्वाभाविक हो जाती है। राम भीगें तो भीगें, राम के उत्कर्ष की कल्पना न भीगे, वह हर बारिश में हर दुर्दिन में सुरक्षित रहे। नर के रूप में लीला करने वाले नारायण निर्वासन की व्यवस्था झेलें, पर नर रूप में उनकी ईश्वरता का बोध दमकता रहे, पानी की बूँदों की झालर में उसकी दीप्ति छिपने न पाए। उस नारायण की सुख-सेज बने अनंत के अवतार लक्ष्मण भले ही भीगते रहें, उनका दुपट्टा, उनका अहर्निशि जागर न भीजे, शेषी नारायण के ऐश्वर्य का गौरव अनंत शेष के जागर-संकल्प से ही सुरक्षित हो सकेगा और इन दोनों का गौरव जगज्जननी आद्याशक्ति के अखंड सौभाग्य, सीमंत, सिंदूर से रक्षित हो सकेगा, उस शक्ति का एकनिष्ठ प्रेमपाकर राम का मुकुट है, क्योंकि राम का निर्वासन वस्तुत: सीता का दुहरा निर्वासन है। राम तो लौटकर राजा होते हैं, पर रानी होते ही सीता राजा राम द्वारा वन में निर्वासित कर दी जाती हैं। राम के साथ लक्ष्मण हैं, सीता हैं, सीता वन्य पशुओं से घिरी हुई विजन में सोचती हैं—प्रसव की पीड़ा हो रही है, कौन इस वेला में सहारा देगा, कौन प्रसव के समय प्रकाश दिखलाएगा, कौन मुझे सँभालेगा, कौन जन्म के गीत गाएगा?

कोई गीत नहीं गाता। सीता जंगल की सूखी लकड़ी बीनती हैं, जलाकर अँजोर करती हैं और जुड़वाँ बच्चों का मुँह निहारती हैं। दूध की तरह अपमान की ज्वाला में चित्त कूद पड़ने के लिए उफनता है और बच्चों की प्यारी और मासूम सूरत देखते ही उस पर पानी के छीटे पड़ जाते हैं, उफान दब जाता है। पर इस निर्वासन में भी सीता का सौभाग्य अखंडित है, वह राम के मुकुट को तब भी प्रमाणित करता है, मुकुटधारी राम को निर्वासन से भी बड़ी व्यथा देता है और एक बार और अयोध्या जंगल बन जाती है, स्नेह की रसधार रेत बन जाती है, सब कुछ उलट-पलट जाता है, भवभूति के शब्दों में पहचान की बस एक निशानी बच रहती है, दूर उँचे खड़े तटस्थ पहाड़, राजमुकुट में जड़ें हीरों की चमक के सैकड़ों शिखर, एकदम कठोर, तीखे और निर्मम—

पुरा यत्र स्रोत: पुलिनमधुना तत्र सरितां विपर्यासं यातो घनविरलभाव: क्षितिरुहामू।
बहो: कालाद् दृष्टं ह्यपरमिव मन्ये वनमिंद निवेश: शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति।
राम का मुकुट इतना भारी हो उठता है कि राम उस बोझ से कराह उठते हैं और इस वेदना के चीत्कार में सीता के माथे का सिंदूर और दमक उठता है, सीता का वर्चस्व और प्रखर हो उठता है।
कुर्सी पर पड़े-पड़े यह सब सोचते-सोचते चार बजने को आए, इतने में दरवाज़े पर हल्की-सी दस्तक पड़ी, चिरंजीवी निचली मंजिल से ऊपर नहीं चढ़े, सहमी हुई कृष्णा (मेरी मेहमान लड़की) बोली—दरवाज़ा खोलिए। आँखों में इतनी कातरता कि कुछ कहते नहीं बना, सिर्फ़ इतना कहा कि तुम लोगों को इसका क्या अंदाज़ होगा कि हम कितने परेशान रहे हैं। भोजन-दूध धरा रह गया, किसी ने भी छुआ नहीं, मुँह ढाँपकर सोने का बहाना शुरू हुआ, मैं भी स्वस्ति की साँस लेकर बिस्तर पर पड़ा, पर अर्धचेतन अवस्था में फिर जहाँ खोया हुआ था, वहीं लौट गया। अपने लड़के घर लौट आए, बारिश से नहीं संगीत से भीगकर, मेरी दादी-नानी के गीतों के राम, लखन और सीता अभी भी वन-वन भीग

रहे हैं। तेज़ बारिश में पेड़ की छाया और दुखद हो जाती है, पेड़ की हर पत्ती से टप-टप बूँदें पड़ने लगती हैं, तने पर टिकें, तो उसकी हर नस-नस से आप्लावित होकर बारिश पीठ गलाने लगती है। जाने कब से मेरे राम भीग रहे हैं और बादल हैं कि मूसलाधार ढरकाए चले जा रहे हैं, इतने में मन में एक चोर धीरे-से फुसफुसाता है, है, राम तुम्हारे कब से हुए, तुम, जिसकी बुनाहट पहचान में नहीं आती, जिसके व्यक्तित्व के ताने-बाने तार-तार होकर अलग हो गए हैं, तुम्हारे कहे जाने वाले कोई भी हो सकते हैं कि वह तुम कह रहे हो, मेरे राम! और चोर की बात सच लगती है, मन कितना बँटा हुआ है, मनचाही और अनचाही दोनों तरह की हज़ार चीज़ों में। दूसरे कुछ पतियाएँ भी, पर अपने ही भीतर परतीति नहीं होती कि मैं किसी का हूँ या कोई मेरा है। पर दूसरी ओर यह भी सोचता हूँ कि क्या बार-बार विचित्र-से अनमनेपन में अकारण चिंता किसी के लिए होती है, वह चिंता क्या पराए के लिए होती है, वह क्या कुछ भी अपना नहीं है? फिर इस अनमनेपन में ही क्या राम अपनाने के लिए हाथ नहीं बढ़ाते आए हैं, क्या न-कुछ होना और न-कुछ बनाना ही अपनाने की उनकी बढ़ी हुई शर्त नहीं है?

तार टूट जाता है, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, यह भीतर से कहा पाऊँ? अपनी उदासी से ऐसा चिपकाव अपने सँकरे-से-दर्द से ऐसा रिश्ता, राम को अपना कहने के लिए केवल उनके लिए भरा हुआ हृदय कहाँ पाऊँ? मैं शब्दों के घने जंगलों में हिरा गया हूँ। जानता हूँ, इन्हीं जंगलों के आसपास किसी टेकड़ी पर राम की पर्णकुटी है, पर इन उलझाने वाले शब्दों के अलावा मेरे पास कोई राह नहीं। शायद सामने उपस्थित अपने ही मनोराज्य के युवराज, अपने बचे-खुचे स्नेह के पात्र, अपने भविष्यत् के संकट की चिंता में राम के निर्वासन का जो ध्यान आ जाता है, उनसे भी अधिक एक बिजली से जगमगाते शहर में एक पढ़ी-लिखी चंद दिनों की मेहमान लड़की के एक रात कुछ देर से लौटने पर अकारण चिंता हो जाती है, उसमें सीता का ख़्याल आ जाता है, वह राम के मुकुट या सीता के सिंदूर के भीगने की आशंका से जोड़े न जोड़े, आज की दरिद्र अर्थहीन, उदासी को कुछ ऐसा अर्थ नहीं दे देता, जिससे ज़िंदगी ऊब से कुछ उबर सके?

और इतने में पूरब से हल्की उजास आती है और शहर के इस शोर-भरे बियाबान में चक्की के स्वर के साथ चढ़ती-उतरती जँतसार गीति हल्की-सी सिहरन पैदा कर जाती है। 'मोरे राम के भीजै मुकुटवा' और अमचूर की तरह विश्वविद्यालयीय जीवन की नीरसता में सूखा मन कुछ ज़रूर ऊपरी सतह पर ही सही भीगता नहीं, तो कुछ नम तो हो ही जाता है, और महीनों की उमड़ी-घुमड़ी उदासी बरसने-बरसने को आ जाती है। बरस न पाए, यह अलग बात है (कुछ भीतर भाव हो, तब न बरसे), पर बरसने का यह भाव जिस ओर से आ रहा है, उधर राह होनी चाहिए। इतनी असंख्य कौसल्याओं के कंठ में बसी हुई जो एक अरूप ध्वनिमयी कौसल्या है, अपनी सृष्टि के संकट में उसके सतत उत्कर्ष के लिए आकुल, उस कौसल्या की ओर, उस मानवीय संवेदना की ओर ही कहीं राह है, घास के नीचे दबी हुई। पर उस घास की महिमा अपरंपार है, उसे तो आज वन्य पशुओं का राजकीय संरक्षित क्षेत्र बनाया जा रहा है, नीचे ढँकी हुई राह तो सैलानियों के घूमने के लिए, वन्य पशुओं के प्रदर्शन के लिए, फ़ोटो खींचने वालों

की चमकती छवि यात्राओं के लिए बहुत ही रमणीक स्थली बनाई जा रही है। उस राह पर तुलसी और उनके मानस के नाम पर बड़े-बड़े तमाशे होंगे, फुलझड़ियाँ दगेंगी, सैर-सपाटे होंगे, पर वह राह ढँकी ही रह जाएगी, केवल चक्की का स्वर, श्रम का स्वर ढलती रात में, भीगती रात में अनसोए वात्सल्य का स्वर राह तलाशता रहेगा—किस ओर राम मुड़े होंगे, बारिश से बचने के लिए? किस ओर? किस ओर? बता दो सखी।

स्रोत : मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, विद्यानिवास मिश्र; प्रकाशन : नेशनल पब्लिक हाउस 'दिल्ली'

10.5 निबंध का सार

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' ललित निबंध है। यह निबंध आत्मपरक है। यानी निबंध का मुख्य कथावाचक ख़ुद निबंधकार ही है। इसके अतिरिक्त निबंधकार की पत्नी, पुत्र और निबंधकार के अपने परिचित मेहमान जो दिल्ली के एक कॉलेज में अध्यापिका है।

निबंध का आरम्भ निबंधकार के पुत्र और आगंतुक अध्यापिका द्वारा एक रात्रिकालीन संगीत समारोह में जाने की अनुमति को लेकर होता है। उन्हें बताया गया है कि वे कार्यक्रम से जल्द ही लौट आयेंगे पर उन्हें आने में देर हो जाती है। वे आधी रात तक भी नहीं लौटते. इससे निबंधकार की पत्नी नाराज होती हैं और निबंधकार द्वारा समझाने पर जाकर सो जाती हैं। आधी रात में बारिश होने के बाद निबन्धकार की चिंता और बढ़ती है। निबंधकार का मन उद्विग्न हो जाता है। वे उद्विग्न चित्त में कई कल्पनाएँ करने लगते हैं। इसी समय उन्हें दादी और नानी द्वारा गाये जाने वाला लोकगीत का ख्याल आता है- "मोरे राम के भीजै मुकुटवा/ लछिमन के पटुकवा/ मोरी सीता के भीजै सेनुरवा/ त राम घर लौटहिं" इस गीत की करुणा और भारतीय मानस के चित्त में धँसा लोकमंगल राम का दृश्य लेखक को चिंतातुर और करुणा से सिक्त कर देता है। माता-पिता की अपने पुत्र के प्रति संलग्नता और चिंतातुर व्याकुलता का मार्मिक चित्रण इस भाव से अभिव्यक्त होता है। जैसे सीता और भाई लक्ष्मण के साथ राम के वन जाने से माता कौशल्या का व्याकुलता का साम्य निबंधकार के पुत्र और आगंतुक के बाहर जाने में अभिव्यक्ति पाता है। भारतीय जनमानस राम को राजा राम से कहीं अधिक पुत्र राम की तरह देखता आया है. यहाँ राम दैवीय चरित्र नहीं होकर जन मन की आकांक्षाओं के राम बन जाते हैं। भोजपुरी लोकगीतों की मार्मिक करुणा दैवीय विधान के साथ नहीं बल्कि अपने अपने राम के साथ जीवन की संलग्नता से उपजा हुआ है। संस्कृत के नाटककार भवभूति जिसे एक मात्र रस मानते हैं वह है करुणा। "एको एव करुण रसः" लोकगीत अंततः करुण रस में भी अपनी निष्पत्ति पाते हैं। भारतीय जनमानस राम, लक्ष्मण सीता को अपने बालकों की तरह ही मानता आया है। वे जीवन की प्रत्येक दैनंदिन घटनाओं का संबंध रामकथा की किसी घटना से जोड़ लेता है। यहाँ भी यही हुआ है। संगीत सभा से देर रात तक नहीं लौटने पर लेखक का मन जैसे लोकगीत में अभिव्यक्त कौशल्या के मन के

सदृश हो गया है या लोकगीत की रचयिता की उस सुकोमल संवेदना के साथ जिसकी संलग्नता रामकथा से एकमेक हो कर रची गई होगी। यहाँ राम जन जन के पुत्र हो गए हैं। लोकमन रामकथा के इस संलग्नता को अपने पुत्रों के विस्थापन के साथ जोड़ता है। अपने पुत्र के प्रति सभी माता-पिता की चिंता राम की माता कौशल्या की चिंता के समान है। और लोकगीत की निर्मिति अंततः यह कि राम घर लौट आयेंगे। यहाँ लोकमन का राम के साथ तादात्म्य ममता से पूरित मन का वैश्विक विस्तार लिए हुए है।

इसके पश्चात् विद्यानिवास मिश्र इस लोकगीत के प्रतीकों की व्याख्या में रम जाते हैं। वे राम के मुकुट, लक्ष्मण के पटका और सीता के सिंदूर के भीगने की व्याख्या करते हैं। निबंधकार के अनुसार मुकुट उदार मन और महद ऐश्वर्य का प्रतीक है जिसे भारतीय लोकमन प्रदान करता है। राम को भारतीय जनमानस तपस्वी भेष में कभी स्वीकार नहीं कर पाया उसके लिए राम सदैव ही आराध्य रहे। राम चाहे सगुण के हों निर्गुण के हों राम का प्रतीक भारतीय जनमानस के सर्वथा निकट रहा। राम के निर्वासन में आम जनता ने अपने निर्वासन के दुःख का संबल आरोपित कर लिया। यही कारण है कि वनवासी होने के बाद भी राम मुकुटधारी हैं। लक्ष्मण का पटका यानी कमरबंद भी प्रहरी की जागरूक चेतना का प्रतीक बन जाता है और सीता का सिंदूर तो राम के अक्षय सौभाग्य का, स्त्री के सौभाग्य का और इसी बहाने आम जन के सौभाग्य का प्रतीक है। सीता वनवास में फिर बाद में राम के परित्याग के बाद भी आरत सागर में रही फिर भी आम जन की श्रद्धेय सीता के सौभाग्य का प्रतीक सीता का सिंदूर है। सीता के निर्वासन के बाद भी सिंदूर के मांगलिक प्रतीक का अक्षुण्ण रहने की कामना आम स्त्री जीवन के दुःखों के आगर के बाद भी सौभाग्य लक्षण के उम्मीद की कामना है। यह मंगलकामना, अपनों के प्रति चिंता, आम जन की संलग्नता का विलक्षण रूपक है।

इस कथा के बहाने निबंधकार अपने चिंतन में सुबह के चार बजा देता है। निबंधकार के पुत्र और आगन्तुक कृष्णा का आगमन भी हो जाने के बाद विचार की यात्रा चलती रहती है। निबंधकार का मन वन के संकटों, कटककीर्ण मार्गों में ही समाधिस्थ रहता है। लोकमन से संबद्ध राम की स्मृतियों की ओर मुकुट, पटका और सिंदूर की ओर और उसे भीगने से बचाने की ओर मन लगा ही रहता है। बाहर बारिश थम चुकी है, सुबह हो गया है पर निबंधकार का मन अब भी भीग रहा है। कौशल्या अब भी व्याकुलता से राम की चिंता में संलग्न हैं। राम की वापसी की आकुल प्रतीक्षा, वृक्ष के सहारे भीगने से बचने की उम्मीद के साथ निबंध का समाहार होता है। और पाठकों के मन में एक आकुल प्रतीक्षा, राम की संलग्नता में अपनों के निर्वासन का दुःख उदात्त भावनाओं के साथ पाठकों के मन में सदा के लिए रह जाता है।

10.6 संदर्भ सहित व्याख्या

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' शीर्षक निबंध में कई जगहें मार्मिक और महत्वपूर्ण हैं। इनमें से एक व्याख्या यहाँ नमूने के तौर पर दिया जा रहा है। इसके आधार पर आप इस निबंध के अन्य मार्मिक अवकाशों की व्याख्या कर सकेंगे।

गद्यांश 1: "पर इस प्रक्रिया में एकाएक उसका दर्द उस ढलती रात में उभर आया और सोचने लगा, आने वाली पीढ़ी, पिछली पीढ़ी की ममता की पीड़ा नहीं समझ पाती और पिछली पीढ़ी अपनी संतान के संभावित संकट की कल्पना मात्र से उद्विग्न हो जाती है. मन में वह प्रतीति ही नहीं होती कि अब संतान समर्थ है, बड़ा से बड़ा संकट झेल लेगी।"

संदर्भ : यह गद्यांश मेरे राम का मुकुट भीग रहा है निबंध से लिया गया है, जिसके निबंधकार विद्यानिवास मिश्र हैं। विद्यानिवास मिश्र निबंधों की दुनिया में ललित निबंधकार के रूप में जाने जाते हैं। यह निबंध आत्मपरक है। निबंध में अपने पुत्र और आगंतुक कन्या के एक संगीत समारोह में जाने के बाद लौटने में देर होने के कारण निबंधकार के मन में विचार आने लगते हैं। जाहिर है यह विचार आसन्न संकट से संबंधित है। इसी विचार-क्रम में लेखक के मन में यह बात आती है।

व्याख्या : अपने पुत्र और आगंतुक कन्या कृष्णा के इन्तज़ार करते हुए लेखक को यह भान होता है कि पिछली पीढ़ी के मन में अपनी अगली पीढ़ी के प्रति चिंता और ममता होती है जिसे अगली पीढ़ी समझ नहीं पाती है और पिछली पीढ़ी भी अगली पीढ़ी के सामर्थ्य को लेकर सशंकित रहती है। लेखक इस निबंध में चिंता के पल में दो पीढ़ियों के प्रति संलग्नता को समझने की कोशिश करता है। लेखक से जब उसके आत्मीय थोड़े दूर होते हैं और संभावित समय पर वे उनके पास नहीं आते तो वे अनिष्ट की संभवनों में सशंकित होते हैं और विचारों के कई संजाल उसके मन में आते रहते हैं। इस गद्यांश में इस दृश्य के माध्यम से दो पीढ़ियों के अंतर, उनके विचारों के मतैक्य, भिन्नता, संलग्नता और सामर्थ्य के बारे में अभिव्यक्ति हुई है। जो बाद में लोकजीवन में रचे-बसे राम और कौशल्या के चिंता से एकाकार हो जाते हैं। इस गद्यांश का बीच शब्द ममता है। यह ममता ही है कि पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी के सामर्थ्य को नहीं समझ पाती और ममता के संरक्षण के कारण पुराने पीढ़ी की संलग्नता को नई पीढ़ी समझ नहीं पाती है।

विशेष :

- इस गद्यांश में दो पीढ़ियों के बीच के अंतर को विचार-प्रवाह के माध्यम से निबंधकार ने निरूपित करने की कोशिश की है। इसमें संलग्नता और सामर्थ्य के द्वंद्व के बीच ममता का निर्णायक हस्तक्षेप है। लेखक की मनःस्थिति अनिष्ट की संभावनाओं में आत्मसाक्षत्कार के क्षणों तक ले जाती है जहाँ दो पीढ़ियों के बीच की खाई को समझ के समन्वय से पाटा जा सकता है।

- गद्यांश की भाषा सरल, ग्राह्य एवं मर्मस्पर्शी है। तत्सम और तद्भव शब्दों के साथ साथ सुगठित वाक्य-विन्यास इसे प्रभावी बनाते हैं।
- उद्विग्न का अर्थ चिंता के क्षणों में बेचैन होने के अर्थ में है।

10.7 अंतर्वस्तु

प्रस्तुत अध्याय में आपने अब तक निबंध को सावधानीपूर्वक पढ़ लिया है साथ ही निबंध का सार एवं सप्रंग व्याख्या के तरीक़े को भी समझ लिया है। इसके साथ ही आप इस निबंध के निबंधकार डॉ. विद्यानिवास मिश्र के रचनात्मक अवदानों से भी परिचित हो चुके हैं। अब तक आप यह जान चुके हैं कि यह निबंध आत्मपरक होते हुए भी विचार-प्रधान है। विचार भले ही आत्मपरक चिंतन के रूप में इस निबंध में आयातित हुआ हो वह धीरे-धीरे इस निबंध में अपना रूप लेता है और लोकगीत के माध्यम से अपनी संवेदनाओं और निबंध की अंतर्वस्तु को उजागर करता है।

10.7.1 विचार पक्ष

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबंध की शुरुआत निबंधकार के जीवन की दिनचर्या के एक सामान्य घटना से होती है। एक शाम निबंधकार का पुत्र, उसके घर दिल्ली विश्वविद्यालय से आई अध्यापिका कृष्णा और लेखक के एक मित्र के साथ संगीत के कार्यक्रम में बतौर श्रोता जाने की अनुमति माँगते हैं। शीघ्र लौट आने के हिदायत के साथ उन्हें अनुमति मिल जाती है किंतु देर रात तक वे वापस नहीं लौटते और बारिश भी होने लगती है। ऐसे में लेखक और लेखक की पत्नी उद्विग्न होकर उनका इंतज़ार करते हैं। लेखक किसी तरह अपनी अपनी को समझा कर सुला देता है लेकिन ख़ुद विचार-प्रवाह के साथ जागता रहता है। किसी अनिष्ट की सम्भावनाओं का विचार करते हुए उसके मन में एक भोजपुरी लोकगीत का ख़्याल आता है।

"मोरे राम के भीजे मुकुटवा
लछिमन के पटुकवा
मोरी सीता के भीजै सेनुरवा
त राम घर लौटहिं।"

इस लोकगीत में माता कौशल्या की भावनाओं, उनके ममत्व को अभिव्यक्त किया गया है। वे वनवास पाये हुए अपने पुत्र राम, पुत्रवधू सीता और पुत्र लक्ष्मण के वन के दुःखो से द्रवित और चिंतातुर हैं। कौशल्या सोचती हैं कि वन में बारिश के कारण राम का मुकुट, लक्ष्मण का पटका यानी कमरबंद दुपट्टा और सीता का सिंदूर भीग रहा होगा, मेरे राम घर लौट आते। यहाँ लेखक अपने प्रियजन के बिछोह को इस लोकगीत के माध्यम से और तीक्ष्णता से समझ रहा है। इस लोकगीत में निहित दुःख और लेखक के दुःख का यहाँ साम्य हो गया है। कोई प्रियजन जब हमसे दूर होता है तो उसकी चिंता हमें लगी रहती है, उसके अमंगल के बारे में चिंतित होकर हमारा चित्त उखड़ा हुआ या उद्विग्न रहता है। यहाँ इस

लोकगीत के माध्यम से न केवल कौशल्या का दुःख या लेखक का दुःख या लोक-परंपरा में अभिव्यक्त वह दुःख जो इस लोकगीत में अभिव्यक्ति पाता है वह सामने आता है बल्कि वे तमाम दुःख जो विस्थापन और निर्वासन की पीड़ा से जन्मा है; वह सहज ही अभिव्यक्त हो जाता है।

यहाँ निबंधकार दो पीढ़ियों के बीच असंवाद और अंतर को बहुत मनोवैज्ञानिक एवं रोचक ढंग से उठाते हैं। एक तरफ़ पुत्र और आगन्तुक के दूर जाने से उपजा अनिष्ट का भय और ममता के उदात्त भाव के कारण अगली पीढ़ी के सामर्थ्य के प्रति संशय का भाव साथ ही नयी पीढ़ी द्वारा पुरानी पीढ़ी के इस ममत्व को नहीं समझते हुए उनकी चिंता को बेकार मानना इस भाव की अभिव्यक्ति 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' में हुई है।

इस चिंता में निमग्न विद्यानिवास मिश्र जब लोकगीत का उद्धरण देते हैं हैं तो लोकगीत के बहाने सिर्फ़ कौशल्या अथवा रामकथा की मार्मिक संवेदना का ही नहीं बल्कि उन सभी स्त्रियों-माताओं की संवेदना का साधारणीकरण हो जाता है जिनके पुत्र अपनी माताओं से दूर हैं। रामकथा में तो चौदह वर्ष बाद अपनी माता कौशल्या के पास आ जाते हैं किंतु लोकस्मृति के राम अब भी उसी कांतार में हैं। राम कथा की यह व्यापकता और जन मन के हृदय में पैठी हुई गहराई भारतीय जन मानस को आज भी अवलंब प्रदान करती है। राम संबल हैं। निराला अपनी कविता में लिखते हैं—

"अशरण-शरण राम,
काम के छवि-धाम।
ऋषि-मुनि-मनोहंस,
रवि-वंश-अवतंस,
कर्मरत निश्शंस,
पूरो मनस्काम।
जानकी-मनोरम,
नायक सुचारुतम,
प्राण के समुद्यम,
धर्म धारण श्याम।"

किंतु जिस राम को वनवास हुआ वह वल्कल धारी होने के बावजूद भी जन मन के करुण हृदय में मन के राजा हैं। यही कारण है कि उनका मुकुट आज भी भीग रहा है। लोकमानस आज भी राम को अपने हृदय का राजा बनाये हुए है यह राज तंत्र और राजनीति की बात है कि वह किसी को राजा बनाये या वनवास दे लेकिन जनता के मन में जो एक बार राजा हो गया वह किसी भी स्थिति में राजा है। राम वनवासी होने के बाद भी भारतीय जनता के हृदय के नायक हैं। धर्म धारण हैं, सारे मनस्काम को पूरा करने वाले हैं। यहाँ ऐश्वर्य के समामंतर उस निर्वासन की प्रतिष्ठा है जहाँ राम सामूहिकता के उदात्त और ऊर्ध्वमुखी चेतना के वाहक हैं। अगर श्रेष्ठ जीवन मूल्य की क़ीमत निर्वासन है तो निर्वासन के बाद भी

राम जन-हृदय के सम्बल हैं, आदर्श हैं, श्रेष्ठ हैं, पूजनीय हैं। वहीं लक्ष्मण साहचर्य, समर्पण और जागरूकता, राजनीतिक षड्यंत्रों के बरक्स नैतिक रूप से पक्षधर मूल्यों के संवाहक हैं। सीता का सिंदूर तो सतीत्व और त्याग का सर्वोच्च है ही। सीता का दुःख दुहरा है। उसे तो निर्वासन, लांक्षन, परित्याग, विछोह, गर्भावस्था में असहाय और बेसहारा छोड़ना दुःख का सर्वोच्च शिखर है। रामकथा के ईश्वरत्व के समाने दुःखों की यह मानवीयता मानवीय जुड़ाव का सबसे कारगर उपाय है। यही वह विधान है जिससे भारत्तीय जनमानस तुरंत ही कथा से अपनत्व का राब्ता कर लेता है।

एक निजी घटना से शुरू हुआ निबंध अंत तक आते आते लोकगीत की संवेदना और करुणा को एक नया अर्थ देता है और जनता के दुःख के साथ रस का साधारणीकरण कर पाता है। करुण रस का यह परिपाग आम जनता के दुःख-आगर के साथ एकाकार हो जाता है। कौशल्या के दुःख और राम के निर्वासन में आम जन अपने दुःखों का प्रतिबिम्ब पाने लगता है।

10.7.2 भाव पक्ष

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबंध अपनी भावुकता के कारण स्मरणीय बन जाता है। इस निबंध के भावुकता के पीछे ममत्व, चिंता, निर्वासन, दुःख और संलग्नता है। यह भावुकता रोमानी नहीं बल्कि यथार्थ के ज़मीन पर घटने वाली मानसिक दशा के परिपाग से पगी हुई है। निर्वासन हमारे युग का सत्य है। राम का निर्वासन राजनीति प्रदत्त है पर आम जनता का निर्वासन उसके जीने की मजबूरियों के कारण है। राम अगर देवता हैं, ईश्वरीय हैं और उन्हें दुःख मिल सकता है तो मनुष्य की गिनती कहाँ है। अतः यह संबल और भरोसे का सबसे प्रबल अस्त्र है। जैसे एक समय के बाद राम वापस आ जाते हैं वैसे ही वापसी की उम्मीद, अनिष्ट चिंतन में भी उम्मीद की एक धुंधली किरण लोकमानस के संलग्नता का सबसे बड़ा कीवर्ड है। लोकमानस की लोकगीतों में ऐसी संलग्नता कई बार भवभूति, वाल्मीकि और तुलसीदास से कहीं अधिक अपना और ग्राह्य है। करुणा का ऐसा प्रतिमान शायद किसी अन्य साहित्य में ऐसा नहीं है जैसा इस लोकगीत में अभिव्यक्त हुआ है। इस लोकगीत के बहाने कौशल्या की आकांक्षा लोक की आकांक्षा बन जाती है। इस गीत की निर्मिति में वनवास की कथा में निहित मानवीय भावनाओं के धवलतम पक्षों का प्रकटीकरण और उसके बहाने अपने पुत्रों की चिंता सबके पुत्रों की चिंता में तब्दील होना निबंध की भावपूर्ण उपलब्धि बन जाती है।

10.8 संरचना शिल्प

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबंध आत्मपरक और विचारों के संघनन के परिपाग से पगा ललित निबंध है। एक ओर इस निबंध में विद्यानिवास मिश्र का विचार प्रवाह और शास्त्रीय चिंतन है तो दूसरी ओर उनकी लोकोन्मुख विवेक और लोकवादी दृष्टि। इस निबंध में आत्मीयता, संवेदनशीलता, लोकवादी दृष्टि, भावोत्तेजना का परिपाग देखने को मिलता है। इस निबंध में भाषा की मार्मिकता और रवानी सरसता के साथ प्रस्तुत होती है जिसमें एक गहरी निजता के कारण यह आत्मीयता का संस्पर्श लिए पाठक को सहज हृदयग्राह्य हो जाता है।

10.8.1 भाषा

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' शीर्षक निबंध को लिखते हुए विद्यानिवास मिश्र ने आत्मपरक शैली का प्रयोग किया है। इसमें विचारों का संघनन और लोक की मार्मिकता का चित्रण प्रवाहपूर्ण और तरल शब्दावली के साथ अभिव्यक्ति पाता है। आत्मपरक होने के कारण भाषा में भी आत्मीयता का प्रदर्शन हुआ है। निजता और आत्मीयता के साथ लोक-दृष्टि के कारण जनपदीय बोलियों के तत्व और शास्त्रीयता के कारण तत्सम-प्रधान शब्दावली इस निबंध में प्रयुक्त हुआ है। इस निबंध में भाषा का आत्मीय वैभव काव्यात्मक शीर्ष को छूता है। इसे निबंध के एक दृष्टान्त से समझते हैं— "सोचते-सोचते लगा की इस देश की ही नहीं, पूरे विश्व की एक कौसल्या है; जो हर बारिश में विसूर रही है— 'मोरे राम के भीजे मुकुटवा' (मेरे राम का मुकुट भीग रहा होगा)। मेरी संतान, एश्वर्य की अधिकारिणी संतान वन में घूम रही है, उसका मुकुट, उसका ऐश्वर्य भीग रहा है, मेरे राम कब घर लौटेंगे; मेरे राम के सेवक का दुपट्टा भीग रहा है, पहरुए का कमरबंद भीग रहा है, उसका जागरण भीग रहा है, मेरे राम की सहचारिणी सीता का सिंदूर भीग रहा है, उसका अखंड सौभाग्य भीग रहा है, मैं कैसे धीरज धरूँ? मनुष्य की इस सनातन नियति से एकदम आतंकित हो उठा ऐश्वर्य और निर्वासन दोनों साथ-साथ चलते हैं। जिसे एश्वर्य सौंपा जाने को है, उसको निर्वासन पहले से बदा है। जिन लोगों के बीच रहता हूँ, वे सभी मंगल नाना के नाती हैं, वे 'मुद मंगल' में ही रहना चाहते हैं, मेरे जैसे आदमी को वे निराशावादी समझकर बिरादरी से बाहर ही रखते हैं, डर लगता रहता है कि कहीं उड़कर उन्हें भी दुख न लग जाए, पर मैं अशेष मंगलाकांक्षाओं के पीछे से झाँकती हुई दुर्निवार शंकाकुल आँखों में झाँकता हूँ, तो मंगल का सारा उत्साह फीका पड़ जाता है और बंदनवार, बंदनवार न दिखकर बटोरी हुई रस्सी की शक्ल में कुंडली मारे नागिन दिखती है, मंगल-घट औंधाई हुई अधफूटी गगरी दिखता है, उत्सव की रोशनी का तामझाम धुओं की गाँठों का अंबार दिखता है और मंगल-वाद्य डेरा उखाड़ने वाले अंतिम कारबरदार की उसाँस में बजकर एकबारगी बंद हो जाता है।" इस उद्धरण को देखें तो आप पाएंगे कि इस निबंध की भाषा तत्सम-प्रधान है किंतु आवश्यकता के अनुसार इसमें तद्भव, देशज, उर्दू और लोक के कई शब्द एवं बिंबों का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त वाक्य को प्रभावशाली बनाने के लिए हिंदी, संस्कृत, भोजपुरी-अवधी इत्यादि का उद्धरण भी दिया है। भाषा सरल और स्पष्ट होने के साथ साथ कहीं कहीं विचारों के संघनन के कारण कठिन वाक्यों का भी इस्तेमाल हुआ है। जैसे- "उत्कर्ष की ओर उन्मुख समष्टि का चैतन्य अपने ही घर से बाहर कर दिया गया, उत्कर्ष की मनुष्य की उर्ध्वोन्मुख चेतना की यहीं कीमत सनातन काल से अदा की जाती रही है।" कुछ शब्द बिम्ब जैसे 'मुटरी का फहरना' जैसे प्रयोग भी कठिन और अस्वाभाविक है।

10.8.2 शैली

ललित निबंध की शैली अपनाने के कारण 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' आत्मपरक है। एक निजीपन और अपनत्व निबंध की अंतर्वस्तु के साथ चला चलता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निबंधों

की तुलना में भावातिरेक और निजत्व विद्यानिवास मिश्र के निबंध में कहीं अधिक दिखायी पड़ता है। विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में विद्वत्ता के साथ साथ लोकनिष्ठता भी एक मूल्य की तरह निबंधों में अभिव्यक्ति पाता है जिसके कारण निबन्धों में कविता सा आस्वाद पाठक को मिलता है। विद्यानिवास मिश्र के निबंधों की भाव प्रबलता हृदय के तारों को झंकृत करने वाली होती है। इनका लालित्य और समन्वय शैली विशिष्ट है। इनके निबंधों में जैसा लोक और शास्त्र का समन्वय देखने को मिलता है वह इनके निबंधों को आत्मीय, सहज, हृदयग्राही और भावुक बना देती है।

10.9 प्रतिपाद्य

'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबंध का मूल प्रतिपाद्य वात्सल्य, दो पीढ़ियों के बीच संवाद और समझ के बीच की खाई, निर्वासन की पीड़ा, विस्थापन से उपजा दर्द और आत्मकेन्द्रीयता है। मनोभावों के बदलने और विचार प्रक्रिया में चिंतन के क्षणों में उठापटक, आत्म स्वीकरोक्ति और एक उम्र के बाद चीजों को समझने की दृष्टि का पल्लवन इस निबंध के केंद्र में है। कौशल्या का वात्सल्य भाव दुनिया की सभी माँओं का वात्सल्य बन जाता है। कौशल्या और सीता की चिंता दुनिया की सभी स्त्रियों की चिंता में तब्दील हो जाता है। ऐश्वर्य के आने से पहले का कष्ट जो राम को मिला वह सभी मनुष्यों के संघर्ष का रूपक बन जाता है। दुनिया का सभी दुःख ही सबको एकसूत्र में बाँध सकता है। वसुधैव कुटम्बकम् के स्वर का निदर्शन इस निबंध में दुःख की आंतरिक संवेदना के साथ प्रतीति पाने लगता है। राम सभी मांओं के पुत्र बन जाते हैं और लक्ष्मण की सजगता सभी भाइयों की सजगता बन जाती है। सीता इस मामले में विलक्षण हैं। उनका दुहरा निर्वसन स्त्री पीड़ा और संवेदना का सबसे प्रामाणिक दस्तावेज बन जाता है। राम का मुकुट जान स्वीकार्यता का जनता के मन मंदिर में प्रतिष्ठित हो जाने का, ऐश्वर्य से निर्वासन से ही जन-हृदय में प्रतिष्ठा का, जननायक होने के लिए जनता के बीच जाने का, उनके जैसे हो जाने का प्रतीक बन जाता है। यह निबंध अपने प्रतीकों में जन आकांक्षा, जनता के दुःखों से उपजे संवेदना और निर्वासन व विस्थापन के साथ साथ दो पीढ़ियों के बीच समझदारी की कथा अभिव्यक्त करने लगता है।

राम-वनवास जन-हृदय का संवेदित पक्ष बन जाता है और निबंध का शीर्षक निबंध की केन्द्रीयता के मूल भाव को प्रवाहित करते लगता है। निबंध की सारी चिंताओं के केंद्र में राम का मुकुट भीगना बन जाता है। यह शीर्षक निबंध को सार्थकता प्रदान करता है।

अभ्यास प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये-

1. निबंध में लेखक की चिंता के कारण को स्पष्ट कीजिए.
2. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है में लोकगीत का संदर्भ क्या है?
3. मोरे राम के भीजै मुकुटवा में निहित दर्द को लेखक उस रात ही क्यों समझ सका?
4. 'लागति अवध भयावह भारी' किस रचनाकार की पंक्तियाँ हैं?

5. आद्याशक्ति इस निबंध में किसे कहा गया है?
6. सीता को दूसरी बार बनवास क्यों दिया जाता है?
7. लक्ष्मण के दुपट्टे से किस भाव की रक्षा होती है?
8. इस निबंध में राम के किस रूप को प्रमुखता दी गई है?
9. इस निबंध में कौशल्या का भाव लेखक की किस भाव से जुड़ी हुई है?
10. इस निबंध में प्रयुक्त लोकगीत किस भाषा का गीत है?
11. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है निबंध किस शैली में है?

10.10 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप विद्यानिवास मिश्र के निबंध मेरे राम का मुकुट भीग रहा से परिचित हो गए हैं। यह एक ललित निबंध है जो आत्मपरक शैली में लिखा गया है। इस निबंध में लेखक ने राम-वनवास के माध्यम से ममत्व और वात्सल्य के भाव को उजागर किया है। साथ ही इसमें निर्वासन और विस्थापन की पीड़ा और दो पीढ़ियों के बीच असंवाद और समझ न पाने के दर्द की अभिव्यक्ति हुई है। इस निबंध में लेखक की निजता, आत्मीयता, भारतीय संस्कृति और साहित्य के अध्येता, लोकविद् होने का परिचय सहज ही मिल जाता है। इस निबंध की भाषा सरल, सहज और भावप्रवण है। जिसमें तत्सम, तद्भव, देशज भाषा का प्रयोग हुआ है। निबंध का केंद्रीय भाव मनुष्य की वात्सलता है और मनुष्यत्व की उत्कृष्टता एवं ऐश्वर्य के पीछे की पीड़ा और करुणा, निर्वासन की वैश्विकता का भी आभास मिला होगा।

10.11 शब्दावली

चिरंजीव : पुत्र; लंबी उम्र पाने वाला
उद्विग्न : परेशान, बेचैन
चिरई : चिड़िया के लिए भोजपुरी भाषा का शब्द
संकल्प बोलना : किसी मनचाहे काम के लिए मनौती मानना, निश्चित करना
जाँते : चक्की
मुटरी : छोटी गठरी
सत अवध समाना : सात अयोध्या के समान
कलि की कुटिल कुचाल : कलियुग की बुरी चाल
परिहार : त्याग
जलावतनी : अपने देश या वतन से निर्वासन
उपलक्षण : संकेत
सालना : पीड़ा देना

आसरा : सहारा देना
बिसूरना : अत्यधिक कष्ट के बावजूद बहुत धीरे रोना; कलपना; कष्ट से स्वर बाधित होने पर अस्फुट रुलाई
सहचारिणी : पत्नी
सनातन नियति : सदा से चला आया निश्चित भाग्य चक्र
दुर्निवार : जिसका निवारण करना कठिन हो
शंकाकुल : शंका से चिंतित
गगरी : छोटा घड़ा
कारबदार : उठाने वाला; सेवक
मसान : श्मशान
समष्टि : सामूहिक
अहर्निशि: : दिन-रात
शेषी नारायण : शेष शायी विष्णु
शेष : शेषनाग; लक्ष्मण को शेष का अवतार माना जाता है.
आद्याशक्ति : आदि शक्ति, सीता
विजन : निर्जन स्थान
अँजोर करना : प्रकाश करना
भवभूति : संस्कृत के प्रख्यात नाटककार
कातरता : विफलता
स्वस्ति : शुभ
आप्लावित : डूबा हुआ
पतियाना : विश्वास करना
परतीति : विश्वास
हिरा गया : खो गया
उजास : प्रकाश
वियाबान : जंगल
जतमार गीति : जंतसार गीत; एक भोजपुरी लोकगीत जिसे जांता यानी चक्की चलाते समय स्त्रियाँ गाती हैं; श्रम गीत

10.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. निबंधकार के पुत्र और आगन्तुक मेहमान के संगीत कार्यक्रम से नहीं लौटने के कारण
2. राम के वनवास के कारण कौशल्या की चिंता

3. कौशल्या की मानसिक स्थिति से साम्यता के कारण
4. तुलसीदास
5. सीता
6. सीता के चरित्र पर लाक्षन लगाने के कारण
7. सजगता
8. वनवासी राम
9. वात्सल्य
10. भोजपुरी
11. ललित निबंध की आत्मपरक शैली

10.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, विद्यानिवास मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
2. निबंध निलय, डॉ. सतेंद्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

10.14 सहायक पाठ्य सामग्री

1. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, विद्यानिवास मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
2. निबंध निलय, डॉ. सतेंद्र, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. साहित्य सहचर, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद
4. हिंदी निबंध और निबंधकार, डॉ. रामचन्द्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

10.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. मेरे राम का मुकुट भीग रहा है निबंध के किसी एक अंश का ससंदर्भ व्याख्या कीजिए।

2. विद्यानिवास मिश्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की चर्चा करते हुए उनके निबंध मेरे राम का मुकुट भीग रहा है का मूल प्रतिपाद्य स्पष्ट कीजिए।

11:00 यथार्थ जगत और साहित्य: पाठ और मूल्यांकन

इकाई की रुपरेखा

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 यथार्थ जगत और साहित्य: मूल पाठ
11.4 यथार्थ जगत और साहित्य: मुख्य उपपत्ति
11.5 यथार्थ जगत और साहित्य: मूल्यांकन
11.6 सारांश
11.7 शब्दावली
11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.10 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.11 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

यथार्थ जगत और साहित्य हिंदी के प्रतिष्ठित लेखक डॉ रामविलास शर्मा का प्रसिद्ध निबंध है| प्रस्तुत निबंध रामविलास शर्मा जी के प्रसिद्ध निबंध पुस्तक आस्था और सौंदर्य में संकलित है| यथार्थ जगत और साहित्य निबंध में रामविलास शर्मा ने साहित्य के यथार्थवादी दृष्टिकोण की खोज की है| साहित्य की उत्पत्ति के पीछे केवल भाव नहीं होते, अपितु विचार की एक लम्बी श्रृंखला भी चला करती है| प्रस्तुत निबंध में डॉ शर्मा ने साहित्य निर्माण के यथार्थवादी आधारों की खोज की है|

11.2 उद्देश्य

हिंदी निबंध नामक पुस्तक की यह 11 वीं इकाई है| इस निबंध को पढ़ने के प्रश्चात आप -

* साहित्य और यथार्थ जगत नामक निबंध के मूल पाठ से परिचित हो सकेंगे|
* रामविलास शर्मा की निबंध शैली से परिचित हो सकेंगे
* रामविलास शर्मा की यथार्थवादी दृष्टि को समझ सकेंगे|
* साहित्य और यथार्थ के संबंध को समझ सकेंगे

11.3 मूल पाठ- यथार्थ जगत और साहित्य

साहित्य और यथार्थ जगत के सम्बन्ध पर विचार करना इसलिए आवश्यक होता है कि यूरोप और अमरीका के अनेक साहित्यकार यथार्थ जगत के अस्तित्व या महत्व को अस्वीकार करके अपने मानस

से साहित्य-सृष्टि करने का दावा करते है। इसके लिए वे भाववादी दर्शन की विभिन्न विचारधाराओं का सहारा लेते हैं। इस सबका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पड़ रहा है और अनेक हिन्दी लेखक भारतेन्द लेकर प्रेमचन्द तक के साहित्य-विकास को बढाने के बदले उसे किसी-न-किसी रूप में अस्वीकार करते हैं और विदेश की उन भावधाराओं को ग्रहण करते हैं जिनमें लेखक के अहम की तुलना में समग्र संसार नगण्य ठहरता है।

प्लेटो, बर्कले. हेगल-यूरोप के इन भाववादी दार्शनिकों का प्रभाव वहाँ समाप्त नहीं हो गया। समाप्त होना तो दूर, आधुनिक भौतिकशास्त्र (फिजिक्स) की प्रगति से कुछ वैज्ञानिकों ने भी यह परिणाम निकाला है कि बाह्य जगत का अस्तित्व नहीं है। हाइजेनबर्ग और प्लांक के अनुसंधानों ने विज्ञान में सन्देहवाद या अज्ञेयवाद को प्रश्रय दिया। पहले पदार्थ और शक्ति (मैटर और एनर्जी) में अन्तर माना जाता था। अब पता चला कि पदार्थ की गति लहरों के रूप में होती है।

प्रत्येक लहर (वेवलेंथ) का सम्बन्ध शक्ति (एनर्जी) के एक निश्चित माप से रहता है। शक्ति के इस माप को क्वांटम कहते हैं। यह क्वांटम केवल लहर की अप (वेवलेंथ) पर निर्भर रहता है। क्वांटम के बारे में धारणा यह है कि वह प्रति सेकेंड रेडिएशन के स्पन्दनों के अनुपात में होता है।

सन्देहवाद के उत्पन्न होने का कारण यह है कि प्रकृति में कण और लहर की पुरानी धाराओं के बदले हमें ऐसे पदार्थ के दर्शन होते हैं जो कण और लहर, दोनों हैं। यदि कण की स्थिति का ही पता लगाना हो तो पुरानी पद्धति से पता लगा लिया जाए। किन्तु जब वह कण लहर भी है तब स्थिति का पता कैसे लगे?

साथ ही यथार्थ जगत में हस्तक्षेप किए बिना उसे जानना सम्भव नहीं होता और हस्तक्षेप करते ही उसकी यथार्थता दूषित हो जाती है। इस सम्बन्ध में मॉरिस कॉर्नफोर्थ आदि मार्क्सवादी विचारकों का कहना है कि पुरानी नाप-जोख की पद्धति से यह कठिनाई उत्पन्न होती है। इससे परिणाम यह नहीं निकलता कि हम यथार्थ जगत को जान नहीं सकते वरन् यह निकलता है कि उसे जानने की पुरानी पढ़त से यह कठिनाई उत्पन्न होती है। इससे परिणाम यह नहीं निकलता कि हम यथार्थ बदलना आवश्यक है। (देखिए, मासिस्ट क्वार्टरली, जुलाई, 1954 में आर्थर सी मॉरिस कॉर्नफोर्थ का लेख 'क्वांटम भौतिकशास्त्र की दार्शनिक समस्याएँ)

बर्टैंड रसेल जैसे दार्शनिक दर्शनशास्त्र का मुख्य कार्य तार्किक विश्लेषण समझते हैं। उनके लिए सारे भ्रमों की जड़ भाषा का असंगत प्रयोग है। इस भ्रम को दूर करने का परिणाम यह होता है कि संसार ही भ्रम सिद्ध हो जाता है। विद चेतना का करनेवाले अनेक दार्शनिक बाह्य जगत के अस्तित्व से इनकार करते हैं।

लोग बात करते हैं अस्तित्ववाद की लेकिन इनकार करते हैं बाह्य जगत के अस्तित्व से। अस्तित्ववाद को प्रभावित करनेवाले किर्कगार्ड का कहना था : " सत्य केवल आत्मगत होता है" (Truth is subjectivity) । इस प्रकार वस्तुगत सत्य हो अस्वीकार कर दिया गया। फिलिप मैरे जैसे अस्तित्ववादी नीत्शे को भी अस्तित्ववादी मानते हैं। "नीत्शे किर्कगार्ड के बारे में कुछ न जानता था

किन्तु व्यक्ति की चिना निर्णय और भावना पर बल देने के कारण वह अस्तित्ववादी था।" नीट के इस अस्तित्ववाद ने जर्मनी में युद्धकामी शक्तियों को प्रोत्साहन दिया जिससे दो बार विश्व युद्ध हुआ। विश्व युद्ध के मूल कारण आर्थिक और राजनीतिक थे। इन कारणों का ही एक परिणाम नीत्शे का व्यक्तिवाद था जिसने युद्ध-प्रचार में सहायता दी।

बीसवीं सदी में पूँजीवाद का विकृत दर्शन व्यक्तिवाद पर निर्भर है। साधारणत वह मानवप्रगति का विरोध करता है; विशेष परिस्थितियों में वह युद्ध-प्रचार में सहायक भी हो जाता है।

कैथोलिक और नास्तिक, दोनों प्रकार के अस्तित्ववादियों का सामान्य गुण बतलाते हुए सात्र ने लिखा है: "उनका विश्वास है कि तत्त्व के पहले अस्तित्व है; दूसरे शब्दों में हमें शुरुआत आत्मगत पक्ष से करनी चाहिए।" यह आत्मगत पक्ष क्या है? 'प्रत्येक मनुष्य एक सार्वजनीन धारणा, मानव-सम्बन्धी धारणा का विशेष उदाहरण है।' इससे यह न समझना चाहिए कि विशेष मानव की तुलना में सामान्य मानवता महत्त्वपूर्ण है। आशावादी विचारकों से अपनी भिन्नता विज्ञापित करते हुए सात्र ने लिखा है: "सत्य इसके सिवा और कुछ नहीं है कि मैं सोचत हूँ इसलिए हूँ। यह उस चेतना का निरपेक्ष सत्य है जो अपने को प्राप्त करती है। अपने को प्राप्त करने के इस क्षण के बाहर मनुष्य के सम्बन्ध में जो भी सिद्धान प्रतिपादित किया जाता है, वह सत्य का हनन करता है।" सार्ज के अनुसार, यह सिद्धान्त मानव-गौरव के अनुकूल है क्योंकि इससे मनुष्य पदार्थ नहीं बन जाता। "सभी तरह के भौतिकवाद विचारक को बाध्य करते हैं कि वह सभी मनुष्यों को-अपने को भी पदार्थ समझे अर्थात उसे पूर्वनिश्चित प्रतिक्रियाओं का परिणाम समझे जो मेज, कुर्सी या पत्थर के गुणसमूहों और संघटनों से भिन्न नहीं है।

नैतिक क्षेत्र में अच्छे-बुरे का निर्णय भी व्यक्ति ही करता है: जिस समाज का वह सदस्य है. उसे कुछ कहने का अधिकार नहीं है। "यदि मैं किसी काम को अच्छा प्रकार मनुष्य परम असामाजिक प्राणी ठहरता है। साहित्य में साधारणीकरण की समझता हूँ तो वह मैं ही हैं जो उसके अच्छे-बुरे होने का निर्णय करता हूँ।" इस मुंजाइश ही नहीं रहती। सार्च की इस व्यक्तिवादी विचारधारा का असर अज्ञेय, धर्मवीर भारती प्रभुति आत्मोपलब्धि में तल्लीन निरपेक्ष व्यक्तित्ववाले सज्जनों पर देखा जा सकता है।

सार्ज ने अपनी विचारधारा को सभी तरह के भौतिकवाद से भिन्न ठीक ही बतलाया है। अस्तित्ववाद पुराने भाववाद - चेतना को सत्य और संसार को मिथ्या समझनेवाली विचारधारा का ही एक रूप है। भाववाद के अनेक रूप अपना सबसे बड़ा शत्रु समझते हैं वैज्ञानिक भौतिकवाद को । भाववादियों के अनुसार वैज्ञानिक भौतिकवाद में आस्था रखनेवाले लोग मनुष्य में आस्था खो देते हैं। आस्था का प्रश्न हल करना है तो समाजनिरपेक्ष अहम में विश्वास करो। कला और साहित्य को उसी का विस्फोट मानो। कुछ अन्य मित्र जो संसार को मिथ्या नहीं कहते, वैज्ञानिक भौतिकवाद को दर्शन ही नहीं मानते। उनकी समझ में वैज्ञानिक भौतिकवाद जगत के स्वरूप की व्याख्या नहीं करता, न वह ज्ञान की समस्या हल करता है। प्रतीति में भ्रम भी तो होता है; फिर कैसे जानें, कौन-सी प्रतीति भ्रम है और कौन-सी वास्तविक

ज्ञान'? वैज्ञानिक भौतिकवाद व्यवहार पर बल देता है। इसे कुछ विद्वान शुद्ध चेतना का अपमान समझते हैं। ज्ञान का साक्ष्य चेतना के अन्दर ही होना चाहिए; बाहर हुआ तो फिर दार्शनिकता कहाँ रही!

वैज्ञानिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य प्रकृति की उपज है और विचार चेतना मानव-मस्तिष्क की उपज। मस्तिष्कहीन विचार और चेतना का अस्तित्व केवल कल्पना की वस्तु है। भौतिकता से परे चेतना का निवास नहीं है। जिस पदार्थ का गुण चेतना है, उसमें विद्युत-प्रहारों द्वारा हस्तक्षेप करके चेतना के अनेक अंगों को नष्ट किया जा सकता है। सिर में चोट लगने से स्मृति का नष्ट होना साधारण अनुभव-क्षेत्र की बात है।

चेतना मस्तिष्क में निहित पदार्थ का गुण है, प्रकृति के एक अंश का गुण है, इसलिए वास्तविक विचार केवल चिन्तन द्वारा अपने भीतर से उत्पन्न नहीं किए जा सकते। सही विचार के लिए मानव-चेतना और बाह्य जगत का सम्पर्क आवश्यक होता है। इस कारण ज्ञान का आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है। अपने व्यवहार से ही मनुष्य अपना ज्ञान समृद्ध करता है। ज्ञान से वह व्यवहार-क्षेत्र में आगे बढ़ता है। इस आगे बढ़ने के नये अनुभव से वह अपने ज्ञान को फिर से समृद्ध करता है। इस प्रकार व्यवहार-क्षेत्र के विकास के कारण मनुष्य का ज्ञान नित विकसित होता रहता है। वैज्ञानिक भौतिकवादी के लिए व्यवहार-क्षेत्र से संन्यास केवल आत्मचिन्तन से पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। "जो लोग समझते हैं कि आँख मूँदकर ध्यान या समाधि लगाने से भूत, भविष्य, वर्तमान- तीनों काल की बातें सझने लगती हैं. उन्हें इस पर ध्यान देना चाहिए।" ये शब्द रामचन्द्र शुक्र ने 'विश्व-प्रपंच' की एक पाद-टिप्पणी में लिखे थे। जिन मूल वाक्यों पर उन्हेंनि टिप्पणी लिखी थी. वे ये हैं अतः बिना इस प्रकार के बाह्य निरीक्षण के केवल आत्म-निरीक्षण द्वारा निश्चित मनोव्यापार-सम्बन्धिनी बातें पक्की नहीं समझी जा सकतीं। पर बाह्य निरीक्षण की पूर्णता के लिए शरीर-विज्ञान, अंगविच्छेद शास्त्र, शरीराण-विज्ञान, गर्भ-विज्ञान और जीव-विज्ञान इत्यादि का यथावत् ज्ञान होना चाहिए।" बाह्य निरीक्षण आवश्यक है। केवल आत्म-निरीक्षण द्वारा मनोव्यापार-सम्बन्धी- अर्थात चेतना सम्बन्धी बातें पक्की नहीं समझी जा सकतीं। आँख मुंदकर ध्यान लगाने और भूत, भविष्य, वर्तमान के ज्ञान का दावा करनेवालों के हाथ आत्म-प्रवंचना ही लगती है।

वैज्ञानिक भौतिकवाद व्यवहार, अनुभव और प्रयोग से परे इलहाम द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का दावा नहीं करता। जो दार्शनिक व्यवहार से दूर रहकर विशुद्ध चिन्तन से पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं या ऐसा ज्ञान प्राप्त करने का दावा करते वे अवश्य या तो स्वयं पैगंबर होंगे या किसी पैगंबर के सहारे उन्हें यह गुप्त ज्ञान प्राप्त हुआ होगा। उनके ज्ञान में उन्हीं की आस्था हो सकती है जो श्रद्धालु भक्त हैं; इलहाम की बातों को सन्देह से देखनेवाले, व्यवहार द्वारा ज्ञान-अज्ञान का भेद करनेवाले वैज्ञानिकों को उस पर विश्वास नहीं हो सकता। भाववादी दर्शन ज्ञान की पूर्ण व्यवस्था देने का दावा करते हैं। भौतिकवादी दर्शन पूर्ण होने का दावा नहीं कर सकता क्योंकि वह ज्ञान को विकासमान समझता है। विश्व है, पदार्थ का मूल रूप क्या है, जीव-अजीव का सम्बन्ध कैसा है?- इन प्रश्नों के बारे में भौतिकवादी दर्शन विज्ञान से ऊपर उठकर शुद्ध चिन्तन के बल पर, निर्णयात्मक उत्तर नहीं देता। विश्व के प्रति उसका दृष्टिकोण,

उसके तर्क और चिन्तन की पद्धति वैज्ञानिक अनुभवों पर निर्भर है और इसलिए वह वैज्ञानिक प्रगति में सहायक होती है। क्या

इंग्लैंड के बेकन और लॉक जैसे चिन्तकों ने अनुभव और व्यवहार को ज्ञान का आधार और उसकी कसौटी माना था। फ्रांस के भौतिकवादियों ने इस विचारधारा को विकसित किया था। वैज्ञानिक भौतिकवाद ने हेगल की द्वंद्वात्मक पद्धति और फ्रांस के भौतिकवाद से बहुत कुछ लिया। किन्तु उसने ज्ञान और व्यवहार का सम्बन्ध नये ढंग से जोड़ा। मार्क्स ने कहा कि दार्शनिकों ने अभी तक तरह-तरह से संसार की व्याख्या ही की है; लेकिन मुख्य बात है, उसे बदलने की।

वैज्ञानिक भौतिकवाद का जन्म संसार को समझने और उसे बदलने के लिए, मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए हुआ। इसका कारण यह था कि इतिहास में एक नई घटना घट चुकी थी। यह घटना थी मजदूर वर्ग का जन्म। यह वर्ग अपने जन्म से ही संसार को बदलने के स्वप्न देखने लगा था। मार्क्स ने उस स्वप्न को साकार करने की वैज्ञानिक पद्धति निकाली। व्यवहार और परिवर्तन पर इस प्रकार बल देने का यह अर्थ नहीं है कि वैज्ञानिक भौतिकवाद चिन्तन को, बौद्धिक क्रिया को नगण्य समझता है। नहीं, बुद्धि को व्यवहार-जगत से सम्बद्ध करके वह बौद्धिक क्रिया को सार्थक करता है। वैज्ञानिक जे.डी. बर्नाल के शब्दों में: "सावधानी से विश्लेषणः विभिन्न तथ्यों का बिलगावः कारणों का अनुसरण करते हुए परिणाम तक पहुँचनाः प्रयोग पर निर्भर होना- इन सब बातों को मार्क्सवाद ने अपना लिया है और इनसे उसे पुष्ट वैज्ञानिक आधार मिला है।" ('मॉडर्न क्वार्टरली', खंड-2, संख्या-3, 1948)

वैज्ञानिक भौतिकवाद की चिन्तन पद्धति अपनानेवाले लेखक तथ्य-कथन से सन्तुष्ट नहीं रह सकते। तथ्य-कथन मार्क्सवाद से पहले भौतिकवाद की विशेषता थी। मार्क्सवाद भौतिक जगत का दृढ़ आधार स्वीकार करते हुए मनुष्य की विचारधारा, उसके भाव-जगत, सामाजिक जीवन आदि का परस्पर सम्बन्ध बतलाता और उनका विश्लेषण करता है। भाववाद की तरह विश्व की एकता का सिद्धान्त वैज्ञानिक भौतिकवाद में भी है। यह एकता अध्यात्मवादियों की परोक्ष चेतना की एकता से भिन्न है। विश्व की एकता का आधार उसकी भौतिकता है, न कि "मैं सोचता हूँ, इसलिए हूँ"- यह अहंवादी चिन्तन। "हमारे अनुभव-क्षेत्र का विस्तार करने में विज्ञान ने दिखलाया है कि विराट के प्रत्येक स्तर, व्यवस्था या ऊहापोह के हर स्तर के अपने नियम होते हैं। हमारे सहज ज्ञान के नियम विश्व के एक छोटे-से भाग के ही नियम हैं यद्यपि यही भाग हमारे लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है या अब तक रहा है।" ('बर्नाल', उप.)

विराट विश्व के विभिन्न स्तरों को स्वीकार करके, विभिन्न स्तरों के नियमों की सापेक्षता स्वीकार करके वैज्ञानिक भौतिकवाद ज्ञान के प्रसार का मार्ग प्रशस्त करता है। एक स्तर के ज्ञान की सापेक्षता देखकर वह सन्देहवाद या अज्ञेयवाद के चक्कर में नहीं पड़ जाता।

आधुनिक युग में भाववाद और भौतिकवाद का संघर्ष तीव्र हो गया है। सन् 1920 में ही शुक्ल जी ने लिखा था कि पौराणिक गाथाएँ भाववादियों की रक्षा नहीं कर सकतीं। "अब जिन्हें मैदान में जाना हो, वे नाना विज्ञानों से तथ्य संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जाएँ जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं-एक ओर

आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी; एक ओर जड़वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी।" इन दो विचारधाराओं का सम्बन्ध पूँजीवाद और समाजवाद की दो भिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं से है, यह तथ्य स्पष्ट होता जा रहा है। वैज्ञानिक भौतिकवाद समाजवाद के लिए संघर्ष करती हुई जनता का पथ-निर्देशक दर्शन है। उसका दृष्टिकोण और पद्धति अपनाकर मनुष्य वैज्ञानिक प्रगति ही नहीं कर रहा है वरन् समाज को भी बदल रहा है। वास्तविक जडवादी वे हैं जो न समाज को बदलने का प्रयत्न करते हैं, न विज्ञान द्वारा विश्व के अनेक रहस्यों का उद्घाटन करने में प्रवृत्त होते हैं। उनके लिए परम सत्य मन, वचन, कर्म-सभी के परे है: 'मॅदह आँख कतहुँ कछु नाहीं!'

भाववादी और भौतिकवादी दर्शनों के परस्पर विरोध के समान विश्व-साहित्य में आज दो प्रवृत्तियों का परस्पर भेद और संघर्ष बढ़ रहा है। उनमें एक है यथार्थवाद की धारा, जो ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में भौतिकवादी दर्शन को अपनाती है; दूसरी एब्स्ट्रैक्ट आर्ट, कहीं सुर्रियलिज्म, कहीं प्रयोगवाद-जिसका सम्बन्ध प्रच्छन्न या है व्यक्तिवादी धारा जो नाना रूप और नाम धारण करके प्रकट होती है-कहीं प्रकट रूप में भाववाद से होता है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद का खंडन करते हुए शुक्ल जी ने एक यथार्थवाद-विरोधी प्रवृत्ति का ही खंडन किया था।

19वीं सदी के अन्त में फ्रांस ने जिस 'आधुनिक' कला को जन्म दिया, इसकी विशेषता थी : वस्तुहीनता। चित्र ऐसे बनाए जाएँ जिनमें रेखाएँ हों, कोण हों, रंग हों, प्रतीक हों, केवल वस्तु न हो। यदि वस्तु हुई, किसी बाह्य पदार्थ का चित्रण किया गया तो कल्पना की निरपेक्ष स्वाधीनता खंडित न हो गई! रूस में 1905 की क्रान्ति की विफलता के बाद कला और साहित्य के क्षेत्र में इस तरह की आधुनिकता खूब फली-फूली। 1917 की क्रान्ति के बाद भी अनेक लेखक इस आधुनिकता को अपनाकर सर्वहारा वर्ग के लिए ऐसी क्रान्तिकारी कला की सृष्टि करने लगे कि मजदूर उसकी ओर आँख भी न उठाते थे। फादयेव, फुर्मानोव, शोलोखोव आदि लेखकों ने गोर्की के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए सोवियत साहित्य को इस अराजकतावादी परिस्थिति से बाहर निकाला। यही 'आधुनिकता' फ्रांस, अमरीका, ब्रिटेन आदि देशों के साहित्य में अमरबेल की तरह फैली हुई है और उसके प्रयोगवादी पल्लव हिन्दी साहित्य में भी विकास कर रहे हैं।

आज विश्व-पूँजीवाद संकट और ह्रास की दशा में है। पूँजीवाद के समर्थक अब उसका नाम लेने में भी शरमाते हैं। इसलिए उसे नये-नये नामों से अलंकृत करके वे अपना वास्तविक रूप छिपाते हैं। इस पूँजीवादी व्यवस्था में- मुनाफे, बेकारी, शोषण, उपनिवेशवाद, हथियारबन्दी और युद्धों की व्यवस्था में-व्यक्ति की स्वाधीनता का सच्चा रूप देखनेवाले सज्जन यथार्थ का सामना करने का साहस नहीं करते। साहस करें तो 'फ्री वर्ल्ड' की सभी न्यामतें आँखों के सामने आकर सही तसवीर पेश कर दें। इसलिए यथार्थ जगत से मुँह मोड़ो! अन्तर्जगत से रेखाएँ और त्रिकोण बनाओ, खंडित गद्य के टुकड़ों में अर्थ की लय भरो, अहं के विस्फोट से कुंठा, निराशा और घुटन का धुआँ निकालो। इस आधुनिकता के हामी व्यक्तित्व की तलाश में निकलते हैं। किन्तु इनकी दस कविताओं को एक

महत्त्वपूर्ण विषयवस्तु के अभाव में उस पर रचयिता के महान व्यक्तित्व की छाप साथ पढ़िए तो पता न चलेगा कि वे एक की लिखी हैं या दस की! रचना में भी नहीं रहती। इसके विपरीत प्रेमचन्द, लू शुन, गोर्की, शोलोखोव आदि लेखक यथार्थवादी साहित्य की ऐसी विभूतियाँ हैं जिनके व्यक्तित्व का प्रकाश दूर से ही दिखाई देता है।

आधुनिकतावादी उपन्यासों के नायक वैज्ञानिक से अधिक मनोवैज्ञानिक होते हैं. वे कर्म-जगत से संन्यास लेकर कल्पना-जगत में चिन्तन को ही अपना मुख्य कर्म समझते हैं। पूँजीवादी समाज की नैतिकता में आस्था रखनेवाले भद्र जन वैसे ही श्रम से घृणा करते हैं। इसलिए उनकी संस्कृति श्रम का बहिष्कार करती है। श्रम करना बहिष्कृत मजदरों का काम है। उनकी सेवा के बल पर विशुद्ध चिन्तन द्वारा निष्क्रिय 'हीरो' की रचना करना इन कलाकारों का काम है! जब 'हीरो' ही निष्क्रिय होगा, तब सामाजिक संघर्ष के चित्रण का सवाल कहाँ से उठेगा? आपने सामाजिक संघर्ष का चित्रण किया तो सतही साहित्य रचा, यथार्थ के बाह्य रूपों में ही फैसकर रह गए, व्यक्ति के मनोजगत की गहराइयों में पैठे ही नहीं, इत्यादि। इसलिए सामाजिक संघर्ष से पराङ्मुख परम सत्य की मनोवैज्ञानिक पैठ देखना हो तो पढ़िए 'नदी के द्वीप' या 'डाक्टर ज़िवागो!'

यथार्थवाद के बारे में तरह-तरह की भ्रान्तियाँ हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका ' के अनुसार यथार्थवादी लेखक वह है जो सुन्दर वस्तुओं पर लिखना पसन्द नहीं करता वरन् उनके बदले गन्दी-घिनौनी चीजों का ही वर्णन करता है, वह टाइप के बदले व्यक्तियों का चित्रण करता है और यथातथ्य चित्रण में विश्वास करता है।

पूँजीवादी समाज में गन्दगी की कमी नहीं है। कुछ लोगों ने उसका चित्रण किया है और इससे यह परिणाम निकाला गया कि यथार्थवाद का उद्देश्य गन्दगी का चित्रण करना ही है। पूँजीवादी समाज की तीव्र आलोचना करनेवाले डिकेंस जैसे लेखकों ने मानव-गुणों का भी चित्रण किया है, मानव-क्षमता में आस्था दृढ़ की है। हिन्दी में कुछ वर्ष पूर्व यौन सम्बन्धों के नग्न वर्णन को यथार्थवाद की संज्ञा दी जाती थी किन्तु अस्वस्थ काम-चेतना का चित्रण यथार्थ के एक ही पहलू का चित्रण है। इसके अलावा वह जिस पतनशील दृष्टिकोण से किया जाता है, उससे विकृति से संघर्ष करने के बदले पाठक के मन में आसक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे अश्लील चित्रण को यथार्थवादी चित्रण नहीं कहा जा सकता।

शिपले द्वारा सम्पादित 'विश्व-साहित्यकोश' में यथार्थवादी लेखक उसे कहा गया है जो वस्तुगत, 'फोटोग्रैफिक' कलाहीन चित्रण करता है और रचना में अपनी भावना या विचारों को नहीं आने देता। यथार्थवादी साहित्य की विशेषताओं में एक यह भी बताई गई है कि उसमें स्थानों और व्यक्तियों का विस्तृत विवरण दिया जाता है, भले ही वे मुख्य विषयवस्तु की दृष्टि से कितने ही तुच्छ क्यों न हों!

इस तरह के साहित्य को यथार्थवादी के बदले प्रकृतिवादी या यथातथ्यवादी फोटोग्राफी करने वाला कहना अधिक उचित होगा। भी व्यक्ति ही होता है और उसका कार्य भी पूर्ण रूप से वस्तुगत नहीं होता। यथार्थ के चित्रण में विषयवस्तु का निर्वाचन, कुछ तत्त्वों का चित्रण, कुछ की उपेक्षा- यह साहित्य का मूल नियम है। फ्रांस के वे कथाकार जो अपने को प्रकृतवादी कहते थे या जो इस नाम से विख्यात हुए,

समाज का तटस्थ होकर चित्रण करनेवाले प्राणी न थे। इसके विपरीत फ्रांस में प्रकृतवाद उस समय साहित्य की एक क्रान्तिकारी धारा थी जो निहित स्वार्थों का विरोध करती थी। अपने निम्न रूप में यह धारा तथ्य-कथन, अनावश्यक विवरण, गन्दगी के चित्रण तक अपने को सीमित रखती थी। किन्तु अपने उदात्त रूप में वह समाज की तीव्र आलोचना करनेवाले यथार्थवाद का रूप ले लेती थी।

यथार्थवाद के बारे में बहुत-सी आपत्तियाँ उन लोगों की होती हैं जिनका दृष्टिकोण पुराने तर्कशास्त्र पर निर्भर होता है, जो भौतिक या मानसिक व्यापारों का परस्पर सम्बन्ध नहीं देखते, जो किसी प्रक्रिया का अध्ययन करते समय उसके एक ही पक्ष को देखते हैं, उसके विरोधी लगनेवाले पक्ष को छोड़ देते हैं। इस तरह एकांगी विश्लेषण कभी-कभी उन लोगों के यहाँ भी मिलता है जो द्वंद्वात्मक पद्धति अपनाते हैं। इसमें दोष उस पद्धति का नहीं है, दोष उनके विश्लेषण का है। वे प्रश्न करते हैं : व्यक्ति और समाज- इनमें किसका चित्रण करें? वास्तव में यह प्रश्न ही गलत है। समाज से बाहर व्यक्ति का अस्तित्व नहीं है और व्यक्ति का चित्रण किए बिना समाज का चित्रण करना असम्भव है। कभी रूस के कुछ अराजकतावादी लेखकों ने व्यक्ति को छोड़कर जनसमूह का चित्रण करने की कोशिश की थी लेकिन शीघ्र ही यह प्रवृत्ति खत्म हो गई। व्यक्ति का चित्रण यथार्थवाद के विरोधी भी करते हैं। वे उसे सामाजिक संघर्ष, समाज के वर्ग-सम्बन्धों से दूर रखकर देखते हैं। वे चेतना की गहराइयों का चित्रण करने के नाम पर उसकी मानसिक विकृतियों का चित्रण करते हैं और इन विकृतियों का कारण समाज में न देखकर उसके निरपेक्ष मानस में ढूँढ़ते हैं। उनकी कला-विशेष रूप से असम्बद्ध मूर्तिविधान वाली कविता और रेखाओं और त्रिकोणों वाली चित्रकला-वास्तविक जगत के तारतम्य को चित्रित न करके मनगढ़ंत प्रतीकों में ऐसा सम्बन्ध स्थापित करती है जो बस, रचयिता महोदय या उनके कुछ मित्रों को ही मालूम रहता है। इसके विपरीत यथार्थवादी कला में व्यक्ति सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में चित्रित किया जाता है : वह समाज-निरपेक्ष इकाई न होकर एक साथ ही व्यक्ति और टाइप, दोनों होता है, जैसे होरी पिछड़े किसान का टाइप है, साथ ही अपनी व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण जीता-जागता व्यक्ति भी है, यांत्रिक प्रतीक नहीं। और यह बिलकुल आवश्यक नहीं है कि सामाजिक संघर्ष का चित्रण करते हुए हम व्यक्ति में भावजगत, उसके मानसिक संघर्ष का चित्रण न करें। वास्तव में प्रत्येक यथार्थवादी साहित्यकार दोनों का ही चित्रण करता है।

यथार्थ चित्रण और कल्पना- इन दोनों में भी परस्पर विरोध नहीं है। मनुष्य आज जो कुछ है, वह अपने समस्त पूर्व विकास का परिणाम है। इसमें उसका प्राग्मानवीय प्राणिरूप में विकास भी शामिल है। उसका इन्द्रियबोध, उसकी कल्पना- सभी यथार्थवाद के अन्तर्गत आते हैं। यथार्थवादी लेखक कल्पना द्वारा टाइप रचता है. अपने अनुभव की सामग्री से काम की चीजें चुनता और सजाता है और उनमें ऐसी कल्पित घटनाएँ, पात्र आदि जोडता है जो ऐतिहासिक रूप से सत्य न होकर भी यथार्थ के अनुरूप होते हैं। इसके विपरीत पलायनवादियों की कल्पना संसार से भागने और सुनहले स्वप्न देखने-या कल्पित पीड़ा के कारण आँसू बहाने में चरितार्थ होती है।

आदर्श और यथार्थ - इनमें भी अनिवार्य विरोध नहीं है। यथार्थ चित्रण वास्तविक जगत के हमारे ज्ञान पर निर्भर होता है। यदि यह जगत गतिशील है और हम उस गति की दिशा का ज्ञान है या हम उस दिशा के महत्त्व को समझते हैं जिसकी ओर हम उसे अग्रसर करना चाहते हैं, तो यह आदर्श हमारे यथार्थवाद में निहित होगा। भारतेन्दु से लेकर प्रेमचन्द तक का हिन्दी साहित्य स्वाधीनता और समाज-सुधार के आदर्श से अनुप्राणित रहा है क्योंकि वास्तविक जगत की प्रतीति में पराधीनता की अनुभूति शामिल थी और इस प्रतीति के फलस्वरूप स्वाधीनता के आदर्श को प्राप्त करने की भावना भी विद्यमान थी। इसी कारण इस साहित्य में जड़ मानवता नहीं, एक आदर्श की ओर गतिशील मानवता के आदर्श होते हैं। गोर्की से लेकर शोलोखोव तक के रूसी साहित्य में उस मानवता का चित्रण है जिसने गृहयुद्ध में साम्राज्यवादियों के हस्तक्षेप का मुकाबला किया, गृहयुद्ध से ध्वस्त एक पिछड़े हुए देश में समाजवाद की रचना की; फासिस्ट आक्रमण को विफल करके, फिर अपने देश का निर्माण किया और जो विकास की गति के सभी मापदंड पीछे छोड़कर आज साम्यवादी व्यवस्था के निर्माण में लगी हुई है। यह सोवियत संघ का सारा साहित्य-कुछ अपवादों को छोड़कर - समाजवादी निर्माण के आदर्श से अनुप्राणित रहा है। उसकी 'एकरसता', 'उथलेपन', लेखक के 'रेजीमेंटेशन' का यही रहस्य है।

इसी कारण भारत में समाजवादी व्यवस्था न होने पर भी लेखक की 'स्वाधीनता' को लेकर चीख-पुकार शुरू हो गई है। लेखक के सामाजिक उत्तरदायित्व की बात चलते ही कुछ मित्र स्वाधीनता-हरण का राग अलापने लगते हैं मानो भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, पंत, मैथिलीशरण गुप्त आदि लेखक सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना से अछूते रहे हों! इन सभी की उत्तरदायित्व-सम्बन्धी भावना एक नहीं रही लेकिन समाज-निरपेक्ष व्यक्ति की कला-सृष्टि में भी उनका विश्वास नहीं रहा।

इस सम्बन्ध में श्री नन्ददलारे वाजपेयी ने लिखा है : "हम देखते हैं कि स्वातंत्र्य की नई पुकार साहित्य की सीमा में कछ ऐसे तथ्यों को रखने के लिए की जा रही है जो अतिशय असामाजिक होने के कारण बहुजन समाज में स्वीकृत नहीं हैं। स्वीकृत न होने पर भी यदि वे तथ्य उपयोगी या आवश्यक प्रमाणित किए जा सकें तो भी एक बात है। परन्तु जिस दिशा से यह स्वातंत्र्य की आवाज उठी है. वहाँ आवश्यकता और उपयोग जैसे तथ्यों का प्रश्न नहीं उठता। वहाँ तो जो कुछ चाहें, उसे कहने और लिखने के स्वातंत्र्य की ही माँग है। प्रत्येक स्वातंत्र्य के साथ उतनी ही मात्रा में दायित्व की भावना रहा करती है। पर यह नया स्वातंत्र्य दायित्व की भावना से नितान्त अछूता है।" (डॉ. सर हरिसिंह गौर स्मारक ग्रंथ में 'समाज और साहित्य' शीर्षक निबन्ध)

वाजपेयी जी ने इन 'स्वाधीनता-प्रेमी' लेखकों की असामाजिकता का उल्लेख करके उनकी अनुत्तरदायी चीख-पुकार की ओर सही संकेत किया है। इनकी स्वाधीनता उस स्वाधीनता से बहुत दूर है जिसके लिए भारतीय जनता ने संघर्ष किया है। न यह स्वाधीनता गरीबी और शोषण से मुक्त होने की कामना को पास फटकने देती है, यद्यपि यह कामना अधिकांश भारतीय जनता के हृदय में है। इस सम्प्रदाय के

लेखकों की मुक्ति जनता की भावनाओं से, सामाजिक उत्तरदायित्व से मुक्त होने में है, भले ही फिर अमरीका-पोषित 'कांग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम' का झंडा उठाने का दायित्व ही सँभालना पड़े।

जो लेखक समाज को गतिशील मानता है, समाज की गति के लक्ष्य को पहचानता है, जो उसके क्रान्तिकारी और अग्रगामी तत्त्वों से सहानुभूति रखता है, वह यथार्थवादी चित्रण में इस गति, दिशा और लक्ष्य का उल्लेख अवश्य करेगा, वह विभिन्न वर्गों, व्यक्तियों आदि का ऐतिहासिक महत्त्व आँकते हुए प्रगति के सन्दर्भ में ही उनका चित्रण करेगा। इसलिए उसका चित्रण केवल तथ्य-कथन होगा-यह सोचना भ्रम है।

लेकिन यथार्थ चित्रण की आवश्यकता ही क्या है? चित्रण चाहे यथार्थ जगत क्री हो, चाहे काल्पनिक जगत का, चाहे दोनों का मिलाकर हो, मुख्य बात तो यह है कि उसमें भाव होने चाहिए, उससे रस-निष्पत्ति होनी चाहिए, उससे आनन्द मिलना चाहिए। यथार्थ और काल्पनिक का विवाद छेड़ा ही क्यों जाए?

मनुष्य का रसबोध भी परिवर्तनशील है यद्यपि यह परिवर्तन आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों के समान शीघ्र नहीं होता, न उनकी तरह ऊपर से देखने से स्पष्ट हो जाता है। पौराणिक गाथाओं को लीजिए। एक समय यूनान, भारत तथा अन्य देशों में असाधारण चमत्कारों से पूर्ण इन गाथाओं की धूम थी। फिर क्रमशः साहित्यकार इन्हें अपनी विषयवस्तु के लिए अस्वीकार करने लगे। गद्य से उनका प्रायः बहिष्कार हो गया, पद्य में पहले की अपेक्षा उनका स्थान संकुचित हो गया। पहले पौराणिक गाथाओं से इतना मोह क्यों था? यह मोह मनुष्य के ज्ञान पर निर्भर था। विश्व की प्रतीति में यथार्थ परिचय के साथ काल्पनिक चमत्कारों का सम्मिश्रण अधिक था। "इतिहास से प्रकट है कि आदि में सब देशों के बीच प्रकृति की भिन्न-भिन्न शक्तियों और विभूतियों या उनके भिन्न-भिन्न अधीश्वरों की भावना हई और बहदेवोपासना प्रचलित हई।" ('विश्वप्रपंच की भूमिका' जब मनुष्य का ज्ञान इस पौराणिकता से आगे बढ़ा तो उसे पहले के चमत्कारों में सरसता की कमी अनुभव होने लगी और उसने अपनी नवीन विश्व-प्रतीति के आधार पर रसबोध विकसित किया।

राजाओं, नवाबों, सामन्तों के दरबारों के कवियों ने सौन्दर्यबोध का एक रास्ता अपनाया, संतों ने दूसरा। दरबारी कवियों ने अपनी विषयवस्तु बहुत कुछ संस्कृत से उधार ली। भाषा और छन्द को सँवारने में बड़ा परिश्रम किया। भावना की गहराई के बदले उन्होंने बौद्धिक चमत्कार अधिक दिखाया। इसी कारण आगे चलकर समस्या-पूर्ति और नायिका-भेद की परम्परा का विरोध हुआ। संत जनजीवन के निकट थे; उन्होंने जनता के मनोभावों का अधिक गहराई से चित्रण किया। साथ ही उनमें वैराग्य की भावना भी मिलती है जो हमें अब अच्छी नहीं लगती। इस तरह की और बहुत-सी मिसालें दी जा सकती हैं। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य का रसबोध, उसका भावजगत उसकी विश्व-प्रतीति से सम्बद्ध होता है और सामाजिक जीवन परिवर्तित होने के साथ उसकी रसवृत्ति और भावनाओं में भी धीरे-धीरे परिवर्तन होता है।

वास्तविक जगत से सामाजिक जीवन और सामयिक संघर्षों से दूर रहना साहित्य में ह्रास का लक्षण है। इस तरह का ह्रास दरबारी काव्य-परम्परा के अनेक अनुप्रास-प्रेमियों और रूढ़िवादी पद्यकारों में देखा जा सकता है। इसी तरह ईरानी कविता के घिसे-पिटे प्रतीक लेकर बहुत-से उर्दू कवियों ने अपनी नकली दुनिया रची थी। इस तरह के कृत्रिम भावजगत में रहनेवाले प्राणियों का मनोबल क्षीण हो जाता है। वे न समाज की दशा सुधार सकते हैं, न देश की स्वाधीनता की रक्षा कर सकते हैं। यह सब हम अपने अनुभव से देख चुके हैं। इसी प्रकार आजकल के प्रयोगवादियों ने अपनी एक कृत्रिम दुनिया बना रखी है और स्वाधीनता के नाम पर यथार्थ जीवन, समाज की महत्त्वपूर्ण समस्याओं से आँखें चुराते हैं। देश के विकास की नाजुक घड़ी में उनका कर्तव्य रह गया है- नवयुवकों को उलझाना और उनका मनोबल क्षीण करना। पिछले साठ-सत्तर वर्षों में हमारे साहित्य की परिधि विस्तृत हुई है। उसमें नये-नये विषयों का समावेश हुआ है, व्यंजना की नई पद्धतियों और शैलियों का चलन हुआ है। उसने जीवन के अनेक नये पक्षों का चित्रण किया है जो पहले के साहित्य में सम्भव न था। अपने सामाजिक विकास-क्रम में परिस्थितियों के साथ मनुष्य स्वयं भी बहुत कुछ बदलता है। इस कारण साहित्य में भी परिवर्तन होते हैं। किन्तु साहित्य की नई मंजिल तक मनुष्य अपने समूचे पिछले विकास को समेटकर पहुँचता है।

विकास और परम्परा-इन दोनों का सम्बन्ध विच्छिन्न और अविच्छिन्न, दोनों प्रकार का है। एक ओर तो पौराणिक चमत्कार, कृत्रिम भावजगत, भाषा के साथ खेल-यह सब छोड़कर हम प्रतीति, चिन्तन, भावना और अभिव्यंजना के नये तरीके अपनाते हैं; दूसरी ओर हम अनुभव करते हैं कि पौराणिक गाथाओं में अयथार्थ कल्पना के बावजूद कवियों ने अप्रत्यक्ष रूप से अपने समकालीन मानव जीवन का चित्रण किया है। देवताओं अथवा अवतारी पुरुषों के रूप में उन्होंने बहुत कुछ अनजान में अपने समाज का चित्र प्रस्तुत कर दिया है। ज्ञान का स्तर बदलने पर भी पुराने कवियों का इन्द्रियबोध-रूप, रस, गंध आदि गुणोंवाले जगत की अनुभूति-प्रकृति को देखकर उनका विस्मय, उत्सुकता, प्रेम आदि भाव उनके अनेक उदात्त मानवीय गुण और विचार- ये सब ज्ञान का स्तर बदलने के बाद भी हमारे लिए मूल्यवान रहते हैं। इस प्रकार परम्परा के अनेक तत्त्वों से हमारा नाता कभी नहीं टूटता और टूटता है तो लाभ से अधिक हानि ही होती है।

यथार्थवाद को सीमित अर्थ में लेना अनुचित है। उसमें सामाजिक समस्याओं के चित्रण के अलावा प्रकृति-चित्रण भी हो सकता है; संघर्ष के चित्रण के अलावा प्रेम के मुक्तक भी लिखे जा सकते हैं। मनुष्य के सौन्दर्यबोध में जो परिवर्तन होते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप में यथार्थ चित्रण से असम्बद्ध होते हुए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते। उदाहरण के लिए निराला जी के काव्य में शब्दों की नई शक्ति, प्रतीकों की नई गरिमा, भावाभिव्यंजन में नये उदात्त तत्त्वों के दर्शन होते हैं। इस नये सौन्दर्यबोध के कारण 'जुही की कली' या 'जागो फिर एक बार', 'भारत-भारती' से कम नहीं, अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसी प्रकार कीट्स की सघन इन्द्रियबोधवाली रचनाएँ और शैली के दुखभरे प्रेम सम्बन्धी गीत स्टील और एडीसन के निबन्धों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्य का विकास दो परस्पर सम्बद्ध स्तरों पर होता है। एक है विश्व-

प्रतीति का स्तर, सामाजिक जीवन के हमारे ज्ञान का स्तर, और दूसरा है, भावजगत, इन्द्रियवोध, हमारे सौन्दर्यबोध का स्तर। इनमें सन्तुलन कायम रखना आवश्यक होता है। इस सन्तुलन को भुलाकर न तो उच्चकोटि का साहित्य रचा जा सकता है, न यथार्थवाद का सही विवेचन किया जा सकता है।

यहीं साहित्य तथा वर्गों और राजनीति के सम्बन्ध का प्रश्न भी उठता है। वर्गों का अपना राजनीतिक दृष्टिकोण होता है, करुणा और श्रृंगार आदि के क्षेत्र में भी उनके बहुत कुछ अपने भाव होते हैं, कभी-कभी रूप-रस-गन्ध के क्षेत्र में भी स्वस्थ और अस्वस्थ रस-वृत्तियों का भेद देखा जाता है। फिर भी साहित्य के उन तत्त्वों को परखना आवश्यक होगा जहाँ यह भेद अधिक है अथवा जहाँ यह भेद कम है या नहीं के बराबर है। विचारों के क्षेत्र में यह भेद सबसे अधिक होता है; भावों में उससे कम : इन्द्रियबोध में जिसमें चित्र-सौन्दर्य, छन्द-संगीत आदि भी शामिल हैं- यह अन्तर प्रायः नहीं रह जाता। इसी कारण ताजमहल शाहजहाँ से लेकर खुश्चेव तक को सुन्दर लगा है। इसी तरह साहित्य और राजनीति का सम्बन्ध है। न तो यह कहना सही है कि साहित्य राजनीति से स्वतंत्र है- प्रेमचन्द ने अपने व्यवहार से सिद्ध कर दिया कि साहित्य देश के राजनीतिक उत्थान का साधन बन सकता है-न यह कहना सही है कि सभी साहित्य को राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखा जाना चाहिए। इस तरह तो उस तमाम साहित्य का लिखा जाना बन्द करना होगा जिसका सम्बन्ध राजनीति से नहीं है। यहाँ दो बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात साहित्य के रूपों से सम्बन्धित है। उपन्यास में जिस तरह विभिन्न पात्रों और घटनाओं द्वारा सामाजिक संघर्ष या प्रगति का चित्रण किया जाता है, उस तरह गीतों और मुक्तकों में नहीं किया जा सकता। इसी तरह व्यंग्यपूर्ण नाटकों और कविताओं में समाज की स्वामियों का चित्रण होगा और उसे एकांगी न कहा जा सकेगा क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि हास्यरस की कविता या नाटक में मानव के उदात्त गुणों का भी चित्रण हो। साहित्य का रूप विषयवस्तु की सीमाएँ निश्चित करता है। इसलिए हर तरह के साहित्य में एक-सी विषयवस्तु की माँग न करनी चाहिए। दूसरी बात है साहित्य के प्रभाव से सम्बन्धित। साहित्य तत्कालीन सामाजिक जीवन में भाग लेने, उसकी समस्याएँ हल करने आदि की प्रेरणा देता है; साथ ही उसका व्यापक प्रभाव मनुष्य के संस्कारों के निर्माण में देखा जा सकता है। देश के स्वाधीन हो जाने पर भी प्रेमचन्द का महत्त्व कम नहीं हुआ। गोर्की के बाद रूस के मजदूरों की दशा में आमूल परिवर्तन हुआ है; फिर भी उसका उपन्यास 'माँ' आज भी चाव से पढ़ा जाना है। इसका कारण यह है कि प्रेमचन्द और गोर्की हमारे संस्कारों को प्रभावित करते हैं। साहित्य के इस व्यापक प्रभाव को भुला देना उतना ही भ्रामक है जितना यह माँग करना कि साहित्य को राजनीति से दूर रखा जाए।

चिन्तन की सही द्वंद्ववादी पद्धति अपनाने से सामयिक प्रभाव और व्यापकता, विकास और परम्परा, व्यक्ति और विरोधी तत्त्वों का विश्लेषण किया जा सकता है और उनके परस्पर भेद और सम्बन्ध को हम समझ सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वैज्ञानिक भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का भी समन्वयः किया जा सकता है, समाज-विरोधी साहित्य को सौन्दर्यबोध के नाम से प्रगतिशील कहा जा सकता है। इस तरह के समन्वय की बात हिन्दी में की जाती है। वैज्ञानिक भौतिकवाद को एकांगी कहकर कभी

अध्यात्मवाद से, कभी अमरीकी दार्शनिकों के भाववाद से उसके समन्वय पर बल दिया जाता है। पहले तो इस तरह का समन्वय सम्भव नहीं है; दूसरे, समन्वय करने पर बहुधा वैज्ञानिक भौतिकवाद के बदले अध्यात्मवाद ही बच रहता है। ऊपर जिन विरोधी लगनेवाले तत्त्वों के सम्बन्ध और भेद का उल्लेख किया गया है, वह वास्तविक है। यह भेद और सम्बन्ध जीवन से उत्पन्न होता है, कल्पना से नहीं। इसलिए उपर्युक्त विवेचन को समन्वयवाद न समझना चाहिए। यहाँ मेरा उद्देश्य यथार्थवाद की व्यापकता सिद्ध करना है। उसमें मानवीय स्नेह, प्रकृति-प्रेम, गोचर सौन्दर्यबोध, साहित्य का कलात्मक रूप सभी शामिल हैं और इनका होना साहित्य और मानव जीवन के लिए आवश्यक है।

व्यक्तिवादी विचारधारा क्षीण होकर निर्जीव, विकृत, अस्वस्थ, यथार्थे-विरोधी रचनाओं की सृष्टि कर रही है। यथार्थवादी विचारधारा मनुष्य के सर्वांगीण विकास के उद्देश्य से ऐसी रचनाएँ करने की ओर प्रवृत्त है जिससे हमारी सामाजिक चेतना प्रखर हो, और हमारी सौन्दर्यवोध की वृत्तियाँ भी सन्तुष्ट हों। आधुनिक हिन्दी साहित्य की मूल धारा भी हमें इसी ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है।

अभ्यास प्रश्न

सत्य/असत्य का चयन कीजिए

१. आस्था और सौन्दर्य रामविलास शर्मा का वैचारिक निबंध संग्रह है।

२. यथार्थ जगत और साहित्य आस्था और सौन्दर्य में संग्रहित है।

३. राम्विकास शर्मा मार्क्सवादी समीक्षक हैं।

४. रामविलास शर्मा हिंदी के प्रसिद्द आलोचक हैं।

५. यथार्थ जगत और साहित्य निबंध में रामविलास शर्मा जी ने साहित्य को यथार्थवादी दृष्टि से देखा है।

11.4 यथार्थ जगत और साहित्य- मुख्य उपपत्ति

साहित्य में यथार्थ का प्रश्न

11.4.1.

साहित्य में यथार्थ का प्रश्न वैज्ञानिक खोजों या वैज्ञानिक दृष्टि के पश्चात उत्पन्न हुआ| डार्विन के विकासवाद ने मनुष्य जाति के विकास को वैज्ञानिक, तार्किक आधार देने का प्रयास किया | मार्क्सवाद, अस्तित्ववाद, मनोविश्लेषणवाद आदि विचारों ने साहित्य और जीवन जगत को देखने की नयी दृष्टि प्रदान की| साहित्य के विकास की वैज्ञानिक पद्धति भी हो सकती है, यह समझ आधुनिक काल के पूर्व न थी | आदिकाल के बाद भक्तिकाल... और भक्तिकाल के बाद रीतिकाल के आगमन का ऐतिहासिक व वैज्ञानिक कारण होगा, यह समझ वैज्ञानिक चेतना के आगमन के साथ ही उत्पन्न हुई | ऐसा न था कि साहित्य में यथार्थ न था| सिद्ध, नाथ और कबीर के साहित्य में यथार्थवादी दृष्टि कम नहीं है| रीतिकाल, जिसे क्षय साहित्य कहा गया है, भी सामंती जीवन के यथार्थ दृश्य से परिपूर्ण है| लेकिन यह दृष्टि सहज बोध से उत्पन्न हुई थी, कार्य-कारण संबंधों के कारण नहीं| रीतिकालीन कवि भी ऐतिहासिक

विकास क्रम से ही संचालित हो रहे थे, किंतु इसका वैज्ञानिक आधार या एहसास उन्हें न था| अर्थ यह कि उन्हें इस बात का पता न था कि भक्तिकाल के ईश्वर विषयक केंद्रीयता को वे बहाने के रूप में किस प्रकार ढाल रहे थे... और न उन्हें इस बात का एहसास था कि वे भक्तिकाल के आगे की मंजिल हैं| इसका कारण यह था कि वे ऐतिहासिक विकास क्रम को समझ पाने में सक्षम न हो पाए थे| प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि एक लेखक को, एक कवि को या कि एक साहित्यकार को ऐतिहासिक विकास क्रम को समझना क्यों आवश्यक है? उसे क्यों पता होना चाहिए कि उसके पूर्व में साहित्य व काव्य की रचना पद्धति कौन-सी रही हैं? एक साहित्यिक अपनी पूर्व परंपरा को उसी प्रकार नहीं बढ़ाता, जिस प्रकार एक वैज्ञानिक बढ़ाता है; बावजूद कि वह अपनी साहित्यिक दाय को स्वीकार करता है| क्योंकि परम्परा से जुड़ना हमेशा एक कथ्य को व्यापक संदर्भ प्रदान करता है| एक कवि यह जानता है कि वह किस मार्ग पर यात्रा कर रहा है| इसलिए ऐतिहासिक विकास क्रम की वैज्ञानिक समझ की व्याख्या से अछूता साहित्यिक भी किसी-न-किसी प्रकार अपनी पूर्व की साहित्यिक विरासत को स्वीकार करता ही है| साहित्य कोई यांत्रिक पद्धति नहीं है कि इसके मोड़ के स्पष्ट नियम दिखें (होने के बावजूद) | किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका नहीं होती या उसका ऐतिहासिक विकास क्रम नहीं होता| बावजूद समझने वाली बात यह है कि यथार्थ के आगमन की एक विशेष दशा होती है| यहाँ हम इसे समझने का प्रयास करेंगे|

भाववाद और यथार्थ जगत के प्रश्न को हमें थोड़ा बेहतर ढंग से समझना होगा| हमारे आसपास का जगत हमारे होने या बनने की पीठिका बनता है| हमारा परिवेश या यथार्थ जगत न केवल हमारी वैचारिकी को निर्मित करता है, अपितु हमारे भाव जगत का निर्माण भी करता है| एक बच्चे के जन्म के साथ ही संवेग और भाव का निर्माण होता चलता है| भाव और मनोविकार सम्बन्धी अपने निबंध में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि-"अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे-से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति भरने के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरंभ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते हैं पर ये अनुभूतियाँ बिल्कुल सामान्य रूप में रहती हैं, विशेष विशेष विषयों की ओर विशेष-विशेष रूपों में ज्ञानपूर्वक उन्मुख नहीं होती। नाना विषयों के बोध का विधान होने पर ही उनसे संबंध रखने वाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अतः हम कह सकते है कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकार का जटिल रूप धारण करती है"| आचार्य शुक्ल ने सुख और दुःख को प्राथमिक भाव स्वीकार किया है तथा सामाजिक संपर्क के आधार पर भावों का उत्तरवर्ती रूप स्थिर किया है|

साहित्य और यथार्थ के प्रश्न को कल्पना और मिथक के संदर्भ से भी समझा जा सकता है| हम जानते हैं कि मिथक, यथार्थ और इतिहास के प्राक रूप हैं| मिथक, कल्पना और इतिहास की सन्धि पर खड़े

हैं, लेकिन इनमें इतिहास कम है, कल्पना ज्यादा है| जहाँ इतिहास का प्रयोग या प्रवेश कम होगा, वहाँ कल्पना की अतिशयता ज्यादा होगी| प्रश्न कल्पना और यथार्थ के द्वन्द्व का नहीं है, अपितु कल्पना की अतिशयता का है| कल्पना जब यथार्थ की ज़मीन छोड़ देती है, तब वह फंतासी बन जाती है या गप्प बन जाती है| जैसे पौराणिक कथाओं के चमत्कार को हम मनुष्य की कल्पना शक्ति के आग्रह के रूप में न समझकर यथार्थ के प्रवेश के पूर्व रूप के रूप में समझने का प्रयास करना ज्यादा उचित होगा | परियों की कहानियां या चमत्कार पूर्ण आख्यान यथार्थ के आगमन से पूर्व के रूप हैं | यथार्थवादी दृष्टि कल्पना को यथार्थ की ज़मीन प्रदान करती हैं|

अभ्यास प्रश्न) २

टिप्पणी कीजिये।

भावबाद

.....

.....

.....

.....

.....

यथार्थवाद

.....

.....

.....

.....

.....

11.4.2. साहित्य में यथार्थ का प्रश्न

प्रश्न है कि साहित्य में यथार्थ के प्रश्न को हम किस प्रकार देखें? हमें समझना होगा कि साहित्य में यथार्थ का प्रश्न अपनी रचनात्मकता के साथ उपस्थित होता है| साहित्य में आकर यथार्थ वही नहीं रह जाता, जैसे कि सामान्य जीवन में होता है| साहित्य, यथार्थ के प्रश्न को यांत्रिक होने की बजाय रचनात्मक स्तर पर ढालता है l| हमें इस प्रक्रिया को समझना होगा| साहित्य किसी घटना के कारक तत्वों को जहाँ इतिहास की तरह समझता है, वहीं उस घटना की प्रक्रिया को एक वैज्ञानिक की तरह समझता है | तथा घटना के प्रभाव को, आस्वाद को वह किसी स्तुति या भक्त की तरह ग्रहण करता है| यानी साहित्य में एक साथ घटना की पृष्ठभूमि, घटना की प्रक्रिया और घटना का प्रभाव चला करता है| पृष्ठभूमि, प्रक्रिया व प्रभाव विज्ञान में भी होता है और इतिहास में भी| किंतु साहित्य में यह प्रक्रिया ज्यादा संलिष्ट है| कारण, यह कि साहित्य में यह रचनात्मक ढंग से घटित होती हैं | कैसे? एक उदाहरण से इस तथ्य को समझने का प्रयास करें| जयशंकर प्रसाद ने ऐतिहासिक घटनाओं को केंद्र बना करके अपने प्राय: नाटक

लिखे हैं| इतिहास के ऊपर लिखते समय साहित्यकार के पास स्पेस कम होता है, छूट कम होती है, कारण यह कि उसे अपने अनुभूत सत्य को प्राप्त तथ्यों के आधार पर कहना होता है | उसके पास काल्पनिक प्लॉट जैसे कथ्य की तरह कल्पना के लिए स्पेस कम होता है, बावजूद कि एक साहित्यकार इतिहास को भी साहित्यिक रूप देता है| साहित्य यह कार्य इतिहास के दमित पाठ के आधार पर भी करता है और उपलब्ध पाठ को दमित बना करके भी| एक साहित्यकार की अपनी दृष्टि उन अंशों, पक्षो पर भी पहुँचती है, जहाँ ज्ञात तथ्य या अज्ञात तथ्य नहीं पहुँचते| एक साहित्यिक दृष्टि व्यक्ति मन के अंतराल से निर्मित होती है| जैसे जयशंकर प्रसाद ने अपने नाटकों में इतिहास को कल्पना के रंग दिये हैं, किंतु वे अपने नाटकों को काल्पनिक नहीं बनाते| बस वे कल्पना का रंग भरते हैं | इतिहास के प्रसंग में यथार्थ का प्रश्न तथ्य व विवरण से संचालित होता है, किंतु साहित्य में यथार्थ का प्रश्न तथ्य को भाव में ढालने की प्रक्रिया में निहित होता है| एक अन्य उदाहरण लें - प्रेमचंद की एक कहानी नादिरशाह पर आधारित है| कहानी की मूल थीम मात्र इतनी- सी है कि नादिर शाह द्वारा दिल्ली में कत्लोआम की घटना के बीच एक छोटी बच्ची आ जाती है... और नादिर शाह लूट और क़त्ल को रोक कर वापस लौट जाता है | इतिहास के तथ्यों की दृष्टि से यह दमित पाठ है...और उल्लेखगत नहीं है, किंतु साहित्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, क्योंकि साहित्य यह विश्वास करता है कि हर मनुष्य के हृदय में प्रेम और करुणा की एक अंतरधारा बह रही है| साहित्य यह भी विश्वास करता है कि तथ्य यदि हमें सार्थक भाव से युक्त नहीं कर पा रहे तो वह हमारे लिए निष्प्रयोज्य है| इसीलिए साहित्य केवल हो चुकी घटना या हो रही घटना से ज्यादा हो सकने वाली घटना या सम्भावना को ज्यादा महत्त्व देता है| यही कारण है कि साहित्य में यथार्थ का प्रश्न ज्यादा सूक्ष्म, या कि गूढ़ ढंग से हमारे सामने आता है|

11.5 यथार्थ जगत और साहित्य: मूल्यांकन

यथार्थ जगत और साहित्य निबंध में रामविलास शर्मा ने सबसे पहले यह स्पष्ट कर दिया है कि - "साहित्य और यथार्थ जगत के संबंध पर विचार करना इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि यूरोप व अमेरिका के अनेक साहित्यकार यथार्थ जगत के आतित्व या महत्त्व को अस्वीकार करके अपने मानस से साहित्य -सृष्टि करने का दावा करते हैं "| स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा साहित्य का सम्बन्ध यथार्थ जगत से मानते हैं, कोरे मानस जगत से नहीं | शर्मा जी की यह दृष्टि वस्तुनिष्ठ है | शर्मा जी प्रत्येक मत को आधुनिक व वैज्ञानिक आधार से पुष्ट करते चलते हैं | पदार्थ की गति लहरों के रूप में होती है, यह कहकर रामविलास जी ने यथार्थ को चेतना मात्र मानने से इंकार किया | डॉ शर्मा अस्तित्ववादी दार्शनिक किर्केगार्ड की इस मान्यता को भी अस्वीकार करते हैं कि सत्य केवल आत्मगत होता है | अस्तित्ववादी चिंतक सात्र के अनुसार सत्य इसके सिवा कुछ नहीं कि मैं सोचता हूँ, इसलिए हूँ | को रामविलास शर्मा जी अस्वीकार करते हैं | शर्मा जी ने लिखा है कि भौतिकता से परे चेतना का निवास नहीं है| रामविलास जी ने स्पष्ट लिखा है -" चेतना मस्तिष्क में निहित पदार्थ का गुण है, प्रकृति के एक अंश का गुण हैं, इसलिए वास्तविक विचार केवल चिन्तन द्वारा अपने भीतर से उत्पन्न नहीं किए जा

सकते। सही विचार के लिए मानव-चेतना और बाह्य जगत का सम्पर्क आवश्यक होता है। इस कारण ज्ञान का आधार मनुष्य का प्रत्यक्ष अनुभव है। अपने व्यवहार से ही मनुष्य अपना ज्ञान समृद्ध करता है। ज्ञान से वह व्यवहार-क्षेत्र में आगे बढ़ता है।" अपने मत की पुष्टि में उन्होंने विश्व प्रपंच का संदर्भ दिया है-""अतः बिना इस प्रकार के बाह्य निरीक्षण के केवल शरीराणु-विज्ञान, गर्भ-विज्ञान और जीव-विज्ञान इत्यादि का यथावत् ज्ञान होना सकती। पर बाह्य निरीक्षण की पूर्णता के लिए शरीर-विज्ञान, अंगविच्छेद शास्त्र, सम्बन्धी अर्थात् चेतना सम्बन्धी बातें पक्की नहीं समझी जा सकतीं। आँख चाहिए।" बाह्य निरीक्षण आवश्यक है। केवल आत्म-निरीक्षण द्वारा मनोव्यापार-मूंदकर ध्यान लगाने और भूत, भविष्य, वर्तमान के ज्ञान का दावा करने वालों के हाथ आत्म -प्रवंचना ही लगती है "| एक अन्य जगह आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि पौराणिक गाथाएं भाववादियों की रक्षा नहीं कर सकतीं "|

रामविलास शर्मा वस्तुवादी सौंदर्य का आधार श्रम और संघर्ष में मानते हैं | इसी कारण वे कोरे मनोवैज्ञानिक चित्रण को अस्वीकार करते हैं | शर्मा जी ने संघर्षशील नायकों की कल्पना की है | जाहिर है यह सही दृष्टि है |

रामविलास शर्मा जी ने स्पष्ट रूप से सौंदर्य को परिवर्तनशील माना है | आज पौराणिक गाथाएं हमारा मनोरंजन तो कर सकती हैं, किंतु हमारे भीतर संघर्ष उत्पन्न नहीं कर सकतीं | शर्मा जी इसे विकास के विभिन्न चरण की तरह देखते हैं | इस संबंध में मत व्यक्त करते हुए डॉ शर्मा ने लिखा है -", साहित्य का विकास दो परस्पर सम्बद्ध स्तरों पर होता है। एक है आवश्यक होता है। इस सन्तुलन को भुलाकर न तो उच्चकोटि का साहित्य रचा जा भावजगत, इन्द्रियबोध, हमारे सौन्दर्यबोध का स्तर । इनमें सन्तुलन कायम रखना सकता है, न यथार्थवाद का सही विवेचन किया जा सकता है "|

डॉ रामविलास शर्मा ने निबंध के समापन में स्पष्ट रूप से व्यक्तिवादी और यथार्थवादी विचार धारा में फ़र्क किया है | उन्होंने लिखा है कि -" व्यक्तिवादी विचारधारा क्षीण होकर निर्जीव, विकृत, अस्वस्थ, यथार्थ-विरोधी रचनाओं की सष्टि कर रही है। यथार्थवादी विचारधारा मनुष्य के सर्वांगीण विकास के उद्देश्य से ऐसी रचनाएँ करने की ओर प्रवृत्त है जिससे हमारी सामाजिक चेतना प्रखर हो, और हमारी सौन्दर्यबोध की वृत्तियाँ भी सन्तुष्ट हों। आधुनिक हिन्दी साहित्य की मूल धारा भी हमें इसी ओर बढ़ने की प्रेरणा देती है। " स्पष्ट तौर पर डॉ शर्मा ने यथार्थवादी साहित्यिक प्रवृतियों को सामाजिक विकास के साथ जोड़कर देखा है |

11.6 सारांश

यथार्थ जगत और साहित्य निबंध में रामविलास शर्मा ने सबसे पहले यह स्पष्ट कर दिया है कि -"साहित्य और यथार्थ जगत के संबंध पर विचार करना इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि यूरोप व अमेरिका के अनेक साहित्यकार यथार्थ जगत के आतित्व या महत्त्व को अस्वीकार करके अपने मानस से साहित्य-सृष्टि करने का दावा करते हैं " | स्पष्ट है कि रामविलास शर्मा साहित्य का सम्बन्ध यथार्थ जगत से मानते हैं, कोरे मानस जगत से नहीं| शर्मा जी की यह दृष्टि वस्तुनिष्ठ है| शर्मा जी प्रत्येक मत

को आधुनिक व वैज्ञानिक आधार से पुष्ट करते चलते हैं| पदार्थ की गति लहरों के रूप में होती है, यह कहकर रामविलास जी ने यथार्थ को चेतना मात्र मानने से इंकार किया| डॉ शर्मा अस्तित्ववादी दार्शनिक किर्केगार्ड की इस मान्यता को भी अस्वीकार करते हैं कि सत्य केवल आत्मगत होता है| इस प्रकार रामविलास शर्मा ने साहित्य को यथार्थवादी चेतना के साथ जोड़कर देखा है|

11.7 शब्दावली

यथार्थवाद – पदार्थ को सत्य मानने वाला दर्शन
मिथक- इतिहास और कल्पना से युक्त सत्य
अस्तित्ववाद – जीवन को प्रामाणिक अर्थ में स्वीकार करने वाला दर्शन
भाववाद – चेतना को यथार्थ मानने की दृष्टि

11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

१- सत्य
२- सत्य
३- सत्य
४- सत्य
५- सत्य

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. आस्था और साहित्य – रामविलास शर्मा
२, आधुनिक हिंदी साहित्य का इतिहास – डॉ बच्चन सिंह

11.9 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री

१. हिंदी साहित्य का इतिहास – रामचंद्र शुक्ल

11.10 निबंधात्मक प्रश्न

१. साहित्य में यथार्थ की स्थिति को स्पष्ट करें|

इकाई 12- व्यापकता और गहराई: पाठ एवं मूल्यांकन

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 नामवर सिंह व्यक्तित्व एवं कृतित्व
    12.3.1 व्यक्तित्व
    12.3.2 कृतित्व
12.4 नामवर की निबंध कला
    12.4.1 भावपक्ष
    12.4.2 कलापक्ष
12.5 व्यापकता और गहराई - मूल पाठ (कथावस्तु)
12.6 व्यापकता और गहराई - मूल्यांकन
12.7 सारांश
12.8 शब्दावली
12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.10 निबंधात्मक प्रश्न
12.11 संदर्भ ग्रंथ सूची/ सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

12.1 प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य की आलोचना में 'गहराई' और 'व्यापकता' को लेकर अक्सर भ्रम और पक्षपात देखा जाता है। सरल, स्पष्ट और व्यापक जीवनानुभूति वाले प्रेमचन्द को 'सतही' तथा सीमित जीवन-कैनवास वाले जैनेन्द्र–अज्ञेय को 'गहरा' मान लिया गया। जबकि प्रेमचन्द की सरलता सतही नहीं, बल्कि गहरी वैचारिक और कलात्मक साधना का परिणाम है। वास्तविक समस्या यह है कि आलोचना में 'गहराई' को केवल निजी पीड़ा या आत्मकेन्द्रित अनुभूति तक सीमित कर दिया गया है, जबकि सच्ची गहराई वह है जो व्यक्ति से समाज और निजी अनुभव से सार्वभौमिक मानवीय सत्य तक पहुँचे। प्रेमचन्द, तोल्स्तोय और निराला जैसे रचनाकार निजी अनुभवों को सामाजिक संदर्भों से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं, इसलिए उनकी रचनाओं में व्यापकता और गहराई दोनों विद्यमान हैं। इस प्रकार, व्यापकता और गहराई विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।

12.2 उद्देश्य

- व्यापकता और गहराई के वास्तविक अर्थ को समझना।
- साहित्य के मूल्यांकन में दोनों की आवश्यकता को स्पष्ट करना।

- प्रेमचन्द की व्यापकता बनाम जैनेन्द्र-अज्ञेय की अनुभूति-प्रधान गहराई का अंतर का गहन अध्ययन करना।
- सिद्ध करना कि वास्तविक गहराई व्यापकता पर आधारित होती है।

12.3 व्यक्तित्व एवं कृतित्व

12.1 व्यक्तित्व

डॉ. नामवर सिंह का जन्म 28 जुलाई 1926 को उत्तरप्रदेश के चंदौली जिले के जीयनपुर गाँव में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा गांव के नज़दीक दूसरे गाँव आवाजपुर से और फिर कमलापुर से मिडिल की पढ़ाई। बनारस के हीवेट क्षत्रिय स्कूल से मैट्रिक और उदयप्रताप कॉलेज से इंटरमीडियट। 1941 में कविता लिखने से लेखक के रूप में शुरुआत और क्षत्रियमित्र पत्रिका में कविता प्रकाशित। 1949 में काशी हिंदू विश्वविद्यालय से स्नातक और परास्नातक और यही एम.फ़िल, पीएचडी करने के बाद इनकी पढ़ाई संपन्न हुई। हिंदी साहित्य से एम.ए.एम.फ़िल। हिंदी साहित्य में अपभ्रंश का योग और पीएचडी पृथ्वीराज रासो की भाषा करने के बाद 1953 से कुछ समय तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन कार्य किया। इन्हीं दिनों ये अपने गुरुवर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के पसंदीदा शिष्य बने रहे। 1959 में चकिया चंदौली से भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार के रूप में लोकसभा सदस्य का चुनाव लड़े और हार गए। इस घटना के बाद उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय छोड़ना पड़ा। इसके बाद उन्होंने सागर विश्वविद्यालय और जोधपुर विश्वविद्यालय में अध्यापन किया। यहाँ के बाद उन्हें जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग बनाने के लिए बुला लिया गया और डॉ. नामवर सिंह जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के संस्थापक अध्यक्ष बने। जीवन पर्यंत वे यहाँ अध्यापन करते रहे। नौकरी के उपरांत भी प्रोफ़ेसर एमिरिट्स के रूप में वे जीवन के अंतिम दिनों तक भी जेएनयू में कक्षाएं लेते रहे। डॉ. नामवर सिंह हिंदी के साथ साथ बंगला, उर्दू और संस्कृत के भी अच्छे विद्वान थे। उन्होंने अपने जीवन में मौलिक किताबें बहुत कम लिखीं लेकिन उन्होंने व्याख्यान बहुत दिए। बाद में डॉ. आशीष त्रिपाठी ने इनके सभी व्याख्यानों और अन्यत्र बिखरे लेखन को एक जगह एकत्रित करने का कार्य किया और इन सामग्रियों से दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित करवायीं। इससे नामवर सिंह के लेखन और चिंतन का एक बड़ा हिस्सा प्रकाश में आया। मनामवर जी वाचिक परम्परा के आचार्य थे। उनकी वाचिकता में कई जगह अंतर्विरोध भी देखने को मिलता है लेकिन वाचिक शैली में भी उन्होंने कभी गम्भीरता और विषय विश्लेषण का साथ नहीं छोड़ा। इन्होंने आलोचना पत्रिका का संपादन किया और अन्तिम समय तक उसके प्रधान संपादक भी बने रहे। 1965 में जनयुग साप्ताहिक का संपादन किया और थोड़े समय के लिए हिंदी विद्यापीठ, आगरा के निदेशक भी रहे। कुछ समय तक राजाराम मोहन राय लाइब्रेरी फ़ाउंडेशन के अध्यक्ष भी रहे और महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी

विश्वविद्यालय के कुलाधिपति भी। 1971 में कविता के नए प्रतिमान के लिए साहित्य अकादेमी का पुरस्कार से सम्मानित हुए।

12.3.2 कृतित्व

- आलोचनात्मक कृतियाँ
- बक़लम ख़ुद
- हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग
- पृथ्वीराज रासो की भाषा
- आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ
- छायावाद
- इतिहास और आलोचना
- कहानी : नयी कहानी
- कविता के नये प्रतिमान
- दूसरी परम्परा की खोज
- वाद–विवाद–संवाद
- आलोचक के मुख से
- कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता
- हिन्दी का गद्यपर्व
- प्रेमचन्द और भारतीय समाज
- ज़माने से दो–दो हाथ
- साहित्य की पहचान
- आलोचना और विचारधारा
- आलोचना और संवाद
- पूर्वरंग
- साक्षात्कार / संवाद
- कहना न होगा
- बात–बात में बात

- सम्मुख
- साथ–साथ
- पत्र–संग्रह
- काशी के नाम
- तुम्हारा नामवर
- संकलन / संचयन
- नामवर संचयिता
- हिन्दी समीक्षा और आचार्य शुक्ल
- आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की जययात्रा
- द्वाभा
- छायावाद : प्रसाद, निराला, महादेवी और पंत
- रामविलास शर्मा
- काव्य–कृति
- सम्पूर्ण कविताएँ
- सम्पादन कार्य
- जनयुग (साप्ताहिक)
- आलोचना (त्रैमासिक)

12.4 नामवर की निबंध कला

12.4.1 भावपक्ष

डॉ. नामवर सिंह का निबंध-साहित्य हिन्दी आलोचना की वैचारिक चेतना से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। उनके निबंधों का भावपक्ष साहित्य को सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों में देखने की दृष्टि से निर्मित है। वे साहित्य को केवल सौंदर्यात्मक अभिव्यक्ति नहीं मानते, बल्कि उसे सामाजिक यथार्थ, वर्गीय चेतना और वैचारिक संघर्ष से जोड़कर देखते हैं।

नामवर सिंह के निबंधों में परम्परा और आधुनिकता का द्वंद्व, इतिहासबोध, जनपक्षधर दृष्टि तथा आलोचनात्मक विवेक प्रमुख भावतत्त्व हैं। छायावाद, नयी कविता, नयी कहानी, प्रेमचन्द, निराला, प्रसाद, नागार्जुन आदि रचनाकारों पर विचार करते हुए वे साहित्य के भीतर निहित सामाजिक चेतना को उजागर करते हैं। उनके निबंधों में मार्क्सवादी दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से उपस्थित है, परन्तु वह

किसी जड़ सिद्धान्त के रूप में नहीं, बल्कि एक जीवंत आलोचनात्मक पद्धति के रूप में सामने आता है। नामवर सिंह की भावभूमि संवादात्मक है-वे वाद-विवाद, प्रश्न-उत्तर और वैचारिक टकराव के माध्यम से निष्कर्ष तक पहुँचते हैं। उनकी निबंध-चेतना में प्रतिबद्धता, बौद्धिक ईमानदारी और साहित्यिक मूल्यबोध का संतुलित समन्वय दिखाई देता है।

12.4.2 कलापक्ष

कलात्मक दृष्टि से नामवर सिंह की निबंध-शैली अत्यंत प्रभावशाली, तर्कपूर्ण और व्याख्यात्मक है। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी प्रवाहपूर्ण, प्रांजल और बौद्धिक स्तर पर सशक्त है। वे जटिल साहित्यिक और दार्शनिक अवधारणाओं को भी सहज उदाहरणों, उद्धरणों और संवादात्मक शैली के माध्यम से स्पष्ट कर देते हैं।

उनकी निबंध-रचना में भाषणात्मकता, प्रश्नवाचक शैली, व्यंग्य और सूक्ष्म संकेतों का कुशल प्रयोग मिलता है। वे आलोचना को शुष्क विवेचन न बनाकर एक जीवंत संवाद का रूप देते हैं। ऐतिहासिक संदर्भ, साहित्यिक परम्परा और समकालीन स्थितियों का संतुलित संयोजन उनकी निबंध-कला की विशेषता है। नामवर सिंह की शैली निर्णयात्मक होने के साथ-साथ विमर्शात्मक भी है, जो पाठक को सोचने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार भावपक्ष की वैचारिक गहराई और कलापक्ष की बौद्धिक सशक्तता मिलकर नामवर सिंह के निबंधों को हिन्दी आलोचना में विशिष्ट और स्थायी स्थान प्रदान करती है।

12.5 व्यापकता और गहराई मूल पाठ (कथावस्तु)

अक्सर देखते हैं कि पानी के सोते की तरह लेखक भी साफ होता है तो उथला कहा जाता है और गदला होता है तो गहरा। इसका ताजा नमूना यह है कि 'आलोचना' के संपादक अपने को गहरा बता रहे हैं और प्रेमचन्द को सतही। प्रेमचन्द का दोष यह है कि उन्होंने समस्याओं का 'सरल समाधान' दिया है। परन्तु इसी 'सरल समाधान' पर गहरे समझे जाने वाले उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार मुग्ध है। 'गबन' की आलोचना करते हुए 'प्रेमचंद की कला' शीर्षक निबन्ध में वे कहते हैं- "बात को ऐसा सुलझा कर कहने की आदत मैं नहीं जानता, मैंने और कहीं देखी है। बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर ऐसे सुलझा कर थोड़े से शब्दो में भरकर, कुछ इस तरह कह जाते हैं, जैसे यह गूढ़, गहरी, अप्रत्यक्ष बात उनके लिये नित्य-प्रति घरेलू व्यवहार की जानी-पहचानी चीज हो। उनकी कलम सब जगह पहुँचती है; लेकिन अंधेरे से अंधेरे में भी वह कभी धोखा नहीं देती। वह वहाँ भी सरलता से अपना मार्ग बनाती चली जाती है। स्पष्टता के मैदान में प्रेमचंद अविजेय हैं। उनकी बात निर्णीत, खुली, निश्चित होती है।"

आलोचना-संपादक जिस समाधान को 'सरल' कहते हैं वह जैनेन्द्र कुमार के अनुसार 'बड़ी से बड़ी बात को बहुत उलझन के अवसर पर सुलझाना' है। वह 'सरल' इसलिये मालूम होता है कि स्पष्ट

है, निर्णीत है, खुला है और निश्चित है। ऐसी सरलता तक पहुँचने में कितनी कठिनाइयों को पार करना पड़ता हैं, इसे जो नहीं जानते उनके लिए यह 'शॉर्टकट' है। जंगल में भटकने वालों की यह पुरानी शिकायत है। कदम कदम पर संघर्ष करते हुए जिस 'होरी' ने जिन्दगी का लम्बा रास्ता तय किया, उसने तो अपनाया शॉर्टकट' और जिसने बेठे बिठाये आसमान में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' दौड़ाया उसका रास्ता हुआ लम्बा ! क्यों न हो? आसमान से धरती तक को लंबी दूरी, सपनों का भारी बोझ और टाँगें बेकार ! नौ दिन चले अढ़ाई कोस !

'शॉर्टकट' की शिकायत केवल सातवें घोड़े के सवार को ही हो, ऐसी बात नहीं है। शिकायत करने वाले और भी हैं। इनका विरोध 'सीधी रेखा' से है। 'सीधी रेखा' से उनका मतलब है सोद्देश्यता। साहित्य में जहां सोद्देश्यता होती है, उसे वे समाज की 'सीधी छाया' या सत्य की सीधी रेखा से है। कहते हैं। यह 'सीधी रेखा' वही 'शॉर्टकट' है, जिसका निषेध करके वर्तुल अथवा 'वक्ररेखा' पर चलने की सलाह दी जाती है। 'चलइ जोंक जल वक्र-गति जद्यपि सलिल समान।'

मतलब यह कि सोद्देश्यता 'शॉर्टकट' है, इसलिए सतही साहित्य-रचना से बचने के लिए लम्बे अर्थात् अनन्त रास्ते पर निरुद्देश्य यात्रा करनी चाहिए ! लेकिन ये निरुद्देश्य पथिक इतने सरल नहीं हैं कि अपने को स्पष्ट शब्दों में निरुद्देश्य कह दें। इनका भी उद्देश्य है और वह उद्देश्य है अन्वेषण - आत्मान्वेषण। यह आत्मान्वेषण वैसा ही है जैसे बच्चे कभी-कभी अपनी ही आखें मूंदकर माँ से पूछते हैं कि बताओ में कहाँ हूँ। फर्क इतना ही है कि ये बच्चे नहीं हैं। इस प्रकार निरुद्देश्यता को ही इन्होंने अपना उद्देश्य बना लिया है और भरसक इसी का प्रचार करते रहते हैं।

निरुद्देश्यता के कार्यक्रम का पहला सूत्र यह है कि साहित्य का सम्बन्ध समाज से काट दिया जाय क्योंकि समाज के साथ बंधे रहने पर कुछ न कुछ सामाजिक कर्तव्य का बन्धन रहेगा ही। फलतः 'वक्र रेखा' के अन्वेषक ने स्थापित किया कि "जिन कारणों से साहित्यिक प्रतिच्छाया में विकृति उत्पन्न होती है, उनके पीछे साहित्य और सौंदर्य के अपने नियम हैं जो सामाजिक आवश्यकता के बावजूद काम करते हैं। इन नियमों की क्रियाशीलता के कारण ही साहित्य ऊंची उड़ाने भरता है और उसमें सार्वभौमिकता एवं श्रेष्ठता उत्पन्न होती है।"

साहित्य को श्रेष्ठ और सार्वभौम बनाने वाले वे 'अपने' नियम कौन से हैं, इसे बताने की क्या जरूरत ? यह तो सभी जानते हैं। बताने की बात तो वह है जो सबको न मालूम हो। इसीलिये लोगों का भ्रम दूर करने के लिये जोर देकर कहा गया कि साहित्य के सौंदर्य का कारण समाज नहीं है। इस विषय में फिर कोई भ्रम न रह जाय इसलिये आगे यह भी कह दिया गया है कि आलोचना के सामने असली सवाल सामाजिक यथार्थ का नहीं है, बल्कि उस यथार्थ की विकृतियों के अध्ययन का है।

इतना कहने के बाद भ्रम की गुंजायश के लिये कहाँ जगह है ! वेशक 'आलोचना' 'यथार्थ की विकृतियों' का ही अव्ययन प्रस्तुत कर रही है। और ऐसे अध्ययन के लिये सामाजिक यथार्थ से जितना ही दूर रहा जाय उतना ही अच्छा है ! साहित्य-सौंदर्य के 'अपने' नियम समाज से दूर रह कर ही गढ़े जा सकते हैं और वे गढ़े हुये नियम कैसे होते हैं उसका प्रत्यक्ष उदाहरण उपयुक्त उद्धरण है।

आश्चर्य की बात नहीं है। यह 'वक्र रेखा' लेखक को इसी तरह अपने समाज से दूर ले जाती है और इसके बाद तो वह 'सार्वभौम' हो जाता है; अपने देश-काल से जड़ कट जाने पर वह स्वभावतः सारी दुनिया का हो जाता है। ऊंचाई पर पहुँच कर वह व्यापक दृष्टिकोण से सभी देशों के लिये समान भाव से साहित्य रचने लगता है। इस 'सार्वभौमिकता' की झलक इन लेखकों के उपन्यासों के सार्वभौम चरित्रों और विविध भाषाओं के उद्धरणों में मिल सकती है। पतनोन्मुख पश्चमी लेखकों के विचारों से अपनी सम्पा-दकीय टिप्पणियों को अलंकृत करके 'आलोचना' में इसी सार्वभौमिकता का ऊँचा आदर्श उपस्थित किया जाता है। इस सार्वभौमिकता का आदर्श यह है कि साहित्य में समाज की छाया को किस प्रकार अधिक से अधिक बिगाड़ कर प्रस्तुत किया जाय । साहित्यिक छाया में जितना हो बिगाड़ होगा, रचना में उतनी ही गहराई होगी! इस प्रकार वक्र रेखा से चलकर सार्व भौमिकता तक और सार्वभौमिकता से चलकर 'गहराई' तक की यात्रा पूरी होती है।

गहराई सार्वभौमिकता का हो दूसरा आयाम है जो सालोचना के संपादकों का तकियाकलाम बन गया है। कभी ऊंबाई को घोर तो कभी गहराई की ओर ! दोनों श्रायानों के इस व्यायाम में यदि कोई बोज नहीं द्याने पाती तो वह है सतह ! शायद ऊभ-चूभ करने वालों के लिये सतह वाले प्रायाम का यस्तित्व नहीं होता। विचारों की गहराई का नमूना है व्यक्तिस्वातन्त्र्य का घोषणा पत्र, तो अनुभूतियों की गहराई के नमूते दर्जनों व्यक्तिवादी कविताएँ और उपन्यास। इस प्रकार हम देखते हैं कि सतह के खिलाफ गहराई की बावाज उठाने वाले दरअसल समान के खिलाफ व्यक्ति स्वातन्व्य की ही बात कहते है। यही उनको गहराई भी है और सतह भो । और जिस तरह उनकी गहराई और सतह में कोई विरोध नहीं है, उसी तरह सभी लेखकों की गहराई घोर सतह में अविरोध है।

लेकिन जिन लोगों का 'दिल उनसे चलन का पड़ा है और दिमाग के छिलके उतर गये हैं,' उनके लिए एक-दूसरे से जुड़ी हुई खोजें भी बलग-अलग और विरोधी दिखाई पड़ती है। जहाँ उन्हें व्यापकता दिखाई पड़ती है, बहीं गहराई नहीं मिलती, और गहराई मिलती है तो व्यास्ता नहीं मिलती। प्रेमचंद में व्यापकता है तो गहराई नहीं है, जैनेन्द्र में गहराई है तो व्यापकता नहीं है। इसी तरह तुलसीदास में व्यापकता है तो गहराई सायब है और सूरदास में गहराई है तो व्यापकता नदारद। ब्यापकता मौर गहराई के इस विरोध में कुछ लोग तो 'अपने आप में' दोनों को महान कह कर जान छुड़ाते हैं। लेकिन जिन्होंने आलोचना के मूल्य-मान -मर्यादा का दायित्व लिया है वे व्यापकता के असर गहराई को तरजीह देते हैं। इस कसौटी पर सूर श्रेष्ठ हो जाते हैं तुलसी से और शरतचंद श्रेष्ठ हो जाते है प्रेमचंद से (क्योंकि जैनेन्द्र या अज्ञेय को खुलकर प्रेमचंद से श्रेष्ठ करने का साहस अभी लोगों में नहीं आया है!)देखना यह है कि किसी लेखक में व्यापकता के होते हुए भी जब हम गहराई की कमी पाते हैं तो वस्तुतः वह गहराई की कमी व्यापकता की ही कमी तो नहीं है ? इसी तरह यदि कोई लेखक । संकीर्ण होते हुए भी गहरा मालूम हो तो विचारने की जरूरत है कि कहीं हमारी उस गहराई में ही तो कमी नहीं है ?

सबका कहना है कि जैनेन्द्र और अज्ञेय प्रेमचंद की अपेक्षा बहुत कम व्यापक जीवन का केनवस लेते हैं, फिर भी कुछ लोगों को उनमें प्रेमचंद से अधिक गहराई मिलती है। यह गहराई क्या है? कहते हैं यह अनुभूति की गहराई है। अनुभूति किस की? दर्द की। दर्द किसका ? प्रेम का । 'पेन आफ लबिग' और 'पेनफुल टूथ' । प्रेम का दर्द और दर्द की अनुभूति, क्योंकि कोई भी अनुभूति दर्द से रहित नहीं होती। प्र प्रेमानुभूति का यही दर्द शेखर और भुवन को है तथा शशि और रेखा को है-शशि और रेखा को शायद अधिक । दर्द की परिसमाप्ति है मृत्यु या निराशा। यह अनुभूति हमारे जीवन को कितनी गहराई तक जाकर द्यान्दोलित करती है? यह दर्द हमें दबोचता है, अवसन्न करता है, निष्क्रिय बनाता है या हमें अपने संपूर्ण जीवन पर फिर से विचार करके नये सिरे से जीने के लिये प्रेरित करता है।

इस प्रकार इस अनुभूति को गहराई की परीक्षा करते हुये हम अनिवार्य रूप से इसकी व्याप्ति में जा पड़ेंगे। किसी को गहराई तक प्रभावित करने का अर्थ है उसके सम्पूर्ण अस्तित्व, व्यक्तित्व और भाव-सत्ता को प्रभावित करना और बहुत देर तक प्रभावित किए रहना। अनुभूति की गहराई का निर्णय एक व्यक्ति और एक क्षण से नहीं किया जा सकता है। निर्णय दिक् और काल-सापेक्ष है। इस तरह अनुभूति की गहराई पर विचार करते समय हमें साधारणीकरण के प्रश्न का सामना करना पड़ेगा। तब सवाल उठेगा कि उस विशेष चरित्र तथा अनुभूति में अधिक से अधिक लोगों और युगों तक पहुंचने की क्षमता है या नहीं ? अनुभूति की गहराई को इस तरह तीव्रता के साथ सामान्यता का निर्वाह करना होगा। अनुभूति की शक्ति केवल तीव्रता में नहीं, बल्कि स्थायित्व में होती है और स्थायित्व का आधार वस्तुतः व्यापक मानवीयता ही है। जब किसी अनुभूति का हम गहरी कहते हैं तो उसे मानवीय कहते हैं। और मानवीयता से व्यापकता खारिज नहीं है। मतलब यह कि मानवीयता की व्यापक भूमि पर ही कोई अनुभूति गहरी हो सकती है।

इस दृष्टि से देखने पर तथाकथित गहरी अनुभूति वाले सुनीता, त्यान शेखर, नदी के दीप जैसे उपन्यासों की गहराई की सीमाएँ प्रकट होने लगती हैं। व्यापकता की कमी से उनमें गहराई की कमी आ गई है। उनमें व्यापकता की कमी इस बात में नहीं कि राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक जीवन के चित्रण की उपेक्षा की गई है। केवल नारी-पुरुष के लिखने से ही कोई उपन्यास संकुचित नहीं हो जाताः संकुचित वह तब होता है जब प्रणय को संपूर्ण जीवन से काट कर चित्रित किया जाता है, और वे उपन्यास इसी अर्थ में संकुचित है। समस्या चाहे जितनी छोटी हो परंतु व्यापक रूप से उपस्थित की जाने पर बड़ी हो जाती है। किसी उपन्यास की व्यापकता इस बात में है कि वह जीवन की छोटी से छोटी समस्या को कितने बड़े परिवेश में और किस स्तर पर उपस्थित करता है।

व्यापक परिवेश में और ऊंचे स्तर पर किसी समस्या को रखने का कार्य वही लेखक कर सकता है जिसका सम्बन्ध अधिक से अधिक व्यापक सामाजिक परिवेश से हो और इस सम्बन्ध के विषय में जिसकी समझ का स्तर भी काफी ऊंचा हो। बड़ी मोटी बात है कि अपने बारे में ठीक से जानने के लिए अपने से सम्बन्धित दूसरे लोगों के बारे में भी जानना जरूरी है। लेकिन जो लेखक अपने को उस ग्रन्थि की तरह समझता है जिसके सभी सूत्र खो गए हैं, वह इन सम्बन्ध-सूत्रों को न तो जान सकता

है और न पा सकता है। 'जीवन की बढ़ती हुई जटिलता के परिणाम स्वरूप' जिनकी 'व्यापकता का घेरा क्रमशः अधिकाधिक सीमित होना चाहता है' उनको होनता-ग्रंथि ने अपनी संकीर्णता को ही गहराई का गौरव दे डाला है।

वैज्ञानिक अविष्कारों के कारण जीवन की जटिलता बढ़ रही है तो इसका मतलब है कि हमारे सामाजिक सम्बन्धों के सूत्र और भी व्यापक और घने हो रहे हैं। जरूरत इससे घबड़ाने की नहीं, बल्कि समझने की है। इन जटिल सम्बन्ध-सूत्रों को समझने और सुलझाने से ही हमारे व्यक्तित्व में समृद्धि आ सकती है और फिर ऐसे ही व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति साहित्य में श्रेष्ठता ला सकती है। मतलब यह है कि किसी अनुभूति की गहराई व्यापक परिवेश पर निर्भर है।

तोल्सतोय के 'पियरे' की नितांत निजी चिन्ताओं में अनुभूति की इतनी गहराई इसलिए हैं कि उसके पीछे सारे रूस की राष्ट्रीय स्वाधीनता का संघर्ष है 'अन्ना का अन्तर्द्वन्द्व इसीलिए इतना मार्मिक है कि उसके पीछे रूस के कुलीन घरानों के व्यापक नैतिक हरास की छाया है। प्रेम के साथ यहाँ सम्पूर्ण सामाजिक जीवन लिपटा चला आया है। इस तरह सम्बन्ध-सूत्र जोड़ने के लिए लेखक को व्यक्ति-व्यक्ति और क्षण-क्षण की अनुभूतियों का सम्बन्ध मिलाना पड़ता है। लेकिन गहराई का दम भरने वाले लेखक अलग अलग क्षणों में जीते हैं। उनका हर क्षण अपने में पूर्ण और एक दूसरे से अलग है। इसलिए वे क्षण-सुख और क्षण की अनुभूति का चित्रण करते हैं। क्षण की अनुभूति अर्थात् इन्द्रिय-बोध और क्षण-सुख अर्थात् इन्द्रिय-सुख निःसन्देह इन इन्द्रिय-बोधों के चित्रण में अत्यन्त तीव्रता होती है और इसी-लिए कुछ पाठक इन्हीं को अनुभूति की गहराई मान बैठते हैं। शशि की सप्तपर्णी छाँह में सोते की तरह सोने वाले शेखर के ऐन्द्रिय-बोध, तुलियन में रेखा के हिम-पिडों पर जमते और पिघलते भुवन का ऐन्द्रिय सुख और सुनीता द्वारा संपूर्ण इन्द्रियों को खुली दावत या गार्डन-पार्टी प्रायः अनुभूति की गहराई के रूप में स्मरण किए जाते हैं। कुछ आलोचकों ने इन स्थलों को अश्लील बताकर निंदा भी की है। लेकिन जो साहित्य के मूल्यांकन का नैतिक मानदंड स्वीकार ही नहीं करते उनकी 'गहराई' तो इस अश्लीलता से खंडित नहीं होती । इसलिए इनसे अनुभूति के उसी अखाड़े में मिलना होगा।

उन ऐन्द्रिय वर्णनों की दुर्बलता इस बात में है कि वे अनुभूति के प्रथम चरण तक ही रुक गये हैं। इन्द्रिय-चोध अनुभूति की केवल पहली अवस्था है। इसके बाद उनकी मानसिक प्रतिक्रिया भावानुभूति की सृष्टि करती है। जो अन्त में चिंतन के आलोक से आलोकित हो उठती हैं। परन्तु इन्द्रिय बीच को भाव और चिन्तत की अवस्थाओ तक ले जाने के लिए क्षणों के प्रवाह से गुजरना होता है। और शराणजीवी लेखक ऐन्द्रिय सुख के कण से आगे बढ़ते ही नहीं और बढ़ते भी हैं तो मन ही मन उसी क्षण को जीते रहते हैं। इसी तरह काल-प्रवाह में बहने से इनकार करके ये लेखक अपनी अनुभूति का सहज आवेग और विकास-क्रम भी खत्म कर देते हैं। बंधे हुए क्षणो की बंधी हुई उन अनुभूतियों में इसीलिए स्वास्थ्य और उल्लास का अभाव मिलता है। भाव घोर चिन्तन के कारण ऐन्द्रियको में गहराई इसीलिए भाती है कि इनमें क्रमशः साधारणीकरण की शक्ति अधिक होती है। विषेष ऐन्द्रिय बोध भाव और विन्तन की सामान्य के सहारे माता करता है। उपन्यास के किसी विशेष चरित्रके नदी कार्यकऐसे

ही सामान्य तत्वों के सहारे बहुतों की दिलचस्पी के हेतु बन जाते है। और इस तरह ह चरित्र किनी विचार का प्रतिनिधि बन जाता है।पनेचर के व्यतित्य को भावों और विचारों की जितनी भूमियों पर उद्घाटित करता है। उसमें उतनी ही शक्ति पाती है।

मतलब यह कि अनुभूति की गहराई हर हालत में अनुभूति की व्यापकता से निर्धारित होती है। व्यापकता का तिरस्कार करके जो लेखक गहराई लाने क दम भरता है, वह दरअसल संकीर्णता के अंधकूप में पड़ता है। उसकी अनुभूति का अर्थ संकुचित होता है और गहराई उथली होती है। 'तुलसी दास की भावुकता' पर विचार करते हुए आचार्य शुक्ल ने काफी पहले लिखा था कि जो केवल दाम्पत्य रति ही में अपनी भावुकता प्रकट कर सकें या वीरोत्साह का ही चित्रण कर सकें, वे पूर्ण भावुक नहीं कहे जा सकते। पूर्ण भावुक वे ही हैं जो जीवन की प्रत्येक स्थिति के मर्मस्पर्शी अंश का साक्षात्कार कर सकें और उसे श्रोता या पाठक के सम्मुख अपनी शब्द-शक्ति द्वारा प्रत्यक्ष कर सकें।" इसके बाद विस्तार और गहराई का प्रश्न उठाते हुये शुक्ल जी फिर कहते हैं कि गोस्वामी जी की भावात्मक सत्ता का अधिक विस्तार स्वीकार करते हुए भी यह पूछा जा सकता है कि क्या उनके भावों में पूरी गहराई या तीव्रता भी है? यदि तीव्रता न होती, भावों का पूर्ण उद्रेक उनके वचनों में न होता, 'तो वे इतने सर्वप्रिय कैसे होते ?' इससे गहराई और व्यापकता का सम्बन्ध स्पष्ट होता है।

साहित्यकार की गहराई इस बात में है कि वह सतह को तोड़ता है और इस तरह वह भ्रमों को हटाकर वास्तविकता का सही रूप उद्घाटित करता है। उद्घाटन-कार्य ही साहित्यकार का रचना-कार्य है। वास्तविकता का निर्माण वह उद्घाटन से ही करता है, भौतिक कारीगरों की तरह यह सचमुच कोई चीज नहीं बनाता । इसीलिए सात्र लेखक के पेशे को 'गौणकार्य' कहता है। उसके अनुसार 'लेखक वह आदमी है जिसने गौणकार्य करने का एक निश्चित तरीका चुन रखा है जिसे हम उद्घाटन-के-द्वारा कार्य कह सकते हैं। भाषा जो कि लेखक का सबसे बड़ा सायन है, जिह्वा का गौण ही कार्य है ।

सवाल यह है कि लेखक क्या उद्घाटित करता है? सबसे पहले वह अपना हृदय उद्घाटित करता है? लेकिन हृदय के माध्यम से क्या उद्घाटित होता है ? कुछ साहित्यकार ऐसे हैं जो अपने मन की गाँठें खोलते हैं, मन की एक-एक पर्त खोलकर रख देते हैं। चेतन की सतह के नीचे अवचेतन में पड़ी हुई बहुत सी बातों को खोलना ही उनके लिए सबसे बड़ा उद्घाटन कार्य है। इस तरह के साहित्यकारों ने अब तक अधिकांशतः सेक्स और अहं सम्बन्धी रहस्य का ही उद्घाटन किया है। साहित्य में गहराई का यह भी एक रूप है।

दूसरी ओर ऐसे भी लेखक है जो अपने मन के माध्यम से उस मन के साथ जुड़े हुए सैकड़ों दूसरे मनों का उद्घाटन करते हैं, इस तरह वे अपने मन के द्वन्द्व का उद्घाटन करते करते उस युग के पूरे समाज के संघर्ष को खोल कर रख देते हैं। तोल्सतोय ने 'युद्ध और शान्ति' में पियरे के माध्यम से अपने मन में जीवन और मृत्यु को लेकर चलते वाले संघर्ष का उद्घाटन करते करते सारे रूस के विभिन्न वर्गों में विभिन्न स्तरों पर चलते समस्त संघषों को खोल कर रख दिया। जैसा कि सभी लोग जानते हैं, 'संसार

की हर एक बात और सब बातों से सम्बद्ध है।' इसलिए यदि एक तथ्य का उद्घाटन किया जाय तो उसके साथ जुड़े हुए सैकड़ों तथ्य उघड़ते चले जायेंगे। जैसा कि अकबर इलाहलाहाबादी ने कहा है: मैं चाहता हूँ कि बस एक ही ख्याल रहे, मगर ख्याल से पेदा ख्याल होता है।

कोई लाख कोशिश करे कि मन एक ही ख्याल पर टिका रहे लेकिन मन का स्वभाव है कि वह उस ख्याल से जुड़े दूसरे खयालों पर दौड़ जाय । अगर आप कोई नेतिक समस्या लें तो उसका विश्लेषण करते ही अनेक धार्मिक समाजिक राजनैतिक और आर्थिक समस्याएँ उठ खड़ी होंगी।

इस प्रकार साहित्यकार अपने व्यक्ति से शुरू करके अनेक अन्तर्वैयक्तिक सामाजिक सम्बन्धों में चला जाता है और उसके साहित्य में इन सम्बत्यों की जटिलता गहरे से गहरे स्तरों पर व्यक्त होती चली जाती है। साहित्य में गहराई का यह दूसरा रूप है। सवाल यह है कि गहराई किस में ज़्यादा है ? उस रचना में जो केवल एक मन के विभिन्न स्तरों का उद्घाटन करती है अथवा उस रचना में जो एक मन के, अनेक मनों से विभिन्न स्तरों पर मिलने वाले, सम्बन्धों का चित्रण करती है ? फलाबेयर का 'मादाम बोवारी' और तोल्सतोय का 'अन्ना कैरेनिना' दोनों ही महान उपन्यास है। दोनों की नायिकाएँ अपने पति को छोड़कर दूसरे पुरुष की घोर आकृष्ट होती हैं फिर भी अन्ना के चरित्र में जो गहराई है वह मादाम बोबारी में नहीं है। अपने पुत्र शेरेजा के प्रति अन्ना का जो प्रेम है, वह उसे मादाम बोवारी से बहुत ऊँचा उठा देता है। यही नहीं, अपने प्रेमी ब्रॉस्की में कभी कभी उसे शेरेजा की झलक मिलने लगती है। इसके अतिरिक्त अन्ना में जो अन्तर्द्वन्द्व है उसका शतांश भी मादाम बोवारी में नहीं है। अन्ना के अन्तर्द्वन्द्व में इतनी गहराई क्यों है ? यह अन्तर्द्वन्द्र क्या उसके मन में अपने आप पैदा होता है? जब भी वह अपने परिचितों, मित्रों अथवा समाज के अन्य लोगों के सम्पर्क में आती है, उसके मन में एक नया तूफ़ान उठ खड़ा होता है। गहराई से विचार करने पर पता चलेगा कि अन्ना के अन्तर्द्वन्द्र की गहराई अन्ना के सामाजिक अन्तर्वेयक्तिक सम्बन्धों की जटिलता और विविधता से जुड़ी हुई है। इसलिये अन्ना का नैतिक स्तर भी मादाम बोवारी से बहुत ऊँचा है। अन्ना की प्रेम कहानी और नेतिक समस्या के बीच तोल्सतोय ने लेविन के कृषि सम्बन्धी कार्यों का टाट-पटोरा बुना है। व्यर्थ प्रतीत होती हुई भी ये घटनाएं अन्ना की भावात्मक गहराई को दूर तक प्रभावित करती हैं। अन्ना की दुःखान्त कहानी की पीठिका में लेविन की आत्म-चिन्ता सम्पूर्ण उपन्यास के स्वर को और भी मार्मिक बना देती है। यद्यपि लेविन की मृत्यु-भावना का प्रत्यक्ष सम्बन्ध अन्ना की आत्मपीड़ा से कहीं भी नहीं दिखता लेकिन लगता है कि दोनों के मूल में एक ही सा सामाजिक कारण है। लगता है कि अन्ना की जो व्यथा भावनाओं के रूप में व्यक्त होती है, वही लेविन के यहाँ चिन्तन के स्तर पर उठती है। और 'वेंजिएन्स इजमाइन, आइ विल रिपे'- बाइबिल का यह उद्धरण सम्पूर्ण सामाजिक पीड़ा का समवेत स्वर है। मादाम बोवारी की अपेक्षा अन्ना की गहराई का यही वस्तुगत कारण है। इससे साबित होता है कि व्यापक सम्बन्ध सूत्रों का उद्घाटन करने से ही भावों में भी गहराई आती है।

दरअसल जिसे हम भावों की गहराई कहते हैं वह भी भावों का ब्यौरा ही है और भावों के ब्यौरे का ही दूसरा नाम सम्बन्ध-सूत्र है। विभिन्न प्रकार की मानसिक प्रतिक्रियाओं से ही एक भाव के

अंतर्गत कई छोटे-छोटे। भाव उठते जाते हैं। इन भावों के पुंज से उपन्यास में किसी चरित्र का व्यक्तित्व समृद्ध होता है, किन्तु उस चरित्र के मन में वे भाव अन्य व्यक्तियों। और स्थितियों की प्रतिक्रिया से ही उत्पन्न होते हैं। एक ही भाव पर लिखी हुई दो कविताओं में से उसे हम अधिक गहरी कहते हैं जिनमें उस भाव के अन्तर्गत अनेक छोटी-छोटी अन्तर्दशाओं का चित्रण रहता है। सामान्य विलाप और दुःख की कविता में यही अंतर होता है। निराला की 'सरोज-स्मृति' में जो व्यथा की गहराई है वह व्यथा के विभिन्न सम्बन्ध- के कारण है। पुत्री की मृत्यु की दुखद स्मृति के बीच जीवन के अन्य दुखों की भी स्मृतियाँ जागती जाती है और उनके साथ-साथ सुख की मधुर स्मृतियों भी आती हैं और इन निजी स्मृति-चित्रों के बीच समाज के व्यापक संघर्ष की भी झलक मिल जाती है। यही वजह है कि 'सरोज स्मृति' अपने क्षेत्र में अद्वितीय कृति है। नये दर्दवादी कवियों के विलाप से निराला के दुःख में जो अधिक गहराई है उसका कारण उस दुःख की व्यापकता ही है। विरोधाभास तो यह है कि निराला की कविता अत्यधिक वैयक्तिक होते हुए भी इतनी सामाजिक है जब कि आज की बहुत सी निर्वेयक्तिवादी कविताएँ वैयक्तिक सीमा में ही बन्दी रह जाती है। प्रेमचंद की गहराई का भी यही रहस्य है कि वे चाहे नारी समस्या में अथवा किसान-समस्या, उसके विविध-सूत्रों को वे उकेल के रस देते हैं।

'सेवा सदन' मुख्यतः एक पराधीन नारी की मुक्ति-भावना को लेकर लिखा गया है। सुमन अपने पति के घर में नित्य अपमानित और उपेक्षित होती रहती है और एक दिन अपने पड़ोस में एक वेश्या को सम्मानित होते देख-कर स्वयं भी कोठे पर जा बैठती है। वहाँ जाने पर उसे पता चलता है कि इस अवस्था में भी उसका नारीत्व अपमानित होगा। फलतः वह उस कीचड़ से अपना उद्धार करती है। प्रेमचंद ने नारी की पराधीनता का चित्रण करते समय समाज के उन सभी वर्गों को उभार कर सामने ला दिया है जिनके कारण नारी पराधीन है। प्रेमचंद के सभी उपन्यासों में किसानों की मुक्ति का आन्दोलन नारी-स्वाधीनता के भाव से जुदा हुआ है। समाज की सर्वाधिक शोषित ये दोनों शक्तियाँ उनके उपन्यासों में एक साथ एक तरह से चित्रित होती है।

वास्तविकता के स्तर-स्तर उद्घाटित करने में प्रेमचंद का जबाव नहीं। 'गोदान' में होरी का साक्षात् शोषण कोई नहीं करता फिर भी होरी तबाह रहता है। तबाह वह इसलिए है कि अपने शरीर में लगी हुई जोंकों को नहीं देख पाता। लेकिन प्रेमचंद ने उन सबका उद्घाटन इस तरह किया है कि होरी के बाद आनेवाली पीढ़ी इन्हें पहचान ले। प्रेमचंद ने इस उपन्यास में भारतीय समाज का 'एक्सरे' करके रख दिया है और इसी को कहते हैं साहित्यकार का उद्घाटन-कार्य। सतह को इसी तरह तोड़ने का नाम गहराई है। लेकिन आज के बहुत से लेखक हैं जो वास्तविकता पर परदा डालने को ही गहराई समझते हैं। ये आज के शोषण और सामाजिक प्रगति पर रहस्य और दर्द के कुहासे का परदा डालते हैं। जो सत्य का उद्घाटन करने की ओर कदम ही नहीं बढ़ाता उसकी गहराई कैसी ?

सचाई यह है कि 'गहराई' के हिमायती अधिकांशतः अन्तर्मुखी हैं और अपने अन्दर निरन्तर सिमटते जाने को ही वे गहराई कहते हैं। परिस्थिति पर प्रहार करना तो दूर, वे उल्टे या पीछे भागते हैं, यदा सहरते चायं कूर्मोऽङ्गानिव सर्वशः । इसी को गुलेरी जी ने 'कछुत्रा धर्म' कहा है। इस तरह ये

लेखक जैसे जैसे अपने भीतर सिमटते जाते हैं, उसी क्रम से समाज से दूर होते जाते हैं। रत्नाकर जी की गोपियों की तरह उन्हें भी कहना चाहिए कि-

ज्यों ज्यों बसे जात दूरि दूरि प्रिय प्रान मूरि ,त्यों त्यों धंसे जात मन-मुकुर हमारे मैं ।

फिर भी ये रणछोड़-बहादुर अपने को पलायनवादी नहीं मानते, गोया-समाज से आसमान में भागना ही एक पलायनवाद है।

इस आन्तरिक पलायन को ये लेखक 'आन्तरिक सामाजिकता' कहते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि समाज विभिन्न व्यक्तियों के अन्दर रहता है। यदि ऐसी बात है तो व्यक्ति की सीमा से बाहर जो पारस्परिक सम्बन्ध हैं उनका नाम क्या होगा ? अगर यह कहें कि 'आन्तरिक सामाजिकता' का अर्थ है समाज को अपने अन्दर ले आना तो भी यह समस्या नहीं सुलझती। समाज के अन्दर रहे बिना समाज व्यक्ति के अन्तर में कैसे आएगा ? कमण्डल को नदी में डाले बिना कमण्डल में पानी कैसे आएगा? दरअसल यह सामाजिकता को चोर दरवाजे से अन्तर में घुसाने की तरकीब है-सामने से समाज को लेने का साहस नहीं है और उस पर यह हाल ! कोई पूछे तो उनसे कि अधिक गहराई कहाँ संभव है-समाज के अन्तर में या अंतर के समाज में ? अंतर की सामाजिकता कैसी होती है, इसका नमूना उनके दर्द भरे क्षीण विलाप में है। विलाप के स्वर में भी गहराई नदारद ! इसकी वजह यह है कि ताल के सूखने से उसकी व्यापकता के साथ गहराई भी कम होती है। अपने भीतर सिमटने से गहराई नहीं आती; गहराई आती है वास्तविकता के भीतर प्रवेश करने से ।

सच पूछिए तो सामाजिक वास्तविकता में प्रवेश करने पर ही हम अपने भी मन में प्रवेश करते हैं। जिन्होंने समाज की वर्तमान विषमता से आँखें मूद ली हैं, उन्हें अपने जीवन के बारे में भी सोचने-विचारने से छुट्टी है और यदि वे सोचते-विचारते भी हैं तो केवल निजी जरूरत की बातें । उनके सोचने में गहराई नहीं होती; इसीलिए उनमें मानवता नहीं होती । इस प्रकार गहराई की व्यापकता मानवता तक जाती है ।

12.6 व्यापकता और गहराई मूल्यांकन

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होता है कि साहित्य में 'गहराई' और 'व्यापकता' को अलग-अलग, विरोधी मानना आलोचनात्मक भ्रम है। जिन आलोचकों ने प्रेमचन्द को सतही और जैनेन्द्र-अज्ञेय को गहरा बताया, वे गहराई को केवल 'निजी अनुभूति', 'दर्द' या 'आत्म-केन्द्रित भावुकता' तक सीमित कर देते हैं। परंतु वास्तविकता यह है कि गहराई तभी सार्थक बनती है, जब वह व्यापक सामाजिक सन्दर्भों से जुड़कर सार्वभौमिक मानवीयता का रूप ले।

प्रेमचन्द की गहराई उनकी सामाजिक व्यापकता, जीवन की जटिल वास्तविकताओं के उद्घाटन और मानवीय सच्चाइयों की स्पष्टता में निहित है। इसके विपरीत, केवल क्षणिक अनुभूति, इन्द्रिय-बोध या संकुचित प्रणय-केन्द्रित कथा-विन्यास गहराई का आभास तो दे सकता है, लेकिन स्थायी और सार्थक रूप से उसे स्थापित नहीं कर सकता। इसी कारण जैनेन्द्र या अज्ञेय की कथित 'अनुभूति-गहराई' अक्सर सीमित प्रतीत होती है।

इस मूल्यांकन का मूल सत्य यह है कि किसी रचना की गहराई व्यापकता द्वारा ही प्रमाणित होती है, क्योंकि मनुष्य के अनुभव, भाव और चिन्ताएँ सामाजिक सम्बन्ध-सूत्रों और ऐतिहासिक संदर्भों में ही अपनी वास्तविक गहराई प्राप्त करते हैं। अतः साहित्य की श्रेष्ठता का मापदण्ड 'क्षणिक दर्द' नहीं बल्कि 'वास्तविकता का उद्घाटन' है—और इस कसौटी पर प्रेमचन्द जैसी रचनाएँ अधिक सशक्त सिद्ध होती हैं।

12.7 सारांश

'गहराई' और 'व्यापकता' को साहित्य में परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि पूरक तत्वों के रूप में समझा जाना चाहिए। कुछ आलोचक प्रेमचन्द की सामाजिक और यथार्थपरक दृष्टि को 'सतही' मानते हैं तथा जैनेन्द्र या अज्ञेय की आत्मकेन्द्रित अनुभूतियों को 'गहरा' कह देते हैं, पर वास्तविक गहराई वही है जो व्यक्तिगत अनुभवों को व्यापक मानवीय संदर्भों से जोड़ती है। प्रेमचन्द की रचनाएँ इसलिए अधिक गहन प्रतीत होती हैं क्योंकि उनमें नारी, किसान, शोषण और सामाजिक यथार्थ का सशक्त चित्रण मिलता है। इसके विपरीत, केवल निजी या क्षणिक अनुभूतियों तक सीमित साहित्य संकीर्ण और अस्थायी रह जाता है। अतः साहित्य में गहराई का आधार व्यापकता ही है।

12.8 शब्दावली

- व्यापकता – समाज, परिवेश, समय और मानवीयता की व्यापक भूमि।
- गहराई – अनुभूतियों की परतें, संबंध-सूत्रों का विस्तार।
- उद्घाटन – वास्तविकता की परतें खोलना।
- अंतर्मुखता – आत्म में सीमित रहना, समाज से दूरी।
- क्षण-अनुभूति – तत्कालिक, इन्द्रिय-प्रधान अनुभूति।
- सामान्यीकरण/साधारणीकरण – निजी अनुभूति को सामूहिक मानवीयता से जोड़ना।

12.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. हिन्दी साहित्य की आलोचना में 'गहराई' और 'व्यापकता' को लेकर मुख्य भ्रम क्या है?
   (क) दोनों समानार्थी हैं
   (ख) दोनों परस्पर विरोधी माने जाते हैं
   (ग) दोनों निरर्थक हैं
   (घ) दोनों केवल काव्य तक सीमित हैं
   सही उत्तर: (ख)
2. प्रेमचन्द को कुछ आलोचक 'सतही' क्यों मानते हैं?
   (क) उनकी भाषा कठिन है
   (ख) उनकी रचनाएँ ऐतिहासिक हैं

(ग) उनकी दृष्टि सरल और सामाजिक है

(घ) उनकी रचनाएँ आत्मकेन्द्रित हैं

सही उत्तर: (ग)

3. वास्तविक साहित्यिक गहराई किसमें निहित मानी गई है?

(क) निजी अनुभूति में

(ख) इन्द्रिय-बोध में

(ग) व्यक्तिगत अनुभव को सामाजिक संदर्भों से जोड़ने में

(घ) कल्पनालोक में

सही उत्तर: (ग)

4 . प्रेमचन्द की रचनाओं को अधिक गहरा क्यों माना गया है?

(क) उनमें भाषा की जटिलता है

(ख) उनमें व्यापक सामाजिक यथार्थ का उद्घाटन है

(ग) वे आत्मकथात्मक हैं

(घ) वे प्रतीकात्मक हैं

सही उत्तर: (ख)

9. साहित्यकार की सच्ची साधना किसमें मानी गई है?

(क) भाषा-प्रयोग में

(ख) प्रतीक-योजना में

(ग) सतह को तोड़कर यथार्थ के उद्घाटन में

(घ) कल्पना-विलास में

सही उत्तर: (ग)

12.10 निबंधात्मक प्रश्न

1- साहित्य में 'व्यापकता' एवं 'गहराई' का अंतर स्पष्ट करें

2- अनुभूति की गहराई और अनुभूति की व्यापकता का परस्पर संबंध स्पष्ट करें।

3- जैनेन्द्र और अज्ञेय के संदर्भ में 'अनुभूति की गहराई' का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

12.11 संदर्भ ग्रंथ सूची/ सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1-हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास –डॉ बच्चन सिंह राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली , प्रथम संस्करण, 1996, संशोधित संस्करण, 2006

2-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान नयी दिल्ली, संस्करण 2010

3-इतिहास और आलोचना- डॉ नामवर सिंह, संजीवनी वस्त्र भंडार, लोक भारती, महात्मा गांधी मार्ग,इलाहाबाद

4-हिन्दी साहित्य का इतिहास –डॉ नगेंद्र, डॉ हरदयाल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस अंसारी रोड दरियागंज, 2009

इकाई 13 निषाद बाँसुरी (कुबेरनाथ राय) : पाठ एवं मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा
13.1 उद्देश्य
13.2 प्रस्तावना
13.3 कुबेरनाथ राय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
13.4 निबंध का वाचन : निषाद बाँसुरी
13.5 निबंध का सार
13.6 संदर्भ सहित व्याख्या
13.7 अंतर्वस्तु
13.7.1 विचार पक्ष
13.7.2 भाव पक्ष
13.8 संरचना शिल्प
13.8.1 भाषा
13.8.2 शैली
13.9 प्रतिपाद्य
13.10 सारांश
13.11 शब्दावली
13.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.13 संदर्भ ग्रंथ सूची
13.14 सहायक पाठ्य सामग्री
13.15 निबंधात्मक प्रश्न

13.1 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप कुबेरनाथ राय के ललित निबंध 'निषाद बाँसुरी' से परिचित हो सकेंगे। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप :

- 'निषाद बाँसुरी' से परिचित हो सकेंगे और उसके महत्वपूर्ण अंशों की व्याख्या कर सकेंगे।
- निबंध में अभिव्यक्त भावों और विचारों का विश्लेषण और विवेचन कर सकेंगे।
- ललित निबंध की विशिष्टताओं को समझने के साथ 'निषाद बाँसुरी' की भाषा और शैलीगत विशेषताओं को समझ सकेंगे।
- 'निषाद बाँसुरी' के मूल प्रतिपाद्य को समझ सकेंगे।

13.2 प्रस्तावना

हिंदी निबंध प्रश्न पत्र की यह चौदहवीं इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के पहले आपने हिंदी निबंध के परिदृश्य को समझ लिया है। साथ ही इस निबंध के पूर्ववर्ती महत्वपूर्ण निबंधों को भी आपने विस्तार से समझते हुए निबंध-परंपरा से आप वाक़िफ़ हो चुके हैं। आपने निबंध के स्वरूप और हिन्दी निबंध के विकास का भी अध्ययन कर लिया है। विकास-क्रम में कुछ महत्वपूर्ण निबंधों के महत्वपूर्ण अंशों का भी आपने अध्ययन किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और विद्यानिवास मिश्र के ललित निबंधों से आप परिचित हो चुके हैं। ललित निबंध की अगर कोई त्रयी बनायी जाये तो वह हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र और कुबेरनाथ राय की बनेगी। अब आप इस अध्याय में कुबेरनाथ राय के ललित निबंध से परिचित होंगे।

'निषाद बाँसुरी' ललित निबंधकार कुबेरनाथ राय का चर्चित निबंध है। कुबेरनाथ राय ललित निबंध त्रयी में मौलिक उद्भावना के लिए जाने जाते हैं। विद्यानिवास मिश्र पर हजारी प्रसाद द्विवेदी का गहरा असर है जबकि कुबरनाथ राय द्विवेदी जी के प्रभावों से मुक्त होकर ललित निबंध की दुनिया में एक नवीन और मौलिक उद्भावना अपनाने के लिए प्रयत्न करते दिखते हैं। कुबेरनाथ राय की नज़र में किसी भी जाति की मूल प्रकृति का निदर्शन उसके काव्य-साहित्य में होता है तथा उसकी बौद्धिक गरिमा एवं उदात्तता का परिचय उसके निबंध-साहित्य से मिलता है। कुबेरनाथ राय के अनुसार, "निबंध ही किसी जाति के ब्रह्म-तेज को व्यक्त करता है। ललित निबंध भी गद्य में काव्यधर्मी होने के बावजूद इस दायित्व से छुट्टी नहीं पा सकता।"

कुबेरनाथ राय के निबंधों में भारत की मूल प्रकृति अपनी बौद्धिक गरिमा एवं उदात्तता में निदर्शित हुआ है। काव्य के आस्वाद लिए हुए ललित होने के कारण भारत के मूल प्रकृति एवं बौद्धिक गरिमा और उदात्तता का निरूपण इनके निबंधों में होता है। इनका लालित्य बोध मुखर और आत्मिक मूलाधार (Spiritual Base) भारतीयता की आत्मा को अभिव्यक्त करने वाली है। ये निबंध कल्पना-प्रवण और चिंतन युक्त हैं। इनके निबंधों का वैचारिक आधार भारतीय आभिजात्य परंपरा, शाक्त, वैष्णव-धर्म-साधना और आधुनिकता-बोध से निर्मित होता है। कुबेरनाथ राय रवीन्द्रनाथ टैगोर के अतिरिक्त शेक्सपीयर, लैंब, हैजलिट, श्रीनारायण चतुर्वेदी, हजारी प्रसाद द्विवेदी से प्रभावित थे। कुबेरनाथ राय के निबंधों में नवीन रस-भूमि की खोज और पाठकों के मानसिक क्षितिज को विस्तृत करने की कोशिश दिखायी पड़ती है।

निषाद बाँसुरी को ख़ुद कुबेरनाथ राय 'गंगातीरी लोक-संस्कृति की चित्र-शाला' कहते हैं। इसमें गंगा के तटों के आर्य लोक-संस्कृति के निर्माण में श्रमजीवी निषादों के योगदान को रेखांकित किया है। कुबेरनाथ राय के अनुसार "भारतीय धरती के आदि मालिक निषाद ही थे। भारतीय भाषाओं की मूल

संज्ञाएँ, भारतीय कृषि के मूल और आदिम तरीक़े और भारतीय मन के आदिम संस्कार उन्हीं की देन है।"

कुबेरनाथ राय के संबंध में डॉ. रामचन्द्र तिवारी का मानना है कि श्री कुबेरनाथ राय अपने व्यापक अध्ययन, मिथकीय समीक्षा-सामर्थ्य, प्रकृति संबंधी सोच, लोक-संपृक्ति, संस्कृति-निष्ठा एवं चिंतन-कवित्व-संश्लेषण-जनित विशिष्ट रचना भंगिमा के कारण प्रथम पंक्ति में अधिष्ठित हैं।

वहीं डॉ सतेंद्र का मानना है कि "इनके निबंधों में सांस्कृतिक संदर्भों से फूटते हुए जीवन के आधुनिक आयामों तथा उनमें से झाँकते जीवन को देखा जा सकता है। विषय प्रतिपादन की दृष्टि से इनके अनेक निबंधों में प्रताप नारायण मिश्र अथवा बालकृष्ण भट्ट के निबंधों की सी शैली परिलक्षित होती है।"

13.3 कुबेरनाथ राय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

हिंदी निबंध साहित्य परिदृश्य में कुबेरनाथ राय का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। ये साठोत्तरी पीढ़ी के निबंध लेखकों में भारतीय संस्कृति के उदात्त स्वरों को आधुनिक जीवन-मूल्यों एवं संदर्भों में व्याख्यायित करने वाले रसग्राही ललित निबंधकार माने जाते हैं। कुबेरनाथ राय मुख्यतः आत्मव्यंजक ललित निबंधकार माने जाते हैं और रूप संरचना की दृष्टि से ये निबंध संश्लिष्ट और निर्बंध रूप प्रस्तुत करते हैं। इनके बारे में आलोचक विनोद तिवारी का मानना है कि "कुबेरनाथ राय की निर्बन्धता साध्य या केवल शैली-चमत्कार नहीं है। यह निर्बन्धता लेखक की समग्र जीवन-दृष्टि द्वारा अनायास सिद्ध हुई है। संवेदन की निरन्तरता जहाँ इन निबन्धों को संश्लिष्ट बनाती है, वहीं चेतना-प्रवाह की शैली निबन्ध के पारम्परिक अनुशासन को तोड़ती चलती है और उसे उच्चता तथा जीवन्तता प्रदान करती है। ये निबन्ध मात्र आलोचनात्मक ही नहीं, वरन् सर्जनात्मक भी हैं। इनमें जीवन-मूल्यों के प्रति गहरी प्रतिबद्धता का भाव है, मुक्ति का नहीं, इनमें जीवन और जन्म के प्रति गहरा मोह है।"

इनका जन्म 26 मार्च, 1933 को उत्तरप्रदेश के ग़ाज़ीपुर जिले के मनसों ग्राम में एक कृषक परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम बैकुंठ नारायण और माता का नाम लक्ष्मी राय था। इनकी शिक्षा काशी हिंदू विश्वविद्यालय और कलकत्ता विश्वविद्यालय से हुआ। छात्र जीवन से ही आपकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी थी। श्री नारायण चतुर्वेदी के संपादकत्व में पहली बार आपकी रचना प्रकाशित हुई। माधुरी और विशाल भारत में आपके कई निबंध प्रकाशित हुए। आप अंग्रेजी भाषा के अध्यापक एवं असम के नलबारी कॉलेज के अंग्रजी भाषा विभाग के विभागाध्यक्ष रहे एवं गाजीपुर के स्वामी सहजानंद सरस्वती महाविद्यालय के प्राचार्य रहे। 1962 से आपने लिखना प्रारंभ किया और आप जीवन पर्यन्त लिखते रहे। ललित निबंधकार के रूप में आपकी ख्याति प्राचीन भारतीय संस्कृति के गहन अध्ययन एवं आधुनिक दृष्टि के आलोक में विषय विवेचन आपकी प्रतिष्ठा का आधार बना। आपके लेखन में

परम्परा और आधुनिकता का मेल दिखायी पड़ता है। आपका पहला निबंध हेमंत की संध्या धर्मयुग में 1964 में प्रकाशित हुआ।

आपकी प्रमुख निबंध संकलन हैं—प्रिया नीलकंठी; निषाद बाँसुरी; विषादयोग; पर्णमुकुट; रस आखेटक; गंधमादन; महाकवि की तर्जनी; पत्र, मणि पुतुल के नाम; मन पवन की नौका; किरात नदी में चंद्रमधु; दृष्टि अभिसार; त्रेता का वृहत्साम; कामधेनु; मराल; उत्तरकुरु; चिन्मय भारत; वाणी का क्षीरसागर

काव्य : कथामणि

अन्य : पुनर्जागरण का अंतिम श्लाका पुरुष : स्वामी सहजानंद सरस्वती

निधन : 5 जून, 1996

13.4 निबंध का वाचन : निषाद बाँसुरी : कुबेरनाथ राय

"सप्तमी का चाँद का कब का डूब चुका है। आधी रात हो गयी है। सारा वातावरण ऐसा निरंग-निर्जन पड़ गया है गोया यह शुक्ला सप्तमी न होकर शुद्ध नए-चंद्र निशा हो। अभी-अभी हमारी नाव 'झिझिरी' अर्थात नौका-विहार खेलकर लौटी है। नाव को तट से बाँधकर चंदर भाई फिर 'गलई' अर्थात् इसके अग्रभाग पर आ विराजते हैं और प्रस्ताव करते है- "यार, अब सोने कौन जाए? पहर-डेढ़ पहर जो रात बची है, बातें करते-करते काट देंगे। पर चार-पाँच वर्षों से जब मैं घर आता हूँ तो एक पूरी संध्या और उससे जुड़ी हुई रात्रि अपने बाल-सखा चंदर माझी को समर्पित करता हूँ। अपनी प्यारी नदी के सान्निध्य में जिसकी सेवा वे जन्म से ही बड़े मनोयोगपूर्वक कर रहे हैं, मैं इनका आतिथ्य ग्रहण कर कृतकृत्य होता हूँ और ये मुझे नौका नयन के दो-चार गीत सुनाते हैं, और सबमें बढ़कर चंद्रविगलित ज्योत्स्ना में नदी के एकांत वक्ष पर 'झिझिरी' खेलने का अवसर देते हैं, तब मेरा आदिम निषाद-मन मुझे कुछ क्षणों के लिए पुनः इस जन्म में भी मिल जाता है। मेरा विश्वास है, और मैं इस 'विश्वासं अप्रमेंयम्' अर्थात प्रमाण-अप्रमाण के द्वंद्व से परे का विश्वास मानकर बैठा हूँ, कि किसी जन्म में मैं गंगातीरी निषाद अवश्य था अन्यथा इस नदी के प्रति इतनी मोह-माया, इसमें इतना माँ जैसा भरोसा और बल क्यों अनुभव करता! नदी के प्रति आसक्ति ही शायद यह कारण है कि यह अंगूठियाँकेशी, गठीला बदन, निरक्षर निषाद युवक मेरा इतना घनिष्ठ हो उठा है।

यों भी चंदर है बादशाही तबियतवाले। बात के धनी, मन से उदार और विपत्ति में घोर साहसी। हाथ में अंकारी रहने पर जल या थल के किसी श्वापद का सामना करने को तैयार। गत वर्ष, ब्याहने गये एक को, पर लौटे दो के साथ और दोनो बहुओं का क्या ही कवित्वपूर्ण नाम रखा है 'रूपसी' और 'पियासी', जो गंगा की धारा में पायी जानेवाली दो तरह की मछलियों के नाम हैं। कहते हैं कि बेटे का नाम रखेंगे

रोहित। ऐसे 'मन को बड़ो महीप' के साथ मेरी दोस्ती न होना ही अस्वाभाविक होता। मुझे लगता है मीन-मिथुन-जैसी दो बहुओं के बीच वे एक पद्मफूल हैं।

आज मैं घंटों नौका विहार कर के भी, चंदर भाई के साथ, थकावट नहीं महसूस कर रहा हूँ। इस सुनसान निरंग-निर्जन में वे अपने पुरुष कंठ से सीधी नदी को जगाने के लिए एक पुराने गान की आवृत्ति करते हैं। इस निचाट स्तब्धता में यह गान किसी अपदेवता के कंठस्वर-जैसा सुनाई पड़ता है और मैं एकाध बार चंदर को अँधेरे में भी देखने की चेष्टा करता हूँ कि चंदर ही हैं न! क्योंकि इस क्षण में और इस जगह पर क्या ठिकाना कब क्या हो जाए! पास में ही मुर्दाघाट है। आख़िर रात तो इन्हीं रात्रिचरों के हिस्से में है। हमारे हिस्से में तो दिन है, जिसमें ये सब चुपचाप अदृश्य या निश्चल रहते हैं। पर जैसे-जैसे रात भीगती जाती है, श्वापद-आरण्यक, पेड़-पल्लव, घाट-बाट, भूत-प्रेत सभी धीरे-धीरे जग जाते हैं और उस समय वे या तो काना-फूसी करते हैं अथवा निःशब्द एवं क्रूर आहार-विहार। यदि ऐसे में कोई हँसे, कोई गान गाये, कोई इनके एकांत में ख़लल डाले तो फ़िर ये भी उसे दंडित कर सकते हैं। मैं डोंगी के चौड़े तख़्ते पर लेटा हूँ और चंदर 'गलई' पर बैठे-बैठे गान भरपूर खुले कंठ से गा रहे हैं। सुनते हुए मुझे लगता है कि हम दोनों बंधु किसी भी भूत-प्रेत से कम नहीं।

गंगा मैया,
कोई जे सोवेला रन बन,
कोई जे बेइलिया बने हो!
कोई जे सोवेला बलुआ के रेतवा
त' तोहरे सरन धइले हो!
गंगा मैया,
राजा जे सोवेला रन बन,
रानी बेइलिया बने हो!
मलहा त' सोवेला बालू क रेतवा,
त' तोहरे सरन धइले हो!"

निषाद प्रार्थना कर रहा है : ओ माता, ओ गंगा मैया, सोयी हो या जागी हो? ज़रा उठो देखो, मेरी बोझी हुई नाव, मेरी 'बरधी' इस बालू के रेत में अटक गयी है। माँ, मैं तुम्हारी शरण में नित्य रहने वाला निषाद हूँ। तुम्हारा ही आश्रय गहकर चलता हूँ। ओ माँ, राजा तो रणभूमि में शिविर में सोता है, रानी महँ-महँ सुवासित बेला-वन में सोती है, पर मैं दीन निषाद तुम्हारे तट की बालूमयी रेती पर सोता हूँ और तुम्हारे बल पर निर्भर रहता हूँ। आज मेरी नौका 'चोर बालू' में फँसी है और बालू नाग की तरह कुंडली मारकर नाव को भीतर खींचता जा रहा है। माँ, अब मैं गया! जगी हो या सोयी हो जल्दी उठो। मैं, मेरी नाव, नाव पर लदा सार्थ, सब तुम्हारी शरण में।" नदी रात-भर श्वापदों और आरण्यकों को पानी पिलाती रही है। अभी-अभी सोयी है। अभी वह कच्ची नींद या 'बालिका नींद' में है। उसकी 'बारी नींद' में निषाद

का करुण आह्वान ख़लल डाल रहा है। पर नदी को जगना ही पड़ता है। नदी के बिना, नदी के आशीर्वाद मात्र से बाहु-विक्रम से कोई पार नहीं पा सकता। इसी से निषाद कातर कंठ से प्रार्थना कर रहा है : माँ, जल्दी कर, अब भरोसा टूट रहा है। नदी की 'बारी' नींद टूट जाती है और वह आँख मलती उठती है, पहचानती है कि यह और कोई नहीं उसकी बालू पर आजन्म खेलने-खानेवाली उसकी प्यारी संतान ही है। नदी उठकर भरमुँह, कंठ खोलकर, आशीष देती है, नखशिख-रक्षा कवच देती है और साथ ही नाव के अंदर वेग भरती है। इस प्रकार कर्त्तव्य का, कर्म का भार लादे हुए वह नाव धर्म के घाट जा लगती है जो सबसे सुरक्षित घाट है और सार्थ सुरक्षित पार उतर जाता है।

स्तब्ध निचाट रात में मानव कंठ का ऐसा मुक्त प्रार्थना-संगीत निश्चय ही क्रुद्ध रात्रिचरों को, कपटी कामरूपी अपदेवताओं को और साँप-जैसी फण काढ़े वन्या की क्रुद्ध लहरों को, सब कुछ को, अपने वशीकरण से बाँध सकता है, ऐसा अनुभव करते-करते मैं इस गान को सुन रहा था, और बिना दाद या प्रशंसा की प्रतीक्षा किए हुए चंदर एक गीत के बाद दूसरा गीत उठाते जा रहे थे। लगातार पाँच गीत मैं सुनता रहा, एक से एक अपूर्व। अंतिम गीत का भाव कुछ इस प्रकार था : ओ नदी, ओ माता! मेरी नाव पूरब देश से धीमे-धीमे लौट रही है। यह नाव तुम्हारी पूजा के लिए रँगी हुई पियरी से बोझी है, तिरंगी चुनरी से बोझी है, इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो। ओ माँ, यह नाव तुम्हारे शृंगार के लिए हार-फूल से बोझी है, जवाकुसुम और कनेर से बोझी है, तुम्हारी सात पुष्पांजलियों के लिए इस पर केले के पत्तों पर शेफाली के फूल लदे हैं, इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो। ओ माँ, इस नाव पर तुम्हारी माँग के लिए सिंदूर और श्रीअंगों के लिए हल्दी बोझी गयी है। इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो। ओ माँ, यह नाव तुम्हारे चरणों पर अर्घ्यधार गिराने के लिए लौंग-मधु और दूध के सात घटों से बोझी है। इसे धीमे-धीमे निर्भय चलने का आशीर्वाद दो।

गान के अंतिम भाग में नदी अपने निषाद-शिशु की बात सुनकर भरमुँह अर्थात मुक्तकंठ कलकल ध्वनि से आशीर्वाद देती है : ओ निषाद, जैसे मेरे जल को कोई काटकर दो टुकड़े नहीं कर सकता वैसे ही तू भी अखंड-अच्छेद्य है। और जब तक मैं हूँ, जब तक मेरी धारा है, तब तक तू भी वर्तमान है। गीत सुनकर मुझे लगा कि यह नदी हाथ उठाकर कुछ और भी कह रही है जिसे चंदर सुनते हैं, पर समझ नहीं पाते हैं, परंतु मैं खूब समझ रहा हूँ। मुझे लगा कि नदी कह रही है कि ओ निषाद, तेरी संस्कृति, तेरे संस्कार, तेरा मन, सब कुछ इस जल की तरह है, जो टूटता नहीं, कटता नहीं, भले ही दब जाता है और आकृति बदल लेता है, पर अस्तित्वहीन नहीं होता है- यहाँ तक कि सूख जाने पर भी या तो अंतःसलिला का अंग बन जाता है या उड़कर मेघ बनकर पुनः लौटता है। भारतीय धरती के आदि-मालिक निषाद ही थे। भारतीय भाषाओं में मूल संज्ञाएँ, भारतीय कृषि के मूल और आदिम तरीके और भारतीय मन के आदिम संस्कार उन्हीं की देन हैं।

इस अर्थ में निषाद-द्रविड़-आर्य-किरात इन चारों महाकुलों में निषाद ही अग्रज हैं। परंतु मध्य प्रदेश आदि कुछ क्षेत्रों को छोड़कर इसका इतना घोर आर्यीकरण हो चुका है कि आज यह पहचाना नहीं जा सकता। ऊपर-ऊपर से यह स्वयं निषादत्व खोकर आर्य हो चुका है, पर भीतर-भीतर तथाकथित भारतीय आर्य का अंग विश्लेषण करें तो पता चलता है कि इस महानायक की रचना द्रविड़ संस्कृति करती है, अस्थि धर्म की रचना में किरात-संस्कृति की रंग-बिरंगी बनावट है और इसके मनोमय कोषों की रचना आर्य-सरस्वती करती है। चंदर के अंदर तो निषाद-संस्कार ही हैं, वह तो गंगातीरी निषादों की सातों आर्यीकृत 'कुरियों' में से एक से संबंधित ही हैं, जिन्हें रामचंद्र ने पावन कर दिया था। परंतु यह मैं जो अपनी 'स्वधा' को 'वत्स-भुगु-यमदग्नि-च्यवन-आप्नवान' के पंचप्रवर में जोड़ता हूँ मैं भी इस आदिम निषाद से वंचित नहीं हूँ। मेरे संस्कार प्रवाह में भी यह बैठा है। मेरी भाषा, मेरे भोजन-पान, मेरी खेतीबाड़ी-हरबा-हथियार के मध्य वह कृष्णकाय आदिम निषाद अपने को व्यक्त कर रहा है, जिसने विश्व में सर्वप्रथम इसी गंगा घाटी में धान-चावल का आविष्कार किया था, भैंस को दुधारू बनाया था, जड़ी-बूटियों और फलों को पहचाना था और उन्हें नाम दिया था तथा खेती के औजारों को गढ़ा था। चंदर भाई के गुरु रामदेवाजी के मुँह से मैं निषाद कुल की गरिमा की अनेक ऊल-जलूल बातों को सुनता आ रहा हूँ और आश्चर्य होता है कि कभी-कभी उन बातों का आधुनिक भाषाविज्ञान और पुरातत्त्व से अजब सटीक बैठ जाता है।

चंदर मुझसे अकसर कहा करते हैं : "अरे हम लोग ज़रा काले हैं, नहीं तो आप लोगों से नीच थोड़े हैं!..." और प्रमाण न पूछने पर भी रामदेवाजी की अपूर्व ऊल-जलूल थ्योरी का संदर्भ तुरंत देते हैं, जिसे सुनकर मैं भौचक्का रह जाता हूँ। तर्क करने जाऊँगा तो चंदर डपटकर कहंगे- "अरे गोसाईं जी को पढ़ो गोसाईंजी को! है न? 'तुलसी सुनि केवट के वर बैन हँसे प्रभु जानकि ओर हहा है।' सोचो जरा, प्रभु जानकी की ओर देखकर क्यों हँसे! क्यों न लक्ष्मण की ओर देखकर हँसे? बोलो?" और भाई, गोसाईंजी बड़े सावधान लेखक थे। उनके एक-एक 'लफ़्ज़' का भी मतलब है, बेमतलब तो उन्होंने कहा ही नहीं है। यहाँ पर मतलब यह है कि और तब गुरु रामदेवाजी की शैली में तर्जनी नचाते हुए चंदर भाई तौल-तौलकर शब्दों की चोट करते हैं, "मतलब यह कि रामचंद्र जी सीताजी की ओर इशारा कर रहे हैं, कि यह निषाद तो समवर्ण का है, अतः कहीं पाँव धोने के हठ के बहाने कन्यादान करने का उपक्रम तो नहीं कर रहा है? पर इस गूढ़ भाव को सबके सामने कैसे कहें! इसी से सीता की ओर नज़र मारकर हँस देते हैं।" मुझे स्मरण है कि जिस दिन प्रथम बार इस थ्योरी से परिचित हुआ था, उस दिन अपनी सारी पढ़ी हुई विद्या को धिक्कारता हुआ घर लौटा था।

पहली बार यह बात ऊटपटाँग अवश्य लगी थी। परंतु कालांतर में भारत की मौलिक जातियों के संबंध में श्री बी.एस. गुहा, डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या और डॉ. हटन आदि के प्रबंधों को पढ़ने पर मुझे लगा कि इक्ष्वाकुओं और निषादों की कुल परंपरा के संदर्भ में यह थ्योरी अक्षरशः सत्य भले ही न हो, परंतु

यह सारी बात बिल्कुल वृषभदुग्ध या शश-शृंग-जैसी भित्तिहीन नहीं। आधुनिक पंडितों का विचार है कि रामायण कि मिथक निषादकल्पना से प्रसूत है।

निषाद वृषाकपि देवों और अपदेवताओं को पूजने वाली जाति है। वैदिक आर्यों में अवतारवाद स्वीकृत ज्ञात होता है, परंतु अत्यंत हलके तौर पर। 'त्रिविक्रम विष्णु' या 'गोपा विष्णु' के उल्लेख अवतार के द्योतक न होकर देवता के बहुरूपी रूपांतर के द्योतक हो सकते हैं। देवता प्रेममय है और हमारे त्राण के लिए वह 'माया वपु' धारण करता है, इस तथ्य का दृढ़ आधार वैदिक मंत्रों में नहीं मिलता है। इसी से आधुनिक विद्वानों की कल्पना है कि भारतीय संस्कारों में अवतारवाद का प्रवेश निषादों-जैसी आनंदवादी और द्रविड़ों-जैसी भाववादी जातियों की कल्पना का दान है।

इस संदर्भ में स्मरण रखने की बात यह है कि रामायण की मिथक को प्रधान संपादक वाल्मीकि की छंद सरस्वती का जागरण एक निषाद द्वारा किये गयें क्रौंचवध के फलस्वरूप ही संभव हुआ था। पूरी रामायण की कथा भले ही निषाद-कल्पित न हो, परंतु उसके ताने-बाने में कुछ प्रसंग और कुछ विश्वास तो अवश्य ही ऐसे हैं जो निषादों में प्रचलित रहे होंगे। संभवतः वाल्मीकि के समय निषादों में किसी उनके ही रंग के अनुरूप "नील सरोरुह श्याम तरुण अरुण वारिज नयन" देवता की कल्पना एवं उसके महा अवतरण में विश्वास प्रचलित रहा होगा, जो आकर इन निषादों को पाप-ताप से मुक्त करके गले लगाएगा और पंक्ति-पावन कर देगा।

किसी चरम देवता अथवा परम पुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा बहुत काल से निषाद जाति कर रही थी। किसी 'दूर्वादलश्यामं' देवता के आगमन की, उसके द्वारा महिमा-मंडित और पुण्यशाली बनाये जाने की कल्पना पुरुष प्रति पुरुष निषाद जाति करती आ रही थी, और इसी बीज में इक्ष्वाकुओं के आर्यकुल में एक प्रतापशाली राजपुरुष का जन्म हुआ, और उसके शील-स्नेह और चरित्र में तथा शताब्दियों प्रतीक्षित देव कल्पना में साम्य दिखाई पड़ा, और इक्ष्वाकुवंशीय कुमार को, उसके अलौकिक कर्म को, अपने महादेवता के अवतरण के रूप में देखा। ऐसा होना असंभव नहीं।

परंपरा के अनुसार वाल्मीकि ने जब राम को अपने महाकाव्य का नायक चुना, तो उनकी प्रजा में उक्त निषाद-विश्वास निरंतर सक्रिय रहा और उन्होंने गौरवपूर्ण आर्यवीय कुमार को दूर्वादल श्याम एवं नीलोत्पल श्याम रूप में देखा, तथा कथा के अंदर वृषाकपियों का प्रसंग लाकर निषाद-कल्पना को पुनः नया संस्कार दिया। वाल्मीकि गंगा और तमसा के बीच के अरण्य में रहते थे और प्रचलित निषाद-विश्वासों से उनका न प्रभावित होना ही अस्वाभाविक होता। रामकथा इस बात का प्रमाण है कि गंगातीर के निषादों का जीवन रामचंद्र द्वारा ही संस्कार-समृद्ध किया गया है। अतः राम का उनकी कल्पना के केंद्र में प्रवेश कर जाना असंभव नहीं। हो सकता है कि निषादों की कल्पना रही हो कि उनका प्रिय देवता जब माया-मनुष्य बनेगा, तो उसे विमाता दुःख देगी, उसे वन-वन भटकना पड़ेगा, वह दुखी देवता ही निषादों का आलिंगन कर के उन्हें परम पावन और शुद्ध बनाएगा और वही देवता ऐसा सुशासन

स्थापित करेगा कि धरती पर से रोग-शोक-पाप की छाया हट जाएगी और दुःखी कोई नहीं रहेगा। और इस निषाद-कल्पना को राम के ऐतिहासिक चरित्र में वाल्मीकि ने संभवतः अंतर्मुक्त कर दिया है।

यह तो सभी जानते हैं कि असम, बंगाल या अन्य प्रदेश की निषाद जातियों यथा कैवर्तीं, धीवरों, तीयरों या मध्यप्रदेश के मुंडा, कोल आदि को जो भी माना जाता रहा हो, परंतु सनातन से गंगातीरी केवटों और माझियों को पवित्र माना जाता रहा है, तथा उनके द्वारा स्पर्श किया हुआ जल सनातन काल से ग्रहण किया जाता रहा है, क्योंकि रामचंद्र और बाद में इक्ष्वाकुओं के कुल-पुरोहित वशिष्ठजी ने निषादराज का आलिंगन कर के उनकी अस्पृश्यता समाप्त कर दी थी और उन्हें आर्य-महिमा से मंडित कर दिया था। राम नाम की सील मुहर के आगे मनुस्मृति भी नतमस्तक है। इस मिथकीय प्रसंग का ऐतिहासिक तात्पर्य यह है कि इक्ष्वाकुवंशीय आर्यों के संसर्ग में आकर गंगातीर के निषादगण आर्य सभ्यता के अंतर्गत आ गये। यहाँ तक कि निषादों ने भाषा भूलकर आर्य भाषा को ही मातृभाषा मान लिया। उनका खान-पान, रहन-सहन, आर्यों की पद्धति पर यथा सामर्थ्य चला गया। गंगातीर के केवट कहते हैं कि रामचंद्रजी ने उन्हें दो हुक्म दिये थे। एक तो नाव को तट पर बाँधकर भी जल में ही छोड़ देना, घसीटकर बालू पर नहीं करना। दूसरा यह कि कच्ची मछली कभी मत खाना। सदा नमक-हल्दी-सरसों देकर मछली खाना या भूनकर नमक के साथ खाना। यह दूसरी आज्ञा देखने में भले ही साधारण लगे, पर उनके अंदर नागरिकता और आर्य रीति के प्रवेश कराने का प्रयत्न है। अन्य प्रदेशों के निषादों की अपेक्षा गंगातीर के निषादों की चाल-चलन, कथन-भंगिमा आदि में विशिष्ठ गौरव झलकता है। अन्य जातियों के अपने-अपने लोककाव्य हैं, यथा अहीरों की 'लोरकी', कहारों का 'बिहुला' आदि। निषादों में नौका-नयन और प्रेम संबंधी फुटकल गीत अवश्य हैं, परंतु कथाकाव्य की जगह वे तुलसीदास की रामायण ही गाते हैं। राम ही उनके लोकनायक हैं, अन्य कोई नहीं। राम के प्रति उनमें एक सहज समर्पण और मोह है "तुम केवट भव सागर केरे। नदी नाव के हम बहतेरे।"

पूर्वी उत्तरप्रदेश के गंगातीरी निषादों में सात कुल है : केवट, चाँई, बथवा, धीवर, तीयर, सोरहिया और मुंडार (मुंडार शब्द 'मुंडा' से मिलता-जुलता है, जो मध्यप्रदेश की एक आर्यत्व वंचित निषाद शाखा का नाम है और हो सकता है कि सुदूर अतीत में इनसे कोई संबंध भी रहा हो।) इन सात कुलों में रामचंद्र का सखा निषादराज गुह किस कुल का था? चंदर भाई तो कहते हैं कि निषादराज चाँई थे। हमारे गाँव में चाँई और केवट दोनों हैं और दोनों यह गौरव लेना चाहते हैं। चाँई कहते हैं कि जेठे तो हमीं लोग हैं। शृंगवेरपुर वाले केवट हैं या चाँई, मुझे पता नहीं। ये गोस्वामी जी ने साफ़ लिखा है : 'माँगी नाव न केवल आना।' अतः मैं कहता हूँ कि शृंगवेरपुर का निषाद चाँई नहीं, केवट ही था। तब चंदर के लिए इतने बड़े कुल-गौरव को छोड़ना मुश्किल हो जाता है औऱ वे हठपूर्वक कहते हैं : "यहीं पर ज़रा-सी बिल्कुल ज़रा-सी, भूल गोसाईंजी से हो गयी है। बात यह है कि वे ब्राह्मण थे और हम लोगों की कुरी वगैरह भीतरी बातें वे क्या जानें? उन्हें लिखना चाहिए था 'चाँई' तो लिख दिया 'केवट'। आखिर जेठी कुरी तो हम चाँई ही हैं। सभा का सरदार तो चाँई ही होता आया है।" चंदर के अनुसार शुद्ध पाठ होना

चाहिए, 'माँगी नाव न चाँई आना।' या 'तुलसी सुनि चाँइहि के वर बैन हँसे प्रभु जानकि ओर हहा है' आदि। मैं समझता हूँ कि भाई चंदर, चाँई लोग तो इससे भी बृहत्तर गौरव के अधिकारी हैं। यह चाँई निषाद ही था, जिसके बाणों से क्रौंचवध हुआ और फल हुआ वाल्मीकि की छंद—सरस्वती का जन्म। चाँई नहीं होता तो रामायण ही लिखी नहीं जाती। अतः चाँई का कम महत्त्व नहीं परंतु तो भी चाँई कुल-कमल-दिवाकर चंदर निषाद इस प्रश्न पर संधि नहीं करते और अपनी ही फेंटते जाते हैं कि गुह निषाद उनके ही कुल 'चाँई' का पूर्वपुरुष था। अंत में मुझे चाँई-गौरव के प्रति नतमस्तक होकर चुप हो जाना पड़ता है।

मैं अपनी जन्मभूमि गंगातट से प्रायः दूर रहने को बाध्य हूँ और जीविकोपार्जन के लिए इस किरातारण्य से घिरे आर्यों के बीज, लौहित्य तट पर, निवास कर रहा हूँ। मेरे पैरों में चक्र है और मुझे दर-दर भटकने का शाप मिला है। इस शाप भोग में भी बड़ा रस है, बड़ा सुख है। परंतु फिर भी कभी-कभी थक जाता हूँ और मन उदासी का व्यूह काटने में असमर्थ हो जाता है। तब अपने भीतर आत्मा को चींथते-फाड़ते कुत्तों को सम्मोहन में लाकर फिर थपकी देकर सुला देने के लिए मुझे किसी श्लोक, किसी गान अथवा किसी दृश्य का चिंतन करना पड़ता है और ऐसे वेदना विकल क्षणों में अपनी प्यारी नदी की ज्योत्स्ना विगलित रजत-धारा, चंदर की बातें और मीन—मिथुन जैसी दोनो भाभियों रूपसी और पियासी के गाये गीतों की मनोरम स्मृतियाँ बड़े काम की साबित होती हैं। जब मेरे मन के अंदर उन दोनों द्वारा गाये गये किसी गीत की स्मृति जगती है, और मन भीतर ही भीतर उसे गाने लगता है तो लगता है कि आत्मा और मन के सारे नख—दंत-क्षतों पर अपनी प्यारी नदी की झिर-झिर धार प्रवाहित होने लगी। लगता है कि वेदना-विकल मस्तक में किसी सुखद शीतल देवधुनी का जन्म हो रहा है, ऊपर से कोई फूल बरसा रहा है, उनके लिए हल्दी, सिंदूर और मेरे लिए भोग-प्रसाद का भार लादे हुए। यह ध्यान-लब्ध दृश्य मुझे तीनों लोकों का राजा बनाकर निहाल कर जाता है, और मैं भूल जाता हूँ अपने कंठस्वर की अष्टावक्र भंगिमा को और मैं भी गुनगुनाने लगता हूँ उन्हीं से सुना हुआ एक गान :

"राधे-रुकमिनि चलेनी नहनवा, सुखा के गंगा ना।
भइली बलुआ क रेतवा, सुखा के गंगा ना!
रोवेली अटइन-रोवेली बटइन, रोवे कुआँ क पनिहारिन ना।
मुँहव रुमलिया देके रोवेला केवटवा
कि मोरी बोझल नइया अगम भइली ना!"

"राधा और रुक्मिणी स्नान को चली हैं, पर गंगाजी सूख गयी हैं, यह पापहरा नदी मृत हो चुकी है, चारों ओर बालू की रेती है, चारों ओर तृषा ही तृषा है, अटवी-कन्या रो रही है, बटोही की वधू रो रही है, मुँह पर रूमाल रखकर बेचारा निषाद रो रहा है कि उसकी बोझी नौका अब अगम हो गयी!" फिर गीत आगे चलता है और राधा अपने आँचल की खूँट में बँधी सात फूल लौंग रुक्मिणी को देती हैं। रुक्मिणी

लौंग को रगड़कर पीसती हैं। राधा और रुक्मिणी नतजानु होकर नदी माता को लौंग-धार का अर्घ्य देती हैं। और तब, गीत की अंतिम कड़ी में :

"राधे रुकमिनि कइली पूजनिया, छछा के गंगा ना
भइली दूनो नख आर-पार, छछा के गंगा ना!
हँसेले अटइन, हँसेले बटइन, हँसे कुआँ क पनिहारिन ना!
फेंक के रुमलिया हँसेला केवटवा,
कि मोर बोझल नइया ऊपर भइली ना!"

"राधे और रुक्मिणी ने छछाकर अर्थात हुलासपूर्वक गंगा का पूजन किया। नदी ने भी उल्लासपूर्वक आशीष देकर दोनों तटों को नखानक (लबालब) जल से परिपूर्ण कर दिया। चारों ओर प्रसन्नता छा गयी। जीवन लौट आया। अटवी कन्या हँस पड़ी। बटोही की वधू हँस पड़ी। कुएँ की पनिहारिन भी हँस पड़ी और सबसे बढ़कर नदी की संतान केवट मुँह पर से रूमाल फेंककर मुक्तकंठ से ठहाका लगाकर हँस पड़ा कि उसकी बोझी नौका अब ऊपर हो गयी, अब यह नदी का अगम जल ही तरणी का सुगम मार्ग बन गया, अब उसकी नाव गंतव्य दिशा की ओर बाणवेग से छूटेगी।"

(स्रोत : निबंधमाला, संपादक : लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, प्रकाशन : लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद)

13.5 निबंध का सार

कुबेरनाथ राय का निबंध निषाद बाँसुरी की शुरुआत रात के दृश्य से होती है : सप्तमी का चाँद डूब चुका है और मध्यरात्रि का समय है। वातावरण शांत, निर्जन और गहराई से भरा हुआ है। लेखक और उसके साथी चंदर भाई नाव 'झिझिरी' से लौटते हैं और चंदर भाई रात भर जागकर बातें करने का प्रस्ताव रखते हैं। नदी और निषाद संस्कृति का अनुभव बताते हुए निबंधकार कुबेरनाथ राय बताते हैं कि जब वह अपने घर लौटते हैं, तब वह अक्सर अपनी संध्या नदी के किनारे, चंदर भाई के साथ बिताते हैं और नदी के सान्निध्य में समय बिताना उन्हें अपने अंदर के "आदिम निषाद-मन" से जोड़ता है। नदी उसके लिए सिर्फ जल नहीं बल्कि एक जीवित, माँ जैसी आंतरिक अनुभूति बन जाती है। वह यह मानते हैं कि किसी पूर्व जन्म में वह भी गंगातीर के निषाद रहे होंगे : यही कारण है कि वह नदी के प्रति इतना आत्मीय और गहरा विश्वास महसूस करते हैं। निषाद जीवन और निस्वार्थ संबंध को दर्शाती यह निबंध चंदर भाई में एक विशिष्ट ऊर्जा, साहस और उदारता को रेखांकित करती है। वह अपने जीवन के अनुभवों और गीतों से लेखक को बाँधता है। दोनों मिलकर नौका पर बैठकर गाते-गुनते हैं, रात की गहराईयों में अपने अनुभव साझा करते हैं। गानों में नदी, जीवन और मानव की भावनाएँ गूँजती हैं। निषाद की भावना नदी के साथ जुड़ी हुई है: उसके अस्तित्व, संघर्ष, आस्था और प्रकृति के साथ मेल की अनुभूति में। नदी, यहाँ सिर्फ एक प्राकृतिक तत्व नहीं बल्कि जीवन की आत्मिक शक्ति और संस्कार का प्रतीक है। जब निषाद की डोंगी बालू में अटक जाती है, तो वह नदी से प्रार्थना करता है

यह प्रार्थना उसके आशा, संघर्ष, आत्म-विश्वास और अपने अस्तित्व की रक्षा की धारणा को दर्शाती है। अंततः नदी जागती है, अपनी धारा बहाती है, और निषाद को सुरक्षित पार पहुँचाती है। इससे यह संदेश मिलता है कि जीवन में संघर्ष हो, लेकिन विश्वास और समर्पण से संकट भी पार हो जाता है। निबंध में कई पारंपरिक गीतों और सांस्कृतिक रूपकों का उपयोग हुआ है, जो निषादों के जीवन, नदी के प्रति समर्पण, भक्ति, संघर्ष और जीवन-प्रकृति के बीच गहरे रिश्ते को उजागर करते हैं। गाना केवल संगीत नहीं बल्कि जीवन का दर्शन बनकर सामने आता है।

13.6 संदर्भ सहित व्याख्या

संदर्भ : "गान के अंतिम भाग में नदी अपने निषाद-शिशु की बात सुनकर भरमुँह अर्थात मुक्तकंठ कलकल ध्वनि से आशीर्वाद देती है : ओ निषाद, जैसे मेरे जल को कोई काटकर दो टुकड़े नहीं कर सकता वैसे ही तू भी अखंड-अच्छेद्य है। और जब तक मैं हूँ, जब तक मेरी धारा है, तब तक तू भी वर्तमान है। गीत सुनकर मुझे लगा कि यह नदी हाथ उठाकर कुछ और भी कह रही है जिसे चंदर सुनते हैं, पर समझ नहीं पाते हैं, परंतु मैं खूब समझ रहा हूँ। मुझे लगा कि नदी कह रही है कि ओ निषाद, तेरी संस्कृति, तेरे संस्कार, तेरा मन, सब कुछ इस जल की तरह है, जो टूटता नहीं, कटता नहीं, भले ही दब जाता है और आकृति बदल लेता है, पर अस्तित्वहीन नहीं होता है- यहाँ तक कि सूख जाने पर भी या तो अंतःसलिला का अंग बन जाता है या उड़कर मेघ बनकर पुनः लौटता है। भारतीय धरती के आदि-मालिक निषाद ही थे। भारतीय भाषाओं में मूल संज्ञाएँ, भारतीय कृषि के मूल और आदिम तरीके और भारतीय मन के आदिम संस्कार उन्हीं की देन हैं।"

व्याख्या :

प्रस्तुत पंक्तियाँ निबंध लेखक कुबेरनाथ राय की "निषाद बाँसुरी" से उद्धृत है। यह निबंध की भाव की गहराई और उसके सांस्कृतिक दृष्टि को स्पष्ट करती है। यह निषाद गीत के अंतिम हिस्से की व्याख्या का हिस्सा है। निषाद के गीत में नदी सजीव सत्ता के रूप में निषाद-शिशु को आशीर्वाद देती है। नदी की "मुक्तकंठ कलकल ध्वनि" केवल प्राकृतिक नाद नहीं, बल्कि मातृत्व और संरक्षण का संकेत है। नदी कहती है कि जैसे उसके जल को काटकर दो टुकड़े नहीं किया जा सकता, वैसे ही निषाद भी अखंड और अछेद्य है। यह कथन निषाद की शारीरिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आत्मिक अखंडता का बोध कराता है। नदी का यह आश्वासन कि "जब तक मैं हूँ, तब तक तू भी वर्तमान है" निषाद और नदी के सहजीवी संबंध को रेखांकित करता है निषाद का अस्तित्व नदी से जुड़ा है और नदी की निरंतरता निषाद की निरंतरता का रेखांकन है। लेखक आगे संकेत करता है कि नदी हाथ उठाकर जो "और भी" कह रही है, उसे चंदर नहीं समझ पाता, पर लेखक समझ लेता है। यह समझ लेखक की सांस्कृतिक चेतना और ऐतिहासिक बोध का परिणाम है। नदी यहाँ निषाद की संस्कृति, संस्कार और मन की तुलना अपने जल से करती है जो न टूटता है, न कटता है। जल दब सकता है, रूप बदल सकता

है, पर अस्तित्वहीन नहीं होता; सूख जाने पर भी वह अंतःसलिला बन जाता है या मेघ बनकर लौट आता है। इसी प्रकार निषाद-संस्कृति भी दमन, विस्थापन और परिवर्तन के बावजूद नष्ट नहीं होती, बल्कि नए रूपों में जीवित रहती है। अंत में लेखक व्यापक ऐतिहासिक निष्कर्ष प्रस्तुत करता है कि भारतीय धरती के आदि-मालिक निषाद ही थे। भारतीय भाषाओं की मूल संज्ञाएँ, कृषि के आदिम तरीके और भारतीय मन के प्रारंभिक संस्कार इन सबकी जड़ें निषाद-संस्कृति में हैं। इस प्रकार ये पंक्तियाँ केवल नदी और निषाद के भावनात्मक संबंध की व्याख्या नहीं करतीं, बल्कि निषाद को भारतीय सभ्यता की मूल आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं।

विशेष : "निषाद बाँसुरी" निबंध कुबेरनाथ राय की है, इस हिस्से में नदी का सजीव और मातृरूप चित्रण हुआ है, जो निषाद को आशीर्वाद देती हुई प्रतीत होती है। इसमें :

- नदी और निषाद के बीच अखंड, सहजीवी और आत्मीय संबंध की अभिव्यक्ति हुई है।
- जल की अखंडता का प्रतीक निषाद के जीवन का पर्याय बन जाता है।
- निषाद की सांस्कृतिक और आत्मिक निरंतरता का गहन संकेत मिलता है।
- रूप बदलने पर भी अस्तित्व बनाए रखने का भाव संस्कृति का नाश नहीं, रूपांतरण का मूल्य संरक्षित हुआ है।
- दबे हुए, उपेक्षित समाज की अदृश्य लेकिन जीवित धारा का प्रतीकात्मक चित्रण देखने को मिलता है।
- नदी के माध्यम से लेखक की गहरी सांस्कृतिक और ऐतिहासिक चेतना का उद्घाटन हुआ है।
- चंदर और लेखक के समझ के अंतर से संवेदनशील बौद्धिक दृष्टि का संकेत का पता चलता है।
- निषाद को भारतीय सभ्यता के आदि-निर्माता और मूल आधार के रूप में प्रतिष्ठित करने की कोशिश की गई है।
- भारतीय भाषाओं, कृषि और मानसिक संस्कारों में निषादों के मौलिक योगदान का स्वीकार किया गया है।
- लोक-जीवन और शास्त्रीय चिंतन का संतुलित समन्वय देखने को मिलता है।
- भावात्मक अनुभव से सांस्कृतिक निष्कर्ष तक की यात्रा की गई है।

कठिन शब्द : मुक्त कंठ : बिना किसी हिचक के; कलकल ध्वनि : नदियों में जल के प्रवाहित होने की आवाज़; अच्छेद : जिसे छेदा न जा सके; अस्तित्वहीन : जिसका कोई अस्तित्व अथवा वजूद न हो; अंतःसलिला : भीतर ही बहने वाली

13.7 अंतर्वस्तु

"निषाद बाँसुरी" निबंध की अंतर्वस्तु का केंद्र मनुष्य और प्रकृति के उस आत्मीय, आदिम और सांस्कृतिक संबंध में निहित है, जिसे आधुनिक जीवन लगभग विस्मृत कर चुका है। कुबेरनाथ राय इस निबंध के माध्यम से निषाद-जीवन के बहाने भारतीय लोक-संस्कृति, नदी-सभ्यता और मानव की मूल संवेदनाओं को उभारते हैं। निबंध की अंतर्वस्तु केवल एक रात की नदी-यात्रा या निषाद के साथ बिताए गए क्षणों का वर्णन नहीं है, बल्कि वह उस गहरे अनुभव की अभिव्यक्ति है, जहाँ लेखक अपने भीतर छिपे आदिम मनुष्य से साक्षात्कार करता है। इस निबंध में नदी केंद्रीय तत्व है। नदी यहाँ भौगोलिक या प्राकृतिक वस्तु न होकर जीवनदायिनी शक्ति, माँ, देवी और विश्वास का प्रतीक बन जाती है। निषाद का पूरा जीवन नदी पर आश्रित है उसका श्रम, उसका गीत, उसका भय और उसकी आस्था सब कुछ नदी से जुड़ा है। लेखक यह दिखाते हैं कि निषाद नदी से डरता नहीं, बल्कि उससे बात करता है, उस पर भरोसा करता है और संकट में उसे पुकारता है। यही विश्वास उसे जीवन के संघर्षों में संबल देता है। इस प्रकार निबंध की अंतर्वस्तु में आस्था और संघर्ष का गहरा मेल दिखाई देता है। निषाद की बाँसुरी और उसके गीत निबंध की आत्मा हैं। ये गीत किसी कलात्मक प्रदर्शन के लिए नहीं, बल्कि जीवन को सहने और समझने का माध्यम हैं। बाँसुरी का स्वर प्रकृति के साथ तादात्म्य, पीड़ा में भी सौंदर्य और संघर्ष में भी रस खोज लेने की क्षमता का प्रतीक बन जाता है। लेखक के लिए यह संगीत सभ्य समाज की कृत्रिमता के विपरीत उस सहज जीवन-दर्शन का उद्घाटन करता है, जिसमें मनुष्य और प्रकृति एक-दूसरे के पूरक हैं। निबंध की अंतर्वस्तु में एक गहरी सांस्कृतिक चेतना भी निहित है। लेखक यह संकेत करता है कि आधुनिक शिक्षित मनुष्य चाहे जितना आगे बढ़ जाए, उसके भीतर कहीं न कहीं निषाद-मन जीवित रहता है, जो नदी, रात, गीत और मौन से जुड़कर शांति पाता है। "निषाद बाँसुरी" वस्तुतः उसी विस्मृत चेतना को जाग्रत करने का प्रयास है। इस प्रकार इस निबंध की अंतर्वस्तु मानव, प्रकृति, संस्कृति और आत्मिक अनुभव के अद्वैत भाव को उजागर करती है, जहाँ जीवन का सत्य किसी दर्शन-ग्रंथ में नहीं, बल्कि नदी की धारा और बाँसुरी के स्वर में बहता हुआ मिलता है।

13.7.1 विचार पक्ष

"निषाद बाँसुरी" निबंध का केंद्रीय विचार मनुष्य और प्रकृति के बीच आदिम, आत्मीय और विश्वासपूर्ण संबंध की स्थापना है। कुबेसमग्रतःय यह प्रतिपादित करते हैं कि सभ्यता और आधुनिकता की परतों के नीचे मनुष्य का मूल स्वभाव आज भी प्रकृति से जुड़कर ही पूर्ण होता है। नदी, निषाद और बाँसुरी ये तीनों प्रतीक मिलकर उस जीवन-दर्शन को रूपायित करते हैं जिसमें संघर्ष, आस्था और सौंदर्य एक-दूसरे से अलग नहीं, बल्कि सहचर हैं। निबंध का केंद्रीय भाव यह है कि प्रकृति केवल उपभोग की वस्तु नहीं, बल्कि माँ, संरक्षक और संवाद-सहचर है। निषाद का नदी से डर नहीं, विश्वास है; संकट में प्रार्थना है; और जीवन में समर्पण है। यही विश्वास उसे जीवन के उतार-चढ़ाव पार कराने की शक्ति देता है। बाँसुरी का स्वर इस संबंध का सांकेतिक रूप है जो बताता है कि मनुष्य पीड़ा में भी रस, संघर्ष में भी सौंदर्य और मौन में भी संगीत खोज सकता है। समग्रतः निबंध का केंद्रीय विचार यह

है कि मनुष्य की सच्ची पहचान और शांति प्रकृति के साथ तादात्म्य में निहित है, और जब मनुष्य इस संबंध को स्वीकार करता है, तब जीवन अर्थ, सौंदर्य और संतुलन से भर उठता है।

13.7.2 भाव पक्ष

"निषाद बाँसुरी" निबंध का भाव पक्ष अत्यंत संवेदनशील, आत्मीय और काव्यात्मक है। कुबेरनाथ राय ने इसमें बौद्धिक विवेचन से अधिक अनुभूति, संवेदना और भावात्मक तादात्म्य को प्रधानता दी है। निबंध का भाव संसार पाठक को विचार से नहीं, बल्कि अनुभूति से बाँधता है। इस निबंध का प्रमुख भाव प्रकृति-प्रेम और प्रकृति से आत्मीय संबंध का है। नदी, रात, चाँदनी, जल की धारा और नाव ये सब मिलकर एक ऐसा भावलोक रचते हैं जिसमें शांति, सौम्यता और आत्म-विसर्जन की अनुभूति होती है। नदी यहाँ केवल प्राकृतिक दृश्य नहीं, बल्कि माँ, देवी और सजीव सत्ता के रूप में भावनात्मक रूप से उपस्थित है। निषाद का नदी से संवाद डर या विवशता का नहीं, बल्कि विश्वास और अपनत्व का है यही भाव निबंध की आत्मा बन जाता है। निबंध में आदिम मानव-भावना का भी सशक्त चित्रण है। लेखक के भीतर छिपा निषाद-मन, जो सभ्यता की जटिलताओं से दूर सरल जीवन में शांति खोजता है, पूरे निबंध में करुण, आत्मीय और सौम्य भावों के साथ प्रकट होता है। इस भाव के कारण निबंध में न तो विद्रोह का तीखापन है, न ही निराशा का अंधकार, बल्कि एक सहज स्वीकार और संतुलन का भाव है। संगीत और बाँसुरी का भाव पक्ष भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाँसुरी का स्वर पीड़ा को मधुर बना देता है और संघर्ष को सहने योग्य। यह स्वर करुणा, रस और लय का प्रतीक है, जो बताता है कि जीवन की कठिनाइयों के बीच भी सौंदर्य और आशा संभव है। निषाद का गीत रोना नहीं, बल्कि जीवन को स्वीकार करने की भावात्मक अभिव्यक्ति है। "निषाद बाँसुरी" का भाव पक्ष करुणा, श्रद्धा, विश्वास, सौंदर्यबोध और आत्मिक शांति से निर्मित है। यह निबंध पाठक के मन में प्रकृति के प्रति आदर, सरल जीवन के प्रति आकर्षण और मानवीय संवेदना के प्रति गहरा सम्मान उत्पन्न करता है।

13.8 संरचना शिल्प

13.8.1 भाषा

"निषाद बाँसुरी" निबंध की भाषा की विशिष्टता उसके काव्यात्मक गद्य, लोक-संवेदना और आत्मीय लय में निहित है। कुबेरनाथ राय की भाषा विचारों को तर्क से नहीं, अनुभूति से संप्रेषित करती है; इसलिए यह भाषा पढ़ी नहीं जाती, बल्कि महसूस की जाती है। इस निबंध की भाषा की पहली विशेषता उसकी काव्यात्मकता है। गद्य होते हुए भी उसमें कविता जैसी तरलता, संगीतात्मकता और चित्रात्मकता है। नदी, रात, चाँदनी, जल-धारा और बाँसुरी इन सबका वर्णन प्रतीकात्मक और लयात्मक शब्दों में हुआ है, जिससे भाषा भावों का सजीव चित्र खींच देती है। वाक्य छोटे-बड़े, सरल लेकिन अर्थगर्भित हैं, जो पाठक को दृश्य और अनुभूति दोनों स्तरों पर बाँध लेते हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण

विशेषता लोक-जीवन की सुगंध है। लेखक की भाषा में निषाद-जीवन, नदी-सभ्यता और ग्रामीण संवेदना स्वाभाविक रूप से घुली हुई है। कहीं भी बनावटीपन या शाब्दिक प्रदर्शन नहीं है। लोकगीतों, संबोधनों और बोलचाल की सहजता से भाषा में अपनापन आ जाता है, जिससे निषाद और नदी पाठक को दूर के विषय नहीं, बल्कि अपने जैसे लगने लगते हैं। तीसरी विशेषता संकेतात्मक और प्रतीकात्मक भाषा है। नदी, बाँसुरी, गीत और रात ये सब शब्द मात्र नहीं, बल्कि गहरे अर्थों के वाहक हैं। लेखक सीधे उपदेश नहीं देता, बल्कि प्रतीकों के माध्यम से जीवन-दर्शन प्रकट करता है। इस कारण भाषा में गहराई है, लेकिन बोझिलता नहीं। इसके अतिरिक्त, इस निबंध की भाषा में संस्कृतनिष्ठता और सरलता का संतुलन दिखाई देता है। जहाँ विचार गहरे हैं, वहाँ शब्द चयन संयमित और सहज है। भावनात्मक प्रसंगों में भाषा कोमल और करुण हो जाती है, जबकि अनुभव-वर्णन में वह शांत और स्थिर रहती है। "निषाद बाँसुरी" की भाषा की विशिष्टता यह है कि वह भाव, संगीत और संस्कृति को एक साथ साधती है। यह भाषा आधुनिक बौद्धिक निबंध की नहीं, बल्कि संवेदनशील आत्मानुभव की भाषा है, जो पाठक के मन में प्रकृति, जीवन और मानव के प्रति गहरी आत्मीयता जगा देती है।

13.8.2 शैली

"निषाद बाँसुरी" निबंध की शैली की विशेषता उसकी ललित, आत्मपरक और काव्यात्मक निबंध-शैली में निहित है। कुबेरनाथ राय की शैली तर्कप्रधान या विश्लेषणात्मक न होकर अनुभूति-प्रधान है, जिसमें विचार, भाव और कल्पना सहज रूप से एक-दूसरे में घुल-मिल जाते हैं। इस निबंध की शैली की पहली प्रमुख विशेषता आत्मकथात्मकता है। लेखक स्वयं निबंध का केंद्र बनकर अपने अनुभव, स्मृति और संवेदना को प्रस्तुत करता है। यह 'मैं' कोई अहंकारी वक्ता नहीं, बल्कि प्रकृति और लोक-जीवन से तादात्म्य स्थापित करता हुआ संवेदनशील मनुष्य है। इसी कारण निबंध में आत्मीयता और सच्चाई का भाव स्वतः आ जाता है। इस निबंध की शैली ललित निबंध-शैली है। इसमें न तो कठोर वैचारिक ढाँचा है और न ही विषय का बँधा हुआ क्रम। विचार नदी की धारा की तरह बहते हैं कभी स्मृति में, कभी दृश्य में, कभी गीत और बाँसुरी के स्वर में। यह प्रवाहशीलता शैली को बोझिल होने से बचाती है और पाठक को भाव-यात्रा में सहभागी बना लेती है। इस निबंध में प्रतीकात्मक और संकेतात्मक प्रस्तुति है। लेखक अपनी बात सीधे निष्कर्ष के रूप में नहीं कहता, बल्कि नदी, निषाद, बाँसुरी और गीत जैसे प्रतीकों के माध्यम से जीवन-दर्शन को उजागर करता है। इससे शैली में गहराई आती है और निबंध केवल पढ़ने की नहीं, बल्कि समझने और महसूस करने की वस्तु बन जाता है। इसके साथ ही, निबंध की शैली में लोक-संस्कृति और काव्यात्मकता का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। लोक-जीवन के अनुभव, गीतों की गूँज और प्रकृति का सजीव चित्रण शैली को सौंदर्य और संवेदना से भर देता है। गद्य में कविता का रस और संगीत की लय शैली को विशिष्ट बना देती है। "निषाद बाँसुरी" की शैली अनुभूति की शैली है जहाँ विचार उपदेश नहीं बनते, अनुभव दर्शन बन जाते हैं और साधारण लोक-जीवन के माध्यम से जीवन का गहरा सत्य उजागर होता है। यही इस निबंध की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है।

13.9 प्रतिपाद्य

"निषाद बाँसुरी" कुबेरनाथ राय का एक संवेदनशील और आत्मपरक निबंध है, जिसमें लेखक नदी, निषाद-जीवन और मानव की आदिम चेतना के गहरे संबंध को उभारते हैं। समग्रतः निबंध की पृष्ठभूमि रात, नदी और नौका-यात्रा से बनती है, जहाँ लेखक अपने साथी निषाद के साथ समय बिताते हुए प्रकृति के निकट पहुँचता है। यह निकटता केवल दृश्य या भौतिक नहीं, बल्कि आत्मिक है, जो लेखक के भीतर छिपे उस आदिम मन को जगा देती है, जिसे वह अपने पूर्वजों और सांस्कृतिक स्मृतियों से जोड़कर देखता है। नदी यहाँ मात्र जलधारा नहीं, बल्कि माँ, देवता और जीवन-शक्ति के रूप में उपस्थित है, जो निषाद के अस्तित्व, विश्वास और संघर्ष की साक्षी बनती है। निबंध में निषाद का जीवन सहज, निर्भीक और प्रकृति-सम्मत रूप में उभरता है। उसका गीत, उसकी बाँसुरी और उसकी प्रार्थना जीवन की कठिनाइयों के बीच भी आशा और विश्वास को बनाए रखती है। जब नाव संकट में फँसती है, तब निषाद का नदी से संवाद उसके अटूट भरोसे और समर्पण को प्रकट करता है। इस प्रसंग के माध्यम से लेखक यह संकेत देता है कि मनुष्य जब प्रकृति के साथ अहंकाररहित संबंध बनाता है, तब वही प्रकृति उसकी रक्षक और मार्गदर्शक बन जाती है। "निषाद बाँसुरी" सभ्यता के शोर से दूर उस सांस्कृतिक और मानवीय चेतना की याद दिलाता है, जहाँ जीवन, प्रकृति और संगीत एक-दूसरे में घुलकर मानव अस्तित्व को अर्थ प्रदान करते हैं।

अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. निषाद बाँसुरी निबंध के निबंधकार कौन हैं?
   - क. कुबेरनाथ राय
   - ख. हजारी प्रसाद द्विवेदी
   - ग. विद्यानिवास मिश्र
   - घ. इनमें से कोई नहीं
2. कुबेरनाथ राय का निबंध नहीं है?
   - क. प्रिया नीलकण्ठी
   - ख. रस आखेटक
   - ग. महाकवि की तर्जनी
   - घ. ठेले पर हिमालय
3. रसधर्मा निबंधकार माने जाते हैं?
   - क. हजारी प्रसाद द्विवेदी
   - ख. रामचन्द्र शुक्ल
   - ग. कुबेरनाथ राय

घ. विद्यानिवास मिश्र

4. निषाद बाँसुरी का प्रकाशन वर्ष है?
   क. 1973
   ख. 1974
   ग. 1975
   घ. 1976
5. किरात नदी में चंद्र मधु किसका निबंध संकलन है?
   क. विद्यानिवास मिश्र
   ख. कुबेरनाथ राय
   ग. हजारी प्रसाद द्विवेदी
   घ. विवेकी राय

सही अथवा ग़लत

6. कुबेरनाथ रसधर्मा निबन्धकार हैं।
7. कुबेरनाथ राय के निबंधों में परम्परागत संस्कारों के साथ आधुनिक एवं नवीन दृष्टिकोण का संतुलित मिश्रण है।
8. रस आखेटक, प्रिया नीलकण्ठी, विषाद योग, मन पावन की नौका, आगम की नाव कुबेरनाथ राय के ललित निबंध हैं।
9. कजरी वन में राजहंस नामक निबन्ध कुबेरनाथ राय की रिपोर्ताज शैली में असम की पहाड़ियों, नदियों व खेतों का सुंदर विवरण है।
10. निषाद बाँसुरी कुबेरनाथ राय का ललित निबंध है जिसमें निषाद समुदाय को मूल निवासी माना गया है और श्रम के महत्व को रेखांकित किया गया है।

13.10 सारांश

कुबेरनाथ राय का निबंध निषाद बाँसुरी के अध्ययन के पश्चत् आपने अब तक निबंध का वाचन किया है। आप कुबेरनाथ राय के व्यक्तित्व और कृतित्व से परिचित हो चुके हैं। निबंध के महत्वपूर्ण हिस्से का आपने व्याख्या करना समझ लिया है। साथ ही निबंध की अंतर्वस्तु और भाषा व शिल्प से परिचित हो चुके हैं। कुबेरनाथ राय का निबंध निषाद बाँसुरी एक सांस्कृतिक पाठ है। जिसमें प्रकृति और प्रकृति के नदी पुत्र निषाद सभ्यता के विकास के प्रातिनिधिक पाठ बन जाते हैं। आज जब हम प्रकृति के सबसे बीहड़ और मानवीय हस्तक्षेप के बहुत दूर तक के संसाधनों तक अपनी पहुंच बना चुके हैं और उसका न सिर्फ़ दोहन कर रहे हैं बल्कि लूट के हद तक उसे नष्ट कर रहे हैं। ऐसे में निषाद बाँसुरी हमारे समय का और समझ का भी आवश्यक पाठ बन जाता है कि हम अपनी प्रकृति और नदियों को कैसे बरते।

यह समय जिसे एंथ्रोपोसीन युग कहा जा रहा है जो मानवीय दबदबा का युग है ऐसे में नदियों की नदी पुत्रों की निषादों की प्रकृति संरक्षण के लोक तरीकों के रेखांकन का प्रतिनिधि पाठ कुबेरनाथ राय की निषाद बाँसुरी है।

13.11 शब्दावली

मुक्त कंठ : बिना किसी हिचक के
कलकल ध्वनि : नदियों में जल के प्रवाहित होने की आवाज़
अच्छेद : जिसे छेदा न जा सके
अस्तित्वहीन : जिसका कोई अस्तित्व अथवा वजूद न हो
अंतःसलिला : भीतर ही बहने वाली
श्रमजीवी : जो श्रम से ही जीता हो अथवा जो जिसके जीवन का आधार श्रम हो
गंगातीरी : गंगा के किनारे रहने वाला
निषाद : नदियों के सहारे जीवन जीने वाली एक जाति; मल्लाह
गलई : नाव का आगे का हिस्सा
चाईं : आवश्यकता से अधिक चालाक; चतुर सुजान जो छल-प्रपंच भी जाने
छछाकर : अत्यधिक प्रसन्न होकर

13.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क – कुबेरनाथ राय
2. घ - ठेले पर हिमालय
3. ग – कुबेरनाथ राय
4. ख – 1974
5. ख – कुबेरनाथ राय
6. सही
7. सही
8. सही
9. सही
10. सही

13.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

निबंध निलय – डॉ. सतेंद्र – वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
हिंदी निबंध और निबंधकार – डॉ रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

निबंधमाला - संपादक : लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद

13.14 सहायक ग्रन्थ सूची

निबंध निलय – डॉ. सतेंद्र – वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
हिंदी निबंध और निबंधकार – डॉ रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
नदी पुत्र – रमाशंकर सिंह, सेतु प्रकाशन, नोएडा

13.15 निबंधात्मक प्रश्न

1. कुबेरनाथ राय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन कीजिए।
2. निषाद बाँसुरी निबंध की समीक्षा निबंध कला के आधार पर कीजिए।
3. निषाद बाँसुरी के सांस्कृतिक महत्व को रेखांकित कीजिए।

इकाई 14- कला में सोद्देश्यता का प्रश्न : पाठ एवं मूल्यांकन

14.1 प्रस्तावना
14.2 उद्देश्य
14.3 दिनकर- व्यक्तित्व एवं कृतित्व
14.3.1 व्यक्तित्व
14.3.2 कृतित्व
14.4 दिनकर की निबंध कला
14.4.1 भावपक्ष
14.4.2 कलापक्ष
14.5 कला में सोद्देश्यता का प्रश्न- मूल पाठ (कथावस्तु)
14.6 कला में सोद्देश्यता का प्रश्न- मूल्यांकन
14.7 सारांश
14.8 शब्दावली
14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
14.10 निबंधात्मक प्रश्न
14.11संदर्भ ग्रंथ सूची/ सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

14.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई ***"कला में सोद्देश्यता का प्रश्न: पाठ एवं मूल्यांकन"*** पर आधारित है। इस इकाई के प्रथम भाग में छात्र राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' के संक्षिप्त जीवन से परिचित होंगे तथा उनके प्रसिद्ध निबंध ***"कला में सोद्देश्यता का प्रश्न"*** का अध्ययन करेंगे।

भारतीय साहित्य में कला और साहित्य के उद्देश्य को लेकर प्राचीन काल से ही बहस होती रही है। एक मत के अनुसार कला केवल सौंदर्य-आराधना है, उसका समाज या नैतिकता से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत दूसरा मत मानता है कि कला जीवन से पृथक नहीं हो सकती; उसमें युग की चेतना, समाज की पीड़ा और जीवन की समस्याओं का समाधान अनिवार्य रूप से प्रतिबिंबित होता है। इन्हीं मतभेदों की पृष्ठभूमि में राष्ट्रकवि दिनकर का यह निबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है, जिसमें उन्होंने कला और साहित्य के यथार्थवादी तथा लोकमंगलकारी स्वरूप की सार्थक व्याख्या प्रस्तुत की है।

14.2 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य विद्यार्थियों को-

- रामधारी सिंह 'दिनकर' का संक्षिप्त जीवन और उनके योगदान को समझना।

- 'कला में सोद्देश्यता' निबंध के माध्यम से कला का समाजोपयोगी और यथार्थवादी स्वरूप जानना।
- यह समझना कि कला जीवन और समाज से अलग नहीं हो सकती, बल्कि उसमें युग, समाज और जीवन की समस्याएँ झलकती हैं।
- कला पर विभिन्न दृष्टिकोणों को समझकर आलोचनात्मक सोच विकसित करना।

14.3 दिनकर व्यक्तित्व एवं कृतित्व

रामधारी सिंह 'दिनकर' राष्ट्रीय-सांस्कृतिक निबंधधारा के प्रमुख लेखक हैं। छायावादी साहित्यिक आंदोलन सांस्कृतिक जागरण का प्रतीक था, जिसमें राष्ट्रीयता के तत्व भी सूक्ष्म रूप में शामिल थे, किंतु युगीन परिस्थिति इसके विपरीत थी। सन् 1930 के बाद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में तेजी आई और भगत सिंह की फांसी के बाद युवाओं में आक्रोश चरम पर पहुँच गया। संपूर्ण विश्व मंदी के दौर ने पराधीनता की पीड़ा को और भी तीव्र कर दिया। ऐसे समय में छायावादी लेखक लोक से हटकर यथार्थवादी रचनाओं की ओर प्रवृत्त हुए। यही कारण था कि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक निबंधधारा का उदय हुआ।

'दिनकर' का इस निबंधधारा में आगमन किसी क्रांति से कम नहीं था। उनके निबंधों ने हिंदी साहित्य को नया दृष्टिकोण और गंभीरता प्रदान की। भाषा, शैली, वस्तुतत्त्व और चेतना के स्तर पर दिनकर ने व्यापक परिवर्तन प्रस्तुत किए। आगे के बिंदुओं में हम उनके निबंध का विशेष अध्ययन करेंगे। उससे पहले आइए उनके जीवन और संघर्ष से परिचित हों।

14.3.1 व्यक्तित्व

रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म 23 सितंबर 1908 को बिहार के मुंगेर जिले के सिमरिया गाँव में हुआ। बाल्यकाल में पिता का देहान्त हो गया, पर माँ ने तीनों बच्चों का संघर्षपूर्ण पालन-पोषण किया। प्रारंभिक शिक्षा गाँव के पाठशाला में हुई। बाद में उन्होंने बारो गाँव और मोकामा घाट के स्कूलों से शिक्षा प्राप्त की और 1928 में मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की। उसी वर्ष पटना कॉलेज में प्रवेश लिया और 1932 में बी.ए. (इतिहास) में उत्तीर्ण हुए।

बी.ए. के बाद दिनकर कुछ समय स्कूल में प्राध्यापक रहे और 1934 में बिहार सरकार में सब-रजिस्ट्रार के पद पर नियुक्त हुए। 1942–1945 के दौरान अंग्रेज़ सरकार की नौकरी से असंतोष और राष्ट्रसेवा के प्रति कर्तव्यबोध के कारण उन्होंने सरकारी सेवा से इस्तीफा दिया। 1950 में पटना विश्वविद्यालय के लंगट सिंह कॉलेज में हिंदी विभाग के अध्यक्ष बने, 1952 में राज्यसभा सदस्य चुने गए और 1964–1965 में भागलपुर विश्वविद्यालय के कुलपति रहे। बाद में भारत सरकार में हिंदी सलाहकार बने।

दिनकर का निधन 24 अप्रैल 1974 को मद्रास यात्रा के दौरान हृदयगति रुकने से हुआ। दिनकर जुझारू, राष्ट्रप्रेमी, समाज-सुधारक और चिंतक साहित्यकार थे। वे संतुलित दृष्टि वाले विचारक और कर्मशील

कवि रहे। उनमें पौरुष और ओज की ऊर्जा के साथ संवेदनशीलता और करुणा का समन्वय दिखाई देता है।

14.3.2 कृतित्व

रामधारी सिंह दिनकर का कृतित्त्व पद्य एवं गद्य दोनों दृष्टियों से, कथ्य एवं परिमाण की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध रहा है। उनकी रचनाओं में कविता, निबंध, समीक्षा और गद्य अन्य सभी रचनाएं हैं। कुछ प्रमुख कृतियाँ इस प्रकार हैं-

काव्य –

- हुंकार – 1939 ई0
- रसवंती – 1940 ई0
- द्वंद गीत – 1940 ई0
- कुरक्षेत्र – 1946 ई0
- धूप-छाँह – 1946 ई0
- सामधेनी – 1947 ई0
- बापू – 1947 ई0
- इतिहास के ऑसू – 1951 ई0
- धूप और धुऑ – 1951 ई0
- मिर्च का मजा – 1951 ई0
- रश्मिरथी – 1952 ई0
- दिल्ली – 1954 ई0
- नीम के पत्ते – 1954 ई0
- नीलकुसुम – 1954 ई0
- पूरज का व्याह – 1955 ई0
- चक्रवाल – 1956 ई0
- कवि श्री – 1957 ई0
- सीपी और शंख – 1957 ई0
- उर्वशी – 1961 ई0
- परशुराम की प्रतीक्षा – 1963 ई0
- आत्मा की ऑखे – 1964 ई0
- दिनकर की सूक्तियॉ – 1965 ई0
- हारे को हरिनाम – 1970 ई0
- दिनकर के गीत – 1973 ई0

आलोचना

- मिट्टी की ओर – 1946 ई0
- अर्धनारीश्वर – 1952 ई0
- काव्य की भूमिका – 1958 ई0
- पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण – 1958 ई0
- वेणुवन – 1958 ई0
- शुद्ध कविता की खोज – 1966 ई0

अन्य गद्य रचनाएँ -

- चित्तौड़ का साका – 1949 ई0
- रेती के फूल – 1954 ई0
- हमारी सांस्कृतिक एकता – 1954 ई0
- भारत की सांस्कृतिक कहानी – 1955 ई0
- भारत की सांस्कृतिक कहानी – 1955 ई0
- संस्कृति के चार अध्याय – 1956 ई0
- उजली आग – 1956 ई0
- देश-विदेश – 1957 ई0
- राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय एकता – 1958 ई0
- धर्म, नैतिकता और विज्ञान – 1959 ई0
- साहित्यमुखी – 1968 ई0
- राष्ट्रभाषा आन्दोलन और गॉधीजी – 1968 ई0
- हे राम – 1969 ई0
- संस्करण और श्रद्धांजलियां – 1969 ई0
- मेरी यात्राएँ – 1970 ई0
- भारतीय एकता – 1970 ई0
- दिनकर की डायरी – 1973 ई0
- आधुनिक बोध – 1973 ई0

14.4 दिनकर की निबंध कला

14.4.1 भावपक्ष

दिनकर के निबंधों का भावपक्ष अत्यंत सशक्त, ओजस्वी एवं प्रेरणादायक है। उनके निबंधों में राष्ट्रप्रेम, राष्ट्रीय स्वाभिमान और भारतीय संस्कृति के प्रति गहरी आस्था स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वे राष्ट्रीय अस्मिता के जागरण को अपना प्रमुख उद्देश्य मानते हैं और भारतीय समाज को

आत्मसम्मान तथा चेतना से युक्त देखना चाहते हैं। उनके निबंधों में भारतीय संस्कृति, सभ्यता और परंपरा का व्यापक विवेचन मिलता है, जिसमें संस्कृति को वे स्थिर नहीं बल्कि गतिशील और निरंतर विकसित होने वाली सत्ता के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

दिनकर के निबंधों में मानवतावादी भाव भी अत्यंत प्रमुख है। वे मानव-गरिमा, स्वतंत्रता, समानता और न्याय के समर्थक हैं तथा शोषण, अन्याय और दासता के विरुद्ध सशक्त स्वर उठाते हैं। उनके भावपक्ष में क्रांतिकारी चेतना का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है, जिसके अंतर्गत वे सामाजिक जड़ताओं, रूढ़ियों और कुरीतियों का विरोध करते हुए परिवर्तन की आवश्यकता पर बल देते हैं। इसके साथ ही उनके निबंध नैतिक और आदर्शवादी दृष्टिकोण से भी युक्त हैं, जिनमें नैतिक मूल्यों, कर्तव्यबोध और जीवन-दर्शन का गहरा समावेश है। इस प्रकार दिनकर का भावपक्ष पाठक को केवल विचारशील ही नहीं बनाता, बल्कि आत्ममंथन और कर्म के लिए भी प्रेरित करता है।

14.4.2 कलापक्ष

दिनकर की निबंध-कला का कलापक्ष भी उतना ही सशक्त और प्रभावशाली है जितना उनका भावपक्ष। उनकी निबंध-शैली में ओज और तेज का विशेष स्थान है, जिसके कारण उनकी भाषा प्रभावोत्पादक और कहीं-कहीं भाषणात्मक रूप ग्रहण कर लेती है। यह ओजस्वी शैली पाठक को सहज ही आकर्षित करती है और विचारों को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है। कवि होने के कारण उनके निबंधों में काव्यात्मकता का भी स्पष्ट समावेश दिखाई देता है। उपमा, रूपक और प्रतीकों के सशक्त प्रयोग से उनके निबंध गद्य होते हुए भी काव्यात्मक सौंदर्य से युक्त हो जाते हैं।

भावनात्मकता के बावजूद दिनकर के निबंध तर्कपूर्ण और विचारप्रधान हैं। वे अपने मतों की पुष्टि के लिए ऐतिहासिक, दार्शनिक और सामाजिक उदाहरणों का सहारा लेते हैं, जिससे उनकी रचनाएँ बौद्धिक दृष्टि से भी सशक्त बन जाती हैं। उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी सरल, प्रवाहपूर्ण और स्पष्ट है, जिसके कारण गंभीर और जटिल विषय भी सहज रूप से बोधगम्य हो जाते हैं। इसके साथ ही उनके निबंधों की संरचना भी अत्यंत सुदृढ़ है, जिसमें विषय की स्पष्ट भूमिका, क्रमबद्ध विवेचन और प्रभावशाली निष्कर्ष देखने को मिलता है। इस प्रकार दिनकर का कलापक्ष उनकी निबंध-कला को पूर्णता और प्रभाव प्रदान करता है।

14.5 कला में सोद्देश्यता का प्रश्न – मूल पाठ (कथावस्तु)

वास्तविकता के संघर्ष से असन्तोष की जो चिनगारी उड़ती है, वही मेरा स्वप्न है। युगों के दर्पण में कविता-कामिनी का अपार्थिव रूप देखकर सून्य में पंख खोलकर उड़ने की इच्छा जरूर हुई। परंतु इसे देश की अपमानित मिट्टी का प्रभाव कहिये या मेरा अपना भाग्य-दोष कि कल्पना के नन्दन कानन में भी मिट्टी की गन्ध मेरा पीछा नहीं छोड सकी। जब तक सत्य का आधार नहीं मिला. स्वप्न

के पैर डगमगाते रहे। यह कह दूं तो मन्तव्य अधिक स्पष्ट हो जाय कि देशमाता का शस्यश्यामल अंचल सिर्फ इसी लिए सुन्दर नहीं लगा चूँकि उसमें प्राकृतिक सुषमा निखर रही है, वरन् इसलिए भी कि उसके साथ भारतीय किसानों का श्रम, उनकी आशा और अभिलाषाएँ लिपटी हुई हैं।

हिमालय को देखकर हृदय में गौरव तो जगा, किन्तु उसके सामने मस्तक तब झुका जब कानों ने अपनी ही भावना की यह गुनगुनाहट सुनी कि नगराज हमारे भाल का रजत-किरीट है, हमारे राज्य का द्वार-प्रहरी है। हिन्दमहासागर का मनोरम ध्यान उस समय मार्मिक वेदना में भींगकर महत्तर हो उठा जब उसके वक्षस्थल पर खेलनेवाले यानों पर तिरंगे की ज्योति नहीं मिली। थार के कणो में छिपकर गूँजनेवाली तलवारों की झनकार ने बालू की तप्त साँसों के नाद को अपने भीतर गुम कर दिया। राजगिरि के बनों की हरियाली पर रविरश्मि की शोभा उस समय और भी निखर उठी जब चर्म है। ज्योति ने उसपर अपनी चमक फेंकी। मुझपर कल्पना के पंख में पत्थर बाँधने का दोष अगर न लगाया जाय तो कहूँगा कि काव्य जीवन का हलका और महत्त्वहीन अंश नहीं है। मन की साथ को बायु में विसर्जित कर देना, पागलों के समान माला गूँधकर फिर उसे छिन्न कर देना, अकारण रोना, अकारण गाना और अकारण चूप हो जाना, ये क्रियाएं किसी हलके गायक की हो सकती हैं; किन्तु अगर कवि, जो संसार के मस्तक पर आसन जमाना चाहता है. ऐसे निरुद्देश्य काम करे तो उसकी महत्ता नष्ट हो जायगी। जिसने ऊँचा चढ़कर जीवन की छायातटी का एक दृष्टि में पर्यवेक्षण किया है, जिसने जन्म के पूर्व और मरण के पश्चात् की रहस्य-लीलाओं पर कल्पना दौड़ाई है, जिसने उदय और अस्त में जन्म और यवनिका-पतन का रूपक देखा है, जिसके सामने नये अध्याय खुले और पुराने बन्द हुए हैं, उसकी वृत्तियाँ इतनी हल की नहीं हो सकतीं कि वह मेघों-सा निरुद्देश्य मँडराता फिरे, फूलों और पक्षियों के साथ अलसक्रीड़ा में मग्न रहे। जिसने अधिक से अधिक आघात सहे हैं, जीवन के घमासान में अधिक से अधिक अनुभूतियाँ प्राप्त की हैं, अपने को अधिक से अधिक समीप से पहचाना है, वह अधिक से अधिक बलवान् कवि है और सच पूछिये तो उस मात्रा तक कवि है जिस मात्रा तक जीवन ने उसे अपना रूप दिखाया है। उसके लिए कविता केवल जीवन की समीक्षा ही नहीं रह जाती; प्रत्युत गम्भीर अनुभूतियों के प्रभाव से वह संसार के अर्थों की टीका, जिन्दगी की उलझनों की तसवीर और उसकी समस्याओं का हल भी बन जाती है। सच्चा काव्य जाग्रत पौरुष का निनाद है। कला के लिए कला का आराधन या शून्य में गानेवाले गीत-विहग की स्थिति से ऊपर उठने केपहले कवि को संघर्ष और दुःख की अग्नि में शुद्ध होना पड़ता है। बिना इस शुद्धि के कवि अपनी प्रतिभा को केन्द्रित और ठोस नहीं बना सकता और न सत्य तथा मानवता की उच सेवा का बीड़ा ही उठा सकता है। मृत्यु की छायातटी से होकर गुजरते हुए मानवात्मा की अक्षय आशा तथा उमंग एवं प्रेम की अमरता और अमरता के प्रेम का महागान गानेवाला कवि निरुद्देश्य यात्री नहीं हो सकता। दिल से उमड़कर जबान तक आनेवाली प्रत्येक कड़ी को वह बिना सोचे-समझे कागज पर नहीं रख सकता । उसकी कल्पना के अगल-बगल भावु-कता और दार्शनिकता के पंख लगे रहते हैं। सच पूछिये तो प्रेरणा और भावुकता के आलोक में जगमगानेवाली दार्शनिक अनुभूतियाँ महान् काव्य का मेरुदण्ड हैं।

प्रश्न कला में यथार्थवाद और सोद्देश्यता के समावेश का है, जिसके खिलाफ कल्पकों का एक बड़ा दल सदियों से यह कहकर हंगामा मचाता आ रहा है कि काव्य में लौकिक उन्नति का मार्ग ढूँढ़नेवाला समालोचक गलती पर है। कवि हमें वस्तु-जगत् की राह कम दिखाता है, मानस-जगत् में आदर्श जीवन निर्मित करने की ओर अधिक प्रेरित करता है। कला संसार से हमारा सम्बन्ध बढ़ाती नहीं, बल्कि इसकी स्थूलता से मुक्ति का मार्ग बतलाती है। इनके मतानुसार कला का उद्देश्य सांसारिकता नहीं, अलौकिकता है। यह जीवन की शान्ति है; आगे ले चलने का साधन नहीं। संक्षेप में, कविता का साम्राज्य संसार में नहीं, बल्कि उस देश में है जो हमारे दुःखों से बहुत दूर है।

अगर बात सचमुच यही हो तो मुझे भय है कि जिस सभ्यता ने 'अफीम' कहकर धर्मका बहिष्कार कर दिया उसके सामने एक दिन धरती से दूर-दूर उड़नेवाली कला को भी माथा टेक देन पड़ेगा। पृथ्वी पर जो नई सभ्यता बसने जा रही है उसका आधार भौतिक प्रेरणाएँ हैं। स्वर्ग और नरक की कल्पना बड़ी शीघ्रता से ढहती जा रही है। अप्राप्य धूमिल और शून्य आदर्श की खोज में मनुष्य की शक्ति को बर्बाद करनेवाली सारी संस्थाएँ एक के बाद एक गिरती जा रही है। प्रेम और रोमांस को मिलानेवाली गाँठ विज्ञान के द्वारा खोली जा रही है। मनुष्य वह चाहता है जो उसे पृथ्वी पर सहायता दे। वह नहीं जो भुलावा देकर उसे अकर्मण्य बना दे। मानवता का प्राचीन मूल हिल गया है ईश्वर और धर्म के स्थान पर विज्ञान और उपयोगितावाद डटते रहे हैं। यह सौभाग्य है या दुर्भाग्य, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनुष्य की सभ्यता मनुष्य ही गढ़ता है। ईश्वर ने उसे सभ्यता नहीं दी थी। जीवन का प्यार, जीवन का संगठन, जीवन में सौन्दय्ये-सृष्टि घूम-फिरकर सभी धर्मों का यही उपदेश है। हमने उन्हें भी अवतार माना जो ईश्वर को नहीं पूजते थे, किन्तु जिन्हें जीवन से प्यार था और यह नई सभ्यता जीवन के प्यार को लक्ष्य बनाकर बसने जा रही है। नास्तिकता के आधार पर आप इस नये धर्म का निरादर नहीं कर सकते, क्योंकि सभी पुराने धर्मों में भी जीवन ही प्रधान था। यह सभ्यता अनिवार्य रूप से आ रही है; यह विश्व का आगामी धर्म है। हमारे कलाकारों को इसे नोट कर लेना चाहिए। मुझे भय है कि ऐसा कहकर मैं सोद्दश्यता के बन्धन में कला को एकदम बाँधकर निर्जीव कर देने का अपराधी हो रहा हूँ। मगर, मेरी सफाई यह है कि आपकी तरह मैं भी प्राणहीन कला की पूजा के खिलाफ हूँ। मैं यह मानता हूँ कि वसन्त का गुलाव और कवि के स्वप्न अपने में पूर्ण हैं, वे किसी को कुछ सिखाने के लिए नहीं होते। किन्तु उस अटल भेद की सत्ता को कैसे अस्वीकार किया जाय जो एक गुलाब को किंशुक से भिन्न करता है, जिसकी विद्यमानता से कारण हम गुलाब के पास जाने से सुगन्ध पाते हैं और किंशुक के समीप जाने से छुंछा रंग ।साम्यवाद की रुक्षता से समझौता करने के लिए कला को मैं लाचार कर रहा होऊँ, सो बात नहीं है। जिस प्रकार साम्यवाद के उदय के पूर्व भी वही राज्य सुखी समझा जाता था जिसकी अधिक से अधिक प्रजा सुखी थी, उसी प्रकार साहित्य के समग्र इतिहास में भी वही कवि विजयी हुआ जिसकी कृतियों में मनुष्य की संस्कृति के लिए अधिक से अधिक स्पष्ट सन्देश था। युगयुगान्त से मनुष्य अपनी चरम उन्नति के लिए चिन्तित-सा आ रहा है, ज्ञान की प्रत्येक शाखा पर, भावना की प्रत्येक डाल पर, वह इसी उन्नति या विकास के फल की खोज करता रहा है। जो वस्तु उसके विकास

में सहायक नहीं हुई उसकी सत्ता में स्थायित्व लाने के लिए मानव भी सचेष्ट नहीं हो सका। यही कारण है कि जिन कलाकारों की कृतियाँ बौद्धिक शक्ति से रहित नहीं थीं, जिनकी वाणी रहस्यमयी माधुरी के संचार के साथ-साथ बुद्धि के धरातल को भी ऊपर उठाने में समर्थ थी, उनके सामने संसार ने उन कवियों और कलाकारों को अपेक्षाकृत निम्न स्थान दिया जो केवल फूलों की हँसी और पक्षियों के कलरव का अनुकरण कर रहे थे। कवि-कल्पना और सामाजिक जीवन के बीच सामंजस्य स्थापित किये बिना साहित्य आयुष्मान् नहीं हो सकता। छोटी-छोटी, क्षणिक और हलकी भावनाओं का गीत-प्रणयन भी अपनी जगह मूल्य रखता है, किन्तु कलाकारों में श्रेष्ठ तो वही गिना जायगा जो जीवन के किसी महान् प्रश्न पर महान् रूप से कला का रंग छिड़क सके। सच तो यह है कि ऊँची कला कोशिश करने पर भी अपने को नीति और उद्देश्य के संसर्ग से बचा नहीं सकती, क्योंकि नीति और लक्ष्य जीवन के प्रहरी हैं और कला जीवन का अनुकरण किये बिना जी नहीं सकती। चूँकि जीवन-मन्थन कलाकार का स्वभाव है और उसका जीवन कल्पना से उद्वेलित होकर उसकी ओर उन्मुख रहता है जो सुन्दर और महान् है, इसलिए उच्च कला की सभी कृतियों में प्रवेश पाने के लिए नीति अपना मार्ग आप ढूँढ़ लेती है, उसे कलाकार के सम्मान की प्रतीक्षा नहीं रहती। इतना ही नहीं, वरन् कभी-कभी उद्देश्य को ध्यानगत रखने हुए भी कवि उसे इस प्रकार प्रदान करता है मानों यह उसका लक्ष्य न रहा हो; मानों सौन्दर्य-सृष्टि की किया से ही नीति और पुण्य का आलोक फूट पड़ा हो। सची कला में सुन्दरता नीति-प्रचार का शिकार नहीं होती, उद्देश्य के सामने माथा नहीं टेकती। ऊँची कविता को अगर रूप सुन्दर होता है तो उसकी आत्मा तथा उसके अन्तर्गत भार भी पुण्य को प्रेरित करनेवाले तथा मंगलकारी होते हैं।

सोद्दश्य कला के खिलाफ सारे तर्कों से अवगत रहते हुए भी मुझे ऐसा लगता है कि कवि भी सामाजिक जीव है और निरुद्देश्य उसको जीभ नहीं खुलनी चाहिए। सौन्दर्य-सृजन की कला में असफल हो जाने पर कवि को पश्चात्ताप होना स्वाभाविक है; किन्तु चमत्कारपूर्ण सौन्दर्य के स्रष्टा को इस सूचना से सिर नीचा करने का कोई कारण नहीं दीखता कि अमुक समालोचक ने उसकी कृति में सोद्देश्यता का दोष निकाला है, विशेषतः उस समय, जब वह उद्देश्य सुन्दरता की झीनी चादर में आवृत हो। कला मौलिक वस्तु नहीं होती, वह तो कृत्रिम है, प्रकृति या जीवन का अनुकरण मात्र है। किन्तु प्रकृति की जो तसवीर हम साहित्य में देखते हैं उसमें कवि के ही हृदय के रस का रंग होता है। फिर यह समझ में नहीं आता कि कवि प्रकृति के रूप को पीकर उसे उगलते समय तटस्थ क्यों कर रहेगा। काव्य की ज्योति सूर्य की सीधी किरण नहीं, बल्कि दर्पण या ताल में पड़ा हुआ उसका प्रतिफलित प्रकाश है। इसी लिए जब हम साहित्य में किसी वर्ण्य वस्तु का चित्र देखते हैं तब उसके चारों ओर हमें एक प्रकार का आलोक मिलता है जो कवि की निजी भावनाओं तथा उस वस्तु-विषयक एसकी निजी धारणाओं से निस्सृत होता है। वर्ण्य वस्तु के साथ कवि की निजी भावनाओं के सम्मिश्रण में ही सत्य और कल्पना का पर स्पर आलिंगन होता है। चूँकि चित्र रचने के समय रचयिता के वर्णय वस्तु विषयक निजी भावों की अभिव्यक्ति आवश्यक हो जाती है. इसलिए उसकी क्रिया तटस्थ नहीं रह सकती। लाख कोशिश करने

पर भी कलाकार के जीवन-सम्बन्धी दृष्टिकोण से आप कला को मिन नहीं कर सकतेः क्योंकि जीवन ही इसका जन्म स्थान है, जीवन ही इसका पोषक है और जीवन पर ही इसकी प्रतिक्रिया भी होती है। किसी की यह उक्ति बड़ी मौजू मालूम होती है कि "काव्यगत कल्पना सत्य होती है. क्योंकि वह कभी भी आदर्श नहीं होती तथा वह आवश भी होती है, क्योंकि वह कभी भी सत्य नहीं होती।" जीवन से अन्योन्य सम्बन्ध होने के कारण साहित्य को जाने या अनजाने अपने सौन्दर्य के कोष में जीवन के उद्देश्य को छिपाकर चलना पड़ता है। मिट्टी से कल्पना का सम्बन्ध टूट नहीं सकता। काव्य की सबसे बड़ी मर्यादा इसमें है कि वह राष्ट्र की आधिभौतिक उन्नति और विकास तथा उसके स्थूल इतिहास के ऊपर कोमल और पवित्र आकाश बनकर फैलता रहे-किसी दूरस्थ शंख की भाँति ध्वनित होकर हमारी वृत्तियों को गगनोन्मुख किये रहे, हमारी बौद्धिक आनन्ददायिनी शक्ति को सोने न दे तथा उन भावों को जागरूक तथा चैतन्य रखे जो समकालीन सामाजिक आदर्श के अंग हैं।

14.6 कला में सोद्देश्यता का प्रश्न मूल्यांकन

दिनकर ने इस निबंध में स्पष्ट कहा कि कला केवल फूलों-पक्षियों का चित्रण मात्र नहीं, बल्कि जीवन की गंभीर समस्याओं से जुड़ी हुई है। कवि के लिए निरुद्देश्य होना उचित नहीं। सच्ची कला वही है, जो सौन्दर्य के साथ-साथ जीवन की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करे। दिनकर के अनुसार— कला और साहित्य का जन्म जीवन से होता है और उनका पोषण भी जीवन से ही होता है। साहित्य जीवन और समाज से अलग नहीं रह सकता। जीवन के संघर्ष से असन्तोष पैदा होता है और यही मेरे सपनों का आधार है। मैंने भी कल्पना की उड़ान भरनी चाही, लेकिन देश की मिट्टी की गंध ने मुझे हमेशा यथार्थ से जोड़े रखा। भारत माता का हराभरा अंचल केवल प्राकृतिक सुंदरता के कारण अच्छा नहीं लगता, बल्कि इसलिए भी क्योंकि उसमें किसानों का श्रम और उनकी आशाएँ बसी हैं। हिमालय देखकर गर्व होता है, पर सच्चा सम्मान तब है जब वह हमारे राष्ट्र का प्रहरी लगे। समुद्र तभी महान लगता है जब उसके जहाजों पर तिरंगा लहराए। रेगिस्तान और जंगल भी तभी सार्थक हैं जब वे हमारे इतिहास और शौर्य से जुड़े हों।

कविता केवल हल्की-फुल्की कल्पना नहीं है। सच्चा कवि वही है जो जीवन के दुख-सुख को समझे और झेले। उसकी कविता केवल मनोरंजन नहीं करती, बल्कि जीवन की समस्याएँ और उनके समाधान भी सामने लाती है। कविता तभी महान बनती है जब वह संघर्ष और अनुभूतियों से गुजरकर लिखी जाए। कुछ लोग कहते हैं कि कला और कविता का कोई उद्देश्य नहीं होता, वह केवल सुंदरता के लिए होती है। लेकिन मेरा मानना है कि कविता और कला जीवन तथा समाज से अलग नहीं हो सकतीं। नई सभ्यता में मनुष्य आकाश और स्वर्ग की कल्पना में नहीं, बल्कि धरती पर सुख और सुंदरता खोज रहा है। विज्ञान और उपयोगिता अब धर्म और परंपराओं की जगह ले रहे हैं।

सच्ची कविता वही है जिसमें सुंदरता के साथ उद्देश्य और यथार्थ भी जुड़ा हो। केवल फूल-पत्तियों या पक्षियों का वर्णन ही कविता नहीं है। महान कवि वही है जो समाज के बड़े प्रश्नों को अपनी कला के माध्यम से प्रकट कर सके।

अंत में, कविता का जन्म जीवन से होता है और उसका पोषण भी जीवन से होता है। कवि जीवन और समाज से अलग रहकर कला नहीं रच सकता। सच्ची कविता में कल्पना और यथार्थ का मेल होता है, और वही कविता समाज और राष्ट्र के लिए अमर बनती है।

14.7 सारांश

दिनकर ने 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' निबंध के माध्यम से यह सिद्ध किया कि कला और साहित्य निरुद्देश्य नहीं हो सकते। सच्चा साहित्य सौन्दर्य और नीति का संगम है। उसमें जीवन की समस्याओं का प्रतिबिम्बन, सामाजिक चेतना का समावेश और राष्ट्रीय पुनर्जागरण की प्रेरणा रहती है। रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार, कला केवल सुंदरता का सृजन नहीं है। सच्ची कला जीवन और समाज से जुड़ी होती है। कवि को समाज की पीड़ा, संघर्ष और आशाओं का प्रतिबिंब प्रस्तुत करना चाहिए। निरुद्देश्य कला केवल क्षणिक आनंद देती है, लेकिन सोद्देश्य कला जीवन और समाज को दिशा देती है। दिनकर का कहना है कि जीवन के अनुभव, गहन अनुभूतियाँ और दार्शनिक दृष्टि ही कला को प्रभावी और समाजोपयोगी बनाती हैं। इसलिए कला का उद्देश्य सिर्फ सुंदरता नहीं, बल्कि जीवन, नीति और समाज के उत्थान में योगदान देना होना चाहिए। उन्होंने कहा—

- कला और साहित्य केवल शून्य या स्वप्नलोक की चीज़ नहीं, बल्कि जीवन की गहरी अनुभूतियों और यथार्थ से जुड़ी होती है।
- साहित्यकार को समाज और राष्ट्र की समस्याओं से मुँह नहीं मोड़ना चाहिए।
- निरुद्देश्य कला केवल क्षणिक सौंदर्य दे सकती है, जबकि सोद्देश्य कला जीवन और समाज को दिशा प्रदान करती है।
- कवि यदि समाज के संघर्षों, पीड़ाओं और आशाओं को नहीं समझेगा तो उसकी कला अधूरी होगी।

14.8 शब्दावली

- सोद्देश्यता – उद्देश्यपूर्ण होना
- निरुद्देश्य – बिना किसी लक्ष्य के
- आलोचना – विवेचन, समीक्षा
- सामंजस्य – संतुलन, मेल
- प्रेरणा – उद्दीपन, प्रोत्साहन
- लोकमंगल: समाज का कल्याण।
- रसास्वादन: भावानंद की अनुभूति।
- सौंदर्याभिव्यक्ति: सुंदरता का सृजन और प्रस्तुतीकरण

14.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- 'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' निबंध के लेखक कौन हैं?

A. महादेवी वर्मा

B. रामधारी सिंह 'दिनकर'

C. नामवर सिंह

D. हरिवंश राय बच्चन

उत्तर - B. रामधारी सिंह 'दिनकर'

2- 'दिनकर' किस प्रकार के साहित्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं?

A.प्रेम और श्रृंगार कवि

B. प्रकृति-कवि

C. राष्ट्रकवि और चिंतक

D. यथार्थवादी कथाकार

उत्तर -C. राष्ट्रकवि और चिंतक

3- दिनकर के अनुसार कला की सबसे बड़ी मर्यादा क्या है?

A.कल्पना में खो जाना

B. जीवन से दूर रहना

C. राष्ट्र की उन्नति का पवित्र आकाश बनकर फैलना

D. केवल मनोरंजन करना

उत्तर- C. राष्ट्र की उन्नति का पवित्र आकाश बनकर फैलना

4. दिनकर के अनुसार कवि की महानता किससे बढ़ती है?

A. कल्पना की उड़ान से

B. कोमल भावनाओं से

C. जितने अधिक जीवनानुभव और संघर्ष वह झेलता है

D. केवल वर्णन-कौशल से

उत्तर –c जितने अधिक जीवनानुभव और संघर्ष वह झेलता है।

14.10 निबंधात्मक प्रश्न

1-'कला में सोद्देश्यता का प्रश्न' निबंध का मूल प्रतिपाद्य क्या है?

2- दिनकर कला और जीवन के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करते हैं?

3-'कला में सोद्देश्यता का प्रश्नदर्शन की व्याख्या कीजिए।-निबंध के आधार पर दिनकर के कला '

4-दिनकर के अनुसार साहित्य निरुद्देश्य क्यों नहीं हो सकता?

14.11 संदर्भ ग्रंथ सूची/ सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. रामधारी सिंह दिनकर- कला और साहित्य
2. रामधारी सिंह दिनकर संस्कृति के चार अध्याय
3. इतिहास और आलोचना- डॉ नामवर सिंह, लोक भारती महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, 1952-56
4. राष्ट्रकवि दिनकर पर आलोचनात्मक लेख
5. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास डॉ बच्चन सिंह राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड नई– 2006 ,संशोधित संस्करण ,1996 ,प्रथम संस्करण , दिल्ली
6. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान नयी दिल्ली, संस्करण 2010

इकाई 15. साहित्य क्यों : पाठ एवं मूल्यांकन

इकाई की रुपरेखा

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 विजयदेवनारायण साही : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
15.2.1 जीवन परिचय
15.2.2 व्यक्तित्व एवं कृतित्व
15.3 साही का साहित्य – आलोचना एवं काव्यदृष्टि
15.3.1 आलोचना दृष्टि
15.3.2 काव्य दृष्टि
15.4 साहित्य क्यों : सामान्य परिचय
15.5 साहित्य क्यों - पाठ एवं विवेचन
15.6 सारांश
15.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची
15.8 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री
15.9 निबंधात्मक प्रश्न

15.1 प्रस्तावना

शिक्षार्थियों ! इस निबंध से पूर्व आपने एक सुगठित योजना के अंतर्गत हिंदी के निबंध साहित्य की कार्मिक यात्रा को देखा है। आपने जाना कि हिंदी के आधुनिक युग , जिसको आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'गद्य-युग' के नाम से प्रस्तुत किया , उस युग में जिन नवीन विधाओं ने हिंदी पाठकों को आकर्षित किया उन विधाओं में निबन्ध विधा अपना अलग महत्त्व रखती है। इस पुस्तक के अब तक के पाठ से आपने यह भी जाना कि कैसे आधुनिक हिंदी निबंध विधा ने अपना कार्मिक विकास प्राप्त किया और साहित्यिक,सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और उत्कृष्ट ललित निबन्धों के रूप में हिंदी साहित्य का परिमार्जन लिया।

प्रस्तुत इकाई में आप हिंदी के एक और उत्कृष्ट निबंधकार स्व. श्री विजयदेवनारायण साही के अति महत्ववपूर्ण निबंध 'साहित्य क्यों' का पाठ करेंगे। इस पाठ में आप निबंध के लेखक विजयदेवनारायण साही का जीवन और साहित्यिक परिचय तो जानेंगे ही साथ ही साही जी कि आलोचनात्मक और काव्यगत दृष्टि के आधार पर हिंदी साहित्य और हिंदी समाज को समझने का लाभ भी प्राप्त करेंगे।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप-

- साही के व्यक्तिगत जीवन का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- साही के साहित्यिक अवदान को समझ सकेंगे।
- साही की आलोचनात्मक एवं काव्यात्मक दृष्टि को जान सकेंगे।
- साही की दृष्टि से साहित्य के मूल , उसके उद्देश्य एवं महत्त्व जान पायेंगे।
- साथ ही .... स्वयं भी साहित्य को देखने,समझने की नवीन दृष्टि प्राप्त कर सकेंगे।

15.3 विजयदेवनारायण साही : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

स्वतंत्रता के बाद हिन्दी साहित्य के परिदृश्य में 'नई कविता आंदोलन' के प्रमुख **कवि और आलोचक श्री विजयदेव नारायण साही (1924–1982)** का नाम अपना अलग महत्त्व रखता है। साही उन गिने-चुने प्रखर बौद्धिकों में थे जिन्होंने साहित्य को केवल शाब्दिक मनोरंजन नहीं, अपितु एक 'दार्शनिक बहस' माना। वे हिंदी की महत्त्वपूर्ण सप्तक परपरा के (तीसरा सप्तक) के मौलिक कवि थे और अपनी प्रखर आलोचकीय दृष्टि के कारण 'बहस करता हुआ आदमी' के रूप में जाने जाते थे।

15.3.1 जीवन परिचय

श्री विजयदेव नारायण साही का जन्म **7 अक्टूबर, 1924** को वाराणसी के प्रसिद्ध कबीर चौरा मोहल्ले में हुआ था। साही ने हाईस्कूल तक की शिक्षा बनारस से प्राप्त की। उसके पश्चात इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पहले स्नातक स्तर सिर अंग्रेजी साहित्य में एम.ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान के साथ उतीर्ण की। इसके बाद वे काशी विद्यापीठ, बनारस और उसके पश्चात इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक रहे। श्री विजयदेवनारायण साही ने कभी हिंदी की औपचारिक शिक्षा प्राप्त नहीं की। शुरुआती वर्षों में अपनी माता जी की प्रेरणा से उन्होंने हिंदी की अनौपचारिक शिक्षा प्राप्त की तत्पश्चात साही ने आजीवन हिंदी का अध्ययन स्वाध्याय और आंतरिक प्रेरणा से ही किया। साही "जीवनभर हिंदी के समर्थक रहे। राममनोहर लोहिया के अंग्रेजी हटाओ आंदोलन में उन्होंने बढ़-चढ कर हिस्सा लिया। वे आजीवन हिंदी में लिखते रहे और कभी अपने व्यक्तित्त्व पर अंग्रेजियत को हावी नहीं होने दिया। अंग्रेजी के अध्यापक होने पर भी वे प्राय: खादी के धोती-कुर्ता में रहते थे"। **(विजयदेवनारायण साही – रचना संचयन/ पृष्ठ - 13)**

प्रखर साहित्यिक प्रतिभा वाले साही प्रतिबद्ध समाजवादी सक्रिय कार्यकर्ता भी थे। बनारस – इलाहाबाद और भदोही के बुनकर – मजदूरों के बीच रहकर साही ने अनेक संगठनों का निर्माण किया और उनको निरंतर सक्रिय रखा। 1967 के चुनाओं में सही ने सोशलिस्ट पार्टी के टिकट पर भदोही संसदीय सीट से चुनाव भी लड़ा। साही का अंतिम व्याख्यान 1982 में पटना में हुआ और **5 नवंबर 1982** हृदयगति रुक जाने से हिंदी के इस प्रखर साहित्यिक व्यक्तित्त्व की आकस्मित मृत्यु हो गई।

15.3.1 व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व

साही जी कोरे सिद्धांतवादी साहित्यकार नहीं, बल्कि एक सक्रिय जमीनी राजनीतिक कार्यकर्ता भी थे। साही जी के साहित्यिक एवं राजनैतिक व्यक्तित्त्व के मिश्रण का विश्लेषण करते हुए गोपेश्वर सिंह ने लिखा – "साही आंदोलनधर्मी साहित्यकार थे. वे समाजवादी आंदोलन में अपादमस्तक डूबे हुए थे. लेकिन साहित्य के मूल्यांकन में राजनीतिक टूल्स का इस्तेमाल करने से प्रायः परहेज करते थे। उनके आलोचनात्मक लेखन का मुख्य आधार भारत का सामान्य मनुष्य और साहित्य की साहित्यिकता थी। वे प्रगतिशीलों की तरह 'साहित्य में राजनीति और राजनीति में साहित्य' की बात करने के कायल नहीं थे। उन्होंने साहित्य को कभी राजनीतिक विचारों का उपनिवेश नहीं बनने दिया। मार्क्सवादी आलोचना की कम्युनिस्ट परिणति की वे आलोचना करते रहे। साहित्य का अपना प्रतिरोधी स्वर होता है। साही उसी प्रतिरोधी स्वर को रेखांकित करने का प्रयत्न करते रहे।

"सत्य प्रकाश मिश्र ने साही को 'कुजात मार्क्सवादी' कहा है। राममनोहर लोहिया ने गाँधीवादियों की तीन कोटियाँ बनाई थीं - मठी गाँधीवादी, सरकारी गाँधीवादी और कुजात गाँधीवादी। लोहिया के अनुसार कुजात गाँधीवादी वे लोग थे जो गाँधीवाद का रचनात्मक विकास कर रहे थे। साही नरेन्द्रदेव की प्रेरणा से समाजवादी आंदोलन में गए थे। नरेन्द्र देव मार्क्सवादी थे। लेकिन उनका मार्क्सवाद लोकतंत्र की जमीन पर खड़ा था। उसमें भारत की परंपराएँ समाहित थीं। साही ने मार्क्सवाद के इसी सार तत्त्व को ग्रहण किया था और उसे भारतीय जमीन पर प्रतिष्ठत करने का संघर्ष किया था। जब उन्हें 'कुजात मार्क्सवादी' कहा जा रहा है तो उसका आशय यही है। (विस्तार से अध्ययन के लिए शिक्षार्थियों से अनुरोध है कि वे 'समालोचन' ब्लॉग पर गोपेश्वर सिंह का आलेख देखें)

विजयदेव नारायण साही कि प्रमुख रचनाएँ निम्न लिखित हैं -

'तीसरा सप्तक' (1959), 'मछलीघर', ('मछलीघर साही जी का प्रथम कविता संग्रह था जिसका प्रकाशन साही जी के जीवित रहते ही हो गया था ,1966 में भारती भण्डार प्रकाशन गृह, इलाहाबाद से। शेष सभी पुस्तकों का प्रकाशन साही जी की आकस्मिक मृत्यु के बाद उनकी पत्नी श्रीमती कंचनलता साही के प्रयासों से हुआ।) **'साखी'(1983)**, **'संवाद तुमसे'(1990)**, **'आवाज़ हमारी जाएगी'(1995)** (काव्य संग्रह) **जायसी' (1983), 'साहित्य और साहित्यकार का दायित्व' (1983), 'छठवाँ दशक'** (इस पुस्तक का प्रकाशन भी साही की मृत्यु के बाद 1987 में हुआ लेकिन इस पुस्तक में संकलित निबन्धों का चयन और उसकी अधूरी भूमिका का लेखन साही जीवित रहते कर चुके थे), **'साहित्य क्यों' (1988)** तथा **'वर्धमान और पतनशील' (1991) 'लोकतंत्र की कसौटियां'(1990)(आलोचना)।**

संपादन **'नई कविता'(1956-1968)** और **'आलोचना' (1953-1958)** पत्रिकाओं के संपादन मंडल में सम्मिलित रहे।

साही के साहित्यिक अवदान पर बात करते हुए प्रो.गोपेश्वर सिंह ने लिखा है कि "साही ने ललित निबंध, कहानी, नाटक और प्रहसन जैसी विधाओं में भी लिखा था। इसके साथ उन्होंने अनुवाद कार्य भी प्रचुर मात्रा में किया था। ये सारी सामग्री अब तक पुस्तक रूप में प्रकाशित नहीं हो पाई है।

'सड़क साहित्य' के नाम से सर्वेश्वर दयाल सक्सेना और अन्य मित्रों के साथ साहित तुरंत ढंग से हास्य-व्यंग्य की कविताएँ लिखते थे"। (विजयदेवनारायण साही रचना संचयन/ पृष्ठ - 14)

इसके अतिरिक्त साही ने डायरी लेखन और कुछ निबंध और रचनाओं का लेखन अंग्रेजी में भी किया है।

15.3 साही का साहित्य – आलोचना एवं काव्यदृष्टि

15.3.1 आलोचना दृष्टि

साही की आलोचना पद्धति कि प्रथम विशेषता यह है कि उनकी आलोचना दृष्टि किसी एकमात्र परम्परागत साहित्यिक सिद्धांत या वाद (जैसे प्रतिबद्ध मार्क्सवाद या प्रतिबद्ध कलावाद) का अंधानुकरण मात्र नहीं थी। उन्होंने आलोचना को 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण' का आधार बनाया। "साहित्य के प्रति अपने इसी दायित्व बोध के साथ साही ने 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति' निबंध में उस दृष्टिकोण की तीखी आलोचना करते हैं जिसे वे कम्युनिस्ट आलोचना का नाम देते हैं. वे साहित्य को 'हथियार' बनाए जाने का विरोध करते हैं और साहित्य-चिंतन को पार्टी लाइन के अनुकूल ढालने का भी"।(वही/पृष्ठ - 28)

साही कि आलोचना दृष्टि कि दूसरी विशेषता थी 'लघु मानव की अवधारणा'। उनका बहुपठित और सुप्रसिद्ध निबंध 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर एक बहस' नई कविता के समय का सबसे चर्चित और विचारोत्तेजक प्रस्थान बिंदु है। उन्होंने 'लघु मानव' (सामान्य मनुष्य) के माध्यम से उस साधारण व्यक्ति की गरिमा को प्रतिष्ठित किया जो ऐतिहासिक महामानवों की भीड़ में लगभग ओझल सा हो रहा था।

साही जी का सबसे महत्वपूर्ण योगदान 'लघु मानव' के सिद्धांत को प्रतिपादित करना था। 1960 के आसपास जब हिंदी साहित्य में 'नई कविता' का दौर था, तब यह प्रश्न उठा कि कविता का नायक कौन होना चाहिए?

महामानव बनाम लघु मानव के इस विमर्श में साही जी से पूर्व, साहित्य विमर्श में बहुधा 'महामानव' (जैसे राम, कृष्ण या महान क्रांतिकारी नायक) को केंद्र में रखा जाता था। साही जी ने तर्क दिया कि आधुनिक युग का असली नायक वह साधारण मनुष्य है, जो अपनी सीमाओं, दुखों और अभावों के साथ संघर्ष कर रहा है।

साही के विवेचन में , 'लघु मानव' वह है जो किसी राजनीतिक सिद्धांत का जीवनहीन अंग बनकर अपनी मानवीय गरिमा नहीं खोना चाहता, वह अपनी छोटी-सी दुनिया में अपनी अस्मिता को बनाए रखना चाहता है। साधारण मनुष्य या आम नागरिक को ध्यान में रख कर विकसित की गई यह अवधारणा अनिवार्य रूप से लोकतांत्रिक थी। साही जी का मानना था कि हर व्यक्ति का अनुभव अद्वितीय है और साहित्य को उसी 'अद्वितीयता' को अपना मूल आधार बनाये रखना चाहिए।

मध्यकाली प्रेममार्गी कवि मालिक मुहम्मद जायसी जायसी का पुनर्मूल्यांकन साही जी के आलोचनात्मक विवेक का तीसरा महत्वपूर्ण उदाहरण कहा जा सकता हैं । साही की पुस्तक 'जायसी'(1983) हिंदी आलोचना की सर्वाधिक विवेक सम्पन्न पुस्तकों में से एक कही जा सकती है । साही की आलोचना का उत्कर्ष उनकी 'जायसी' नामक पुस्तक है। यह उनके आलोचनात्मक लेखन की उपलब्धि है। इस पुस्तक के जरिए वे नए जायसी को 'डिस्कवर' करते हैं। कवि जायसी की ऐसी सरस और आत्मीय व्याख्या हिंदी आलोचना में अब तक देखने को न मिली थी। कहा जा सकता है कि 'जायसी' न सिर्फ साही की बल्कि 1950 के बाद की सबसे बड़ी आलोचनात्मक उपलब्धि है। जायसी को सूफी कवि मानने की धारणा हिंदी आलोचना में व्यापक रूप से फैली हुई थी। साही ने इस धारणा का खंडन किया और उन्हें कवि के रूप में प्रतिष्ठित किया। इसी के साथ उन्होंने जायसी को हिंदी का 'पहला विधिवत कवि' माना। वे लिखते हैं: "सबसे पहले जिस बात को अच्छी तरह मन में बैठना जरुरी है, वह यह है कि जायसी हिंदी के पहले विधिवत् वरिष्ठ कवि हैं।"(गोपेश्वर सिंह /समालोचन ब्लॉग)

15.3.2 काव्य दृष्टि

साही की कविताओं में गहरा मर्मस्पर्शी व्यंग्य और आधुनिक बोध मिलता है। उनकी कविता 'मछलीघर'(1966) का रूपक आधुनिक मनुष्य की घुटन और उसकी नियति को बहुत स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करता है। उनकी कविताओं में एक ओर दार्शनिक बेचैनी है, तो दूसरी ओर साधारण मनुष्य के अधिकारों के लिए संघर्ष । उनके काव्य संग्रह 'मछलीघर' के माध्यम से उन्होंने आधुनिक मनुष्य की विडंबना को एक रूपक में प्रस्तुत किया । साही ने दिखाया कि जैसे मछलीघर में मछली को लगता है कि वह मुक्त है, लेकिन वह कांच की अदृश्य दीवारों से घिरी होती है, वैसे ही आधुनिक मनुष्य स्वतंत्र दिखने के बावजूद व्यापारिक/औद्योगिक व्यवस्था , मशीनीकरण , और तकनीकीकरण के अदृश्य बंधनों में बद्ध है।

साही कि कविताओं कि एक और विशेषता यह है कि उनकी कविताओं में भीड़ में अकेले खड़े व्यक्ति की पीड़ा है, जो उच्चवर्ग वाद के विरुद्ध है और मूल व्यवहारिता के साथ है। अपने अंतिम काव्य संग्रह 'साखी' में वे कबीर के करीब जाते दिखाई देते हैं। यहाँ वे आधुनिकता और परंपरा के बीच एक सेतु बनाते हैं। यहाँ उनकी भाषा अधिक पारदर्शी, तीखी और दार्शनिक हो गई है। 1983 में प्रकाशित कविता संग्रह 'साखी' में संकलित कविताएं एकाकीपन और दार्शनिक भावभूमि पर एक नए और उदास अंदाज़ से पाठक को प्रभावित करती हैं ।

साही का महत्त्व

विजयदेव नारायण साही हिंदी के उन विरल आलोचकों में से हैं जिन्होंने अपनी वैचारिकता को किसी राजनीतिक दल की विचारधारा का गुलाम नहीं बनने दिया। उनकी आलोचना में जो तर्क की प्रखरता है और कविता में जो संवेदना की गहराई है, वह उन्हें आज भी प्रासंगिक बनाती है। उन्होंने

हिंदी साहित्य को यह सिखाया कि "अवज्ञा परमो धर्म:" (असहमति सबसे बड़ा धर्म है)—यानी किसी भी विचार को आँख मूँदकर स्वीकार न करना ही एक सच्चे बुद्धिजीवी की पहचान है। विजयदेव नारायण साही की आलोचना दृष्टि और उनके 'लघु मानव' सिद्धांत को गहराई से समझने के लिए हमें उस दौर की साहित्यिक और वैचारिक पृष्ठभूमि को देखना होगा। साही ने केवल साहित्य नहीं लिखा, बल्कि साहित्य को देखने का एक नया दृष्टिकोण भी दिया। विजयदेव नारायण साही आज इसलिए प्रासंगिक हैं क्योंकि उन्होंने 'सत्ता के सामने सत्य बोलने' का साहस दिखाया। उनकी आलोचना केवल अकादमिक नहीं थी, बल्कि वह एक गहरे नैतिक सरोकार से उपजी थी। विजयदेवनारायण साही कि आलोचना कोरी तत्वमीमांसा न रहकर सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक विमर्श का रूप धारण करती है।

इस आधार को ध्यान में रखकर समझा जा सकता है कि साही कि बहसधर्मी आलोचना ने उन्होंने 'नई कविता' को एक ठोस वैचारिक आधार प्रदान किया।

15.4 साहित्य क्यों : सामान्य परिचय

विद्यार्थियों, "साहित्य क्यों" विजयदेवनारायण साही का द्वारा लिखा बहुत महत्त्वपूर्ण निबन्ध हैं। हालाकि यह प्रश्न कि साहित्य क्या है ? साहित्य क्यों लिखा जाता ? साहित्य (काव्य) के हेतु क्या हैं? साहित्य कि प्रेरणा क्या है ? ये प्राचीन और मध्यकालीन साहित्यकारों को भी उद्वेलित करने वाले प्रश्न हैं लेकिन आधुनिक बुद्धिजीवी के लिए ये सवाल उसकी अपनी मानवीय अस्मिता को खोजेने से जुड़ जाता हैं। विद्यार्थी याद करें कि हिंदी साहित्य के प्रथम विधिवत आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी "कविता क्या है" नामक महत्वपूर्ण निबंध लिख चुके हैं। और उस निबंध में आचार्य शुक्ल कविता (प्रकारांतर से साहित्य) के केवल बाहरी ढाँचे पर विचार नहीं करते बल्कि कविता कि विषय वस्तु और सामान्य मनुष्य और सामान्य मानवीय जीवन के लिए कविता की प्रासंगिकता को खोजने और समझाने का प्रयास करते हैं।

"साहित्य क्यों ?" नामक अपने निबंध में साही भी साहित्य कि प्रासंगिकता को सामान्य मनुष्य की अस्मिता से जोड़ने का प्रयास करते हैं। प्रतिष्ठित बौद्धिक सिद्धांतों और कोरे राजनैतिक वादों से तटस्थ होकर साही ने साहित्य को सामान्य भारतीय और वैश्विक परिदृश्य में देखने का प्रयास किया। साही, "विश्व साहित्य और भारतीय साहित्य के परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट और परिभाषित करते हैं। जिसमें पुनरुत्थान और क्रान्तिवाद का रोमान नहीं बल्कि सामयिक यथार्थ की व्यवस्थित समझ-बूझ निर्धारक है। वे चाहते थे कि साहित्य अतीत के मोह और क्रांतिकारी भविष्य कि कल्पना के रोमान में डूबने के बजाय वैश्विक राजनैतिक यथार्थ से टकराए और उसे अनुभूत बनाए। उनका सवाल था – "क्या साहित्य ढलती हुई बीसवीं शताब्दी के मन में गहरे घुमड़ने वाले इन बैचैन और विप्लवी प्रश्नों की अनुभूति कराने में सक्षम है।" (जो विद्यार्थी विजयदेवनारायण साही के समग्र साहित्य का विचारोत्तेजक और तटस्थ विश्लेषण पढ़ना चाहते हैं वे खोज कर युवा आलोचक श्री आनंद पांडे की सद्य प्रकाशित पुस्तक

'आकांशाओं के द्वीप में लघु मानव' का अध्ययन कर सकते हैं। ऊपर लिखित उद्धरण श्री आनद पांडे की उसी पुस्तक के पृष्ठ संख्या 104 -105 से लिया गया है।)

अब विद्यार्थी आगे के पन्नों में साही का निबंध 'साहित्य क्यों' का पाठ करेंगे और देखेंगे कि यह निबंध मानवीय चेतना, सृजनशीलता और आज के जटिल समय के बीच साहित्य की प्रासंगिकता पर एक गंभीर विमर्श प्रस्तुत करता है। 16.5 साहित्य क्यों - पाठ एवं विवेचन

साहित्य क्यों

शायद आप में से अधिकांश ने गालिब का वह प्रसिद्ध शेर सुना होगा :

सुखन में खामः-ए-ग़ालिब की आतश अफशानी
यकीं है हमको भी, लेकिन अब उसमें दम क्या है

साहित्य क्यों ? इस प्रश्न को पूछने के साथ हम एक ऐसे सन्दर्भ की कल्पना कर सकते हैं जहाँ लेखक अपनी सारी ज़िन्दगी तन्मयता और लगन के साथ साहित्यिक रचना में गुज़ारने के बाद अपने पूरे कार्यकाल पर वापस मुड़कर देखता है, शायद उसने अपने रचना कर्म से अपने से बाहर कुछ निर्मित करने की आशा की थी। परिवेश पर कुछ प्रभाव डालने की, किसी कल्पना लोक का सृजन करने की जिसकी साक्षी और लोग भी दे सकें, समाज या मनुष्यता को बदलने की या कम-से-कम अपने विषय में लोगों में एक खास तरह का रुझान पैदा करने की। जब सारी ज़िन्दगी के बाद वह इसमें से कुछ भी घटित होता हुआ नहीं देखता-सचमुच या भ्रमवश-तब वह पूछता है, इसमें दम क्या है? शायद गालिव का प्रश्न इसी मनःस्थिति को व्यक्त करता है-कुछ हृदय की पुकार, कुछ प्रतिरोध की भावना, कुछ अपने कर्म के प्रति गहरी प्रतिबद्धता और कुछ थकान और हताशा। कहा जा सकता है कि बाद में गालिब को जितना व्यापक आकर्षण मिला वह उनके प्रश्न का पर्याप्त प्रत्युत्तर है और सिद्ध करता है कि ग़ालिब का सवाल कितना भ्रमपूर्ण और क्षणभंगुर था। लेकिन क्या सचमुच ग़ालिब का सवाल इतना स्थूल, इसलिए निरर्थक और क्षणभंगुर है? क्या इस प्रश्न में एक ऐसा गुण नहीं है जो तमाम रस्मी उत्तरों के बाद भी शान्त नहीं होगा? रचनाकर्म के पूरे विस्तार में अनुभूत लेकिन अदृश्य हवा की तरह मंडराता रहता है ?

अगर सब उत्तरों के बाद भी यह प्रश्न शेष रह जाता है तो ग़ालिब के लहजे से हम इतना तो सीख ही सकते हैं कि सामान्य और यशोगान वाले उत्तरों से काम नहीं चलेगा। इस प्रश्न को और उस पर उपजी प्रतिक्रिया को सघन, प्रत्यक्ष और तात्कालिक होना पड़ेगा। इसलिए मैं इस प्रश्न को आपके सामने विचारार्थ प्रस्तुत करते समय भरसक सघन संदर्भ को ही निर्मित करने की कोशिश करूँगा। एक अर्थ में यह प्रश्न इतना पुराना और दूरदराज़ का है कि इसे विस्मृत या उत्तरित मानकर चला जा सकता है। कम-से-कम आज के रचनाकर्म से इसका कोई खास रिश्ता नहीं दीखता। क्या इसका कोई और अर्थ भी है? जिस अर्थ में यह प्रश्न सिर्फ बीती हुई रचनाओं पर सिंहावलोकन या सिर्फ थकान या मोहभंग से नहीं उपजता बल्कि बीते हुए, वर्तमान और आने वाले सृजनात्मक क्षणों में भी कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष गूँजता है ? दूसरे शब्दों में क्या यह प्रश्न जीवित सृजन क्रम से जुड़ता है ? मैं समझता हूँ कि

यह अनुगूँज है। मेरी कोशिश होगी कि उस अनुगूँज के सम्बन्ध में कुछ आनुषंगिक प्रश्न आपके सामने रख दूँ। स्पष्टतः इस प्रश्न के उत्तर में मैं कोई सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं करूँगा। न शायद विषय प्रवर्तक से आप इस तरह की उम्मीद ही करेंगे।

ग़ालिब के शेर के बाद मैं विनयपूर्वक इस सिलसिले में एक व्यक्तिगत बातचीत का उल्लेख करने की इजाज़त चाहूँगा। इस लेख को लिखने के पूर्व मैंने आज के रचनारत कवि, जिन्हें अपना मित्र कहने का सौभाग्य मुझे है, श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना से पूछा कि "साहित्य क्यों ?" इस विषय पर उनकी क्या प्रतिक्रिया है ? उन्होंने प्रश्न का उत्तर सीधे न देकर एक विडम्बना प्रस्तुत की। उस दिडम्बना को उन्होंने कुछ इस तरह परिभाषित किया उनके अनुसार सवाल यह है कि हम कितने बड़े या छोटे साहित्यिक सन्दर्भ में इस प्रश्न को पूछते हैं। अगर हमारे सामने साहित्य का इतना विशाल चित्रफलक है जिसमें वाल्मीकि, होमर, कालिदास, शेक्सपीयर, गेटे, टाल्सटाय इत्यादि सब बड़े भारी काल विस्तार में प्रकाशमान हैं तो प्रश्न का आकार बहुत छोटा या लगभग अनर्गल-सा हो जाता है। मनुष्यता का इस साहित्यिक विस्तार के प्रति व्यवहार इस 'क्यों' का शमन कर देने के लिए काफी होना चाहिए। दूसरी तरफ जब वे आज के विशिष्ट देश-काल में-या और प्रत्यक्ष शब्दों में इस 1970 के भारतवर्ष में हिन्दी के किसी रचनारत लेखक की ओर या स्वयं अपनी ओर देखते हैं, और साथ ही साथ अपने समूचे समाज की गिरावट, कुल मिलाकर एक मानव-व्यापी असमर्थता, नपुंसकता और इस सबको ढकने के लिए आज के कवच-पर-कवच धारे मनुष्य को देखते हैं तो इस प्रश्न का आकार बढ़ता जाता है-और लगता है कि प्रश्न सटीक है और शायद आवश्यक भी।

मेरे विचार से सर्वेश्वरजी ने विडम्बना को जिस ढंग से रखा उसमें आज के लेखक के लिए मात्र अपने विछड़ जाने का सामान्य अनुभव नहीं है जिसका जवाब आज नहीं तो कल हर लेखक को मिल जाता है। यह विडम्बना भी कुछ ज्यादा प्रखर ढंग से उसी ओर संकेत करती है कि सव उत्तरों के बाद प्रश्न शेष रह जाता है और सृजन कर्म पर दबाव डालता है। साहित्य की एक खास किस्म की उपादेयता, अर्थवत्ता या मूल्यवत्ता जो विशाल चित्रफलक को सहज ही उपलब्ध है-किन कारणों से छोटे और विशिष्ट सन्दर्भ में घटित नहीं हो पाती ? किन कारणों से और किन अर्थों में वाल्मीकि या कालिदास का साहित्य होना सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की सहायता नहीं कर पाता ? हम सब जानते हैं कि हिटलर के जिन सिपाहियों के जिम्मे बन्दी केन्द्रों में नृशंसता के साथ लोगों की चमड़ी उधेडने का काम था, उनमें से बहतों के बीच शेक्सपीयर बहुत लोकप्रिय था। इसके लिए किसकी प्रशंसा की जाये ? शेक्सपीयर की ? साहित्य की ? या उन नाजी कोतवालों की ? मैं उम्मीद ही कर सकता हूँ कि सर्वेश्वरजी को कभी ऐसी परिस्थितियों में लोकप्रिय होने का बोझ नहीं उठाना पड़ेगा। लेकिन यदि दुर्भाग्य से ऐसा हुआ, तो सर्वेश्वरजी की पुस्तक के बगल में पड़ी हुई शेक्सपीयर की पुस्तक उनकी सहायता कहाँ तक करेगी ? किस अर्थ में करेगी।

शायद इस ढंग से इस प्रश्न को रखना सिर्फ एक तनाव को पैदा करना है। इसलिए मैं फिर कुछ व्यापक शब्दावली में प्रश्नों को दोहराने की अनुमति चाहूँगा। यदि परम्परित उत्तर आज के लेखन कर्म

के लिए ज्यों के त्यों उपलब्ध नहीं हैं तो इस प्रतीति के क्या नतीजे आज के लेखन कर्म के लिए निकलते हैं ? यदि हम मान भी लें कि परम्परित उत्तरों से वचकर हम नहीं जा सकते तो भी उन उत्तरों को हम किस तरह अपने आज के रचना कर्म के लिए जीवन दे सकते हैं ? क्या हम इस टूटी हुई कड़ीको जोड़ सकते हैं? विशाल चित्रफलक और सृजनशील बेचैन रेखा के बीच जो खाई है वह हमारे लिए किन चुनौतियों का निर्माण करती है ? इस विडम्बना का सामना करने या उससे कतराने का क्या परिणाम है ? क्या हम छलाँग लगाकर इस विडम्बना से बाहर निकल सकते हैं? प्रश्नों की एक लम्बी कतार एक के बाद एक दिखलायी पड़ती है।

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि लेखक के लिए ज़रूरी नहीं है कि इन तमाम सवालों का जवाब दे। मेरा इरादा इस तरह के उत्तरों की शुरुआत करने का है भी नहीं। उन लोगों के लिए जो आज की गोष्ठी में उपस्थित और रचना कर्म में स्वयं प्रवृत्त नहीं हैं, केवल साहित्य के पाठक हैं। मैं सिर्फ उन सीमाओं का संकेत देना चाहता हूँ जो रचना में लगे हुए लेखक के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, ज्यादातर परोक्ष रूप से लेखन कर्म को घेरती रहती हैं और उस अनवरत तलाश को जन्म देती हैं जिसे हम रचा जाता हुआ साहित्य कहते हैं। और उन सज्जनों के लिए, जो स्वयं रचना में रत हैं और जिनकी ओर से मुझे सिर्फ इसलिए चुना गया है कि विषयप्रवर्तक के रूप में मैं उन शस्पष्ट ध्वनियों को रूपायित कर दूँ जिनसे वे स्वयं अवगत हैं, मैं केवल परिभाषाकार का काम कर रहा हूँ। मैं केवल इतनी आशा कर सकता हूँ कि ये प्रश्न उन्हें अपने अनुभवों और अनुभूतियों को याद दिलायेंगे और उन विचार-श्रृंखलाओं को झंकृत कर देंगे जिन्हें सुनने के लिए हम आज यहाँ उपस्थित हुए हैं।

इसके पूर्व कि मैं कुछ और पहलुओं की चर्चा करूँ इस विडम्वना से बच निकलने के लिए सिद्धान्ततः दो आसान रास्तों का उल्लेख करूंगा। एक तो यह कि कर्म को ऐसी नैसर्गिक प्रक्रिया के रूप में देखा जाये जिस पर लेखक का वश नहीं है। साहित्य कुछ इस तरह लिखा जाता है जिस तरह बुलबुल गाती है। यहीं क्यों का प्रश्न अनर्गल है। मैं नहीं समझता कि कोई व्यक्ति आज इस तर्क को गम्भीरतापूर्वक प्रस्तुत करेगा। जिस अर्थ में बुलबुल का गाना नैसर्गिक है, स्पष्टतः लेखक का लेखनकर्म उस अर्थ में नैसर्गिक नहीं है।

दूसरा आसान रास्ता व्यावहारिक है। 'साहित्य क्यों' इस तरह का प्रश्न ऐसे लोगों के बीच उठाने का क्या प्रयोजन है जो इस क्यों को सोचने के पहले ही लेखन-कर्म के प्रति प्रतिवद्ध हो चुके हैं? शायद हर लेखक की ज़िन्दगी में एक ऐसा समय आता है जब उसे अपने आप से प्रश्न पूछना पड़ता है। जब संक्रामक रोग की तरह लगी हुई साहित्यिक कृतित्व की पहली उत्तेजना ढीली पड़ने लगती है। ज़्यादातर लोग इसका एक चालू उत्तर दे डालते हैं। लेकिन में समझता हूँ कि एक स्तर पर हर गम्भीर लेखक के मन में प्रश्न शेष रह ही जाता है। रचना का हर कर्म साथ ही साथ इस प्रश्न से उलझने या इससे कतराने का कर्म भी बनता रहता है। आखिरकार वास्तविकता इतनी ही नहीं है कि लेखक कवि है इसलिए कविता लिखता है। ज्यादा मूलभूत सत्य यही है कि लेखक कविता लिखता है इसलिए कवि है

लेकिन व्यावहारिक स्तर पर भी लेखकों का इस तरह किसी गोष्ठी में इकट्ठा होना अपने आपमें विचित्र और असंगत स्थिति है, अगर हम यही संकल्प करें कि सृजनशीलता एक ऐसा कर्म है जिसके लिए सहकर्मियों के साथ संवाद की कोई सार्थकता नहीं है। में मानकर चलता हूँ कि इस संवाद की सार्थकता है चाहे वह संवाद आमने-सामने हो या देश-काल के बड़े अन्तराल को पार करके। मगर यह बात ठीक है तो इस संवाद में साहित्य क्यों का प्रश्न अन्ततः उठेगा ही। इस स्तर पर इस प्रश्न का स्वरूप कुछ इस तरह का होगा क्या इस संवाद की कोई भूमिका सृजन-कर्म में है? क्या लेखकों को इस तरह की गोष्ठियों की उपयोगिता है-उस स्पष्ट उपयोगिता के अतिरिक्त प्रधार और मेल-जोल के द्वारा (जो इस तरह की गोष्ठियों में अनिवार्य है) उस माहील का निर्माण किया जाये कि इस समय कौन ज्यादा कौन कम प्रतिष्ठित है ?

साहित्य के रत्चना-कर्म और साहित्य को प्रतिष्ठित करने की प्रक्रियाओं को लेकर भी बहस उठायी गयी है। जैसे वे दोनों परस्पर विरोधी और एक दूसरे को विध्वंस करने वाली प्रक्रियाएँ हों। इस पहल पर भी कुछ बातें कहना चाहूँगा। समाज में साहित्य को प्रतिष्ठादान करने वाली मशीनरी गोष्ठियाँ, विश्वविद्यालय, प्रचार, पुरस्कार, सम्मान, अभिनन्दन-संक्षेप में वह सब जिसे प्रतिष्ठान का नाम दिया जाता (और जिसमें विद्रोह का प्रतिष्ठान भी शामिल है) ये सव साहित्य के अनिवार्य सम्बन्धी हैं। यह प्रतिष्ठादानी मशीनरी भी साहित्य के उस विराट चित्रफलक से ही अपनी सार्थकता ग्रहण करती है जिसका ज़िक्र मैंने पहले किया। लेकिन अक्सर यह प्रतिष्ठान उस बेचैन रेखा के साथ जो विडम्बना का दूसरा छोर है उत्पात करता है। क्या यह सम्भव है या क्या यह वांछनीय है कि इस प्रतिष्ठादानी मशीनरी को ध्वस्त कर दिया जाये ?

लगभग दो दशक पहले इंग्लैण्ड में साहित्य के सन्दर्भ में प्रतिष्ठान का अलग से नामकरण किया गया और सृजनशील-कर्म या लेखक की निजी अनुभूति की परिभाषा कुछ इस तरह की गयी कि प्रतिष्ठान मात्र का विध्वंस साहित्य के अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। आज भी हम उस प्रतिष्ठान-विरोध की कुछ धमक सुन सकते हैं। क्या सम्भव या वांछनीय है कि प्रतिष्ठादानी मशीनरी को ध्वस्त कर दिया जाये ? मुझे सम्भावना और वांछनीयता दोनों में ही संदेह है। मैं कल्पना करता हूँ कि अगर किसी जादू से समाज की प्रतिष्ठादानी मशीनरी बिलकुल खत्म हो जाये पुरस्कार, गोष्ठियाँ, पत्र-पत्रिकाएँ, विश्वविद्यालय सब हों, लेकिन ये सब साहित्य के प्रति चुप्पी साध लें तो क्या कुछ ही दिनों में ये तमाम लेखक मिलकर इस प्रतिष्ठादानी मशीनरी को फिर से निर्मित नहीं कर डालेंगे? यूरोप के लेखक का जो भी अनुभव हो और उसके नारे का जो भी मतलब हो लेकिन भारतवर्ष की भाषाओं में पिछले सौ या अधिक वर्षों से क्या हम इस प्रतिष्ठान के निर्माण में लेखकों को रत नहीं देखते ?

समूचा साहित्य जन्म लेते ही प्रतिष्ठान की विकराल दाढ़ों में समाने लगता है। प्रतिष्ठान की दाढ़ों की चक्की बहुत सटीक या पूरी विचक्षणता के साथ नहीं चलती। इसीलिए बहुत कुछ बाहर गिर जाता है, या जो कुछ भी पिसकर, चिकना होकर मानवता की धरोहर के रूप में प्रतिष्ठान से हमें मिलता है उसमें बहुत-सा हमारे लिए स्वीकार्य भी नहीं होता। लेकिन केवल इसी आधार पर साहित्यिक सृजन

और प्रतिष्ठान के दो विपरीत और परस्पर विरोधी ध्रुवों की कल्पना कर लेना प्रतिष्ठान की प्रकृति को गलत समझना है। इससे भी आगे साहित्य की प्रकृति पर एक झूठा नकाब डालने की कोशिश है। हम ऐसे प्रतिष्ठान की कल्पना कर सकते हैं जो सी फीसदी अचूक और विचक्षण हो। चुनाव में न सही तो इसमें कि जो कुछ भी चुनाव से छूट जाये उसका नितान्त विनाश प्रतिष्ठान कर दे और जो कुछ भी चुना जाये उसे अस्वीकृत करने वाले संशय का भी विनाश कर दे। इस तरह का प्रतिष्ठान शायद अनन्तकाल तक अपनी सत्ता की गारण्टी तो नहीं दे सकता लेकिन इतना तो किया ही जा सकता है कि प्रतिष्ठान का संशोधन प्रतिष्ठान के अंगों के अतिरिक्त और किसी प्रतिष्ठान-विरोध से संभव न हो। इस शताब्दी का ही मानवीय इतिहास इसके उदाहरण प्रस्तुत कर चुका है। साहित्यहीन प्रतिष्ठान की कल्पना तो की जा सकती है लेकिन प्रतिष्ठानहीन साहित्य की कल्पना असंभव है।

साहित्यिक परिवेश में बहुत-सी धूल, गर्द, गुबार, दिलों का टूटना, गद्दारी और बेइमानी की शिकायत-विद्रोह, फिर विद्रोह के प्रति विद्रोह, तेज ईमानदार गुस्सा और फिर उस ईमानदार गुस्से का पाखंड की शक्ल अख्तियार कर लेना-यह सब साहित्य और प्रतिष्ठान के रिश्ते को गलत ढंग से प्रस्तुत करने का परिणाम है। असली समस्या इस रिश्ते को खत्म कर देने की नहीं है बल्कि प्रतिष्ठान को कुछ ज़्यादा लचीला, विविध और ज़िम्मेदार बनाने की है। सिद्धान्ततः अचूक कहे जाने वाले प्रतिष्ठान के मुकाबले में मैं ऐसे प्रतिष्ठान को पसंद करूँगा जो चूक की संभावना को स्वीकार करके चले और इस जागरूकता के साथ उसमें विविधता और लोच हो। उस लोच और विविधता की क्या शर्तें होंगी जैसे ही हम इस पर विचार करेंगे हमें 'साहित्य क्यों' इस प्रश्न से उलझना पड़ेगा।

पिछले 20-25 वर्षों में भारतीय साहित्य में शायद सबसे ज़्यादा विप्लवी चेतना 'विश्व साहित्य' जैसी धारणा की चेतना रही है। मेरी यह क्षमता तो नहीं है कि मैं आपके समक्ष भारत की सभी भाषाओं के साहित्य के बारे में कुछ कर सकूँ। मुझ से आशा यही की जायेगी कि मैं अपने नतीजे हिन्दी के अनुभव से ही निकालूँगा। लेकिन आदरपूर्वक इतना निवेदन अवश्य करना चाहूँगा कि जो कुछ भी थोड़ी जानकारी मुझे है, 'विश्व साहित्य' की अवधारणा की चेतना ने सभी जगह एक विशिष्ट प्रेरकशक्ति की भूमिका अदा की है।

इस चेतना के प्रभावी होने का ढंग क्या रहा है? बीस-पच्चीस वर्षों की सीमा लगाने का तात्पर्य क्या है ? 'विश्व साहित्य' की चेतना भारतवर्ष में आज़ादी के पहले भी विद्यमान और सक्रिय थी। लेकिन मुख्यतः इस चेतना का स्वरूप महान् उपलब्धियों की चेतना का था। इसके केन्द्र में थी यूरोपीय सभ्यता या संस्कृति की महान् प्रतिष्ठित विभूतियाँ। यह यूरोपीय सभ्यता या संस्कृति फलतः एक पूर्ण निर्मित वस्तु थी, एक ऐसी तस्वीर जिसके सारे रंग भरे जा चुके थे और जो उस समय की स्थायी और असुविधाजनक दुनिया पर एक खासतौर की रोशनी फेंकती थी। बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशक वाले भारतीय मानस के लिए यूरोप के प्रकाश स्तम्भ मुख्यतः पूर्ण निर्मित और समूचे अर्थों वाले, पूरी तरह अवतरित प्रकाश स्तम्भथे-ऐसे आदर्श जिन्हें या तो स्वीकार किया जा सकता था या जिन्हें अस्वीकृत किया जा सकता था। ये ही दो विकल्प थे। इन आदर्शों के प्रतिरोधी लगभग उसी तरह

प्राचीन भारत के प्रकाश स्तम्भ थे जो उतने ही दूर, अलग-अलग अपने आप में सम्पूर्ण-पूरी तरह बाहर अवतरित प्रकाश स्तम्भ थे। जो अतीत की स्वतः पर्याप्त सभ्यता के प्रतीक थे-दूसरे शब्दों में आदर्श थे। भारतवर्ष का सर्जनात्मक मानस 'विश्व साहित्य' के दबाव को महसूस करता है-लेकिन आदर्शों की तरह। एक आदर्श का विकल्प दूसरा आदर्श है।

दूसरे महायुद्ध के बाद की परिस्थिति ने, जो भारतवर्ष के लिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की स्थिति भी है, इस तस्वीर को बदल दिया। युद्धोत्तर परिस्थिति गोरी सभ्यता को एक पूर्णतः निर्मित वस्तु की तरह नहीं, बल्कि एक ऐसी वस्तु की तरह प्रस्तुत करती है जिसमें ठहराव नहीं है। उसमें निरन्तर ऐसे परिवर्तन हैं जिनकी कल्पना भी पहले नहीं की गयी थी। इस बदली हुई या बदलती हुई परिस्थिति में चेतना पर 'विश्व साहित्य' की अवधारणा का दबाव विप्लवी बनकर पड़ता है-समसामयिक, निरन्तर बदलता हुआ कुछ ऐसा जो खास अर्थों में बीसवीं शताब्दी के नाम से अभिहित किया जाता है। इस वीसवीं सदी को एक सर्वमान्य नामकरण की तरह महसूस किया गया उस समस्त संपुंज के लिए जिसमें तूफान और भूकम्प हैं, विज्ञान और यांत्रिकी की चुनीतियाँ हैं, समाज को आमूल बदल डालने के निमित्त प्रयोग हैं, औसत आदमी की ज़िन्दगी को नये सिरे से ढालने के सपने हैं बड़े पैमाने पर उत्पादन है, महानगर हैं, निरन्तर उठते हुए जीवन-स्तर हैं-और इस अभियान के बीच व्यक्ति के निजी, परम्परित या भावुक विश्वासों के लिए कोई जगह नहीं है। संक्षेप में 'विश्व साहित्य' की इस चेतना ने 'आधुनिक' या 'समसामयिक' की मुद्रा ग्रहण कर ली जिससे हम सब परिचित हैं और साहित्य बीसवीं शताब्दी की तीर्थयात्रा पर निकल पड़ा।

आज हम उस समय मिल रहे हैं जब इस तीर्थ-यात्रा के पहले उत्साह को बीते हुए काफी कुछ अरसा गुज़र गया है। बीसवीं शताब्दी ढल रही है। इसका अवसर आ गया है कि हम थोड़ा तटस्थ होकर देखें-क्या इस सारे कुहराम में कोई अर्थ रहा है? इतिहास की इस कभी उत्तेजित, कभी हताश गति में क्या कोई ऐसी रूपरेखा रही है, जो याद किये जाने के योग्य हो? शीघ्र ही, शायद हम में से बहुतों की ज़िन्दगी में, इक्कीसवीं शताब्दी की शुरुआत होते ही यह बीसवीं शताब्दी उस सबके लिए पर्याय बन जायेगी जो खत्म हो चुका है, मर चुका है-हमेशा के लिए दूर जा चुका है, उस समय यह बीसवीं शताब्दी कैसी दीखेगी ?

अलग-अलग दिशाओं में खिंचती हुई यह चरमराती हुई कोशिशें, यह गति और प्रति गति, बढ़ते हुए पानी के ऊपर मुँह निकाले रहने की छटपटाहट, मनुष्य को मानवीय बनाने की असम्भावना और साथ-साथ व्यापक सृजनशील कर्म में अवसन्न आस्था-साहित्यिक सृजन के ये सारे सन्दर्भ किस तरह दीखेंगे? क्या इतिहास में हमें क्रान्ति के मोह में पड़ी हुई शताब्दी की तरह याद किया जायेगा जिस तरह आज हम उन्नीसवीं शताब्दी की प्रगति के मोह से आविष्ट शताब्दी के नाम से पुकारते हैं ? क्या साहित्य ढलती हुई बीसवीं शताब्दी के मन में गहरे घुमड़ने वाले इन बेचैन और विप्लवी प्रश्नों की अनुभूति कराने में सक्षम है ?

बीसवीं शताब्दी ढल रही है, मैंने उस सन्दर्भ को प्रस्तुत करने की कोशिश की है जिसमें आज साहित्य रचा जा रहा और जिसके साथ रिश्ता जोड़कर साहित्य को अर्थवत्ता देने की कोशिशें हो रही हैं। बहुत-सा बदलाव, उलट-फेर इस छटपटाहट से उप्रजा है। इस सन्दर्भ में ही 'साहित्य क्यों' का दबाव हमारी सृजनशीलता पर पड़ता है। 'बीसवीं शताब्दी' की अवधारणा ने इस चेतना को जन्म दिया कि बड़े पैमाने पर साहित्य विश्व स्तर पर सभ्यता और संस्कृति से उलझने का प्रयास है। इसी से 'विश्व साहित्य' की कभी धुँधली, कभी अस्पष्ट तस्वीर का निर्माण होता है। यह मान्यता काफी हद तक बीस-पच्चीस वर्षों में अन्तर्निहित रही है कि विश्वसभ्यता या संस्कृति के इस अभियान की सृजनशील ज़िम्मेदारी की दिशा तय हो चुकी है। साहित्य के लिए प्रश्न इतना ही है कि उस ज़िम्मेदारी को किस तरह की उन्मुक्तता स्वीकार करती है और किस तरह की उन्मुक्तता उससे कतराती है।

जिस तरह की विडम्बना का ज़िक्र सर्वेश्वरजी ने किया, या प्रतिष्ठान और प्रतिष्ठान-विरोध के नारों में जिस गर्दोगुबार वाली उत्तेजना का दर्शन हमें होता है, ये सब इस परिस्थिति के उदाहरण हैं कि हमारे लिए साहित्यिक सन्दर्भ की बीसवीं शताब्दी वाली बनी बनायी मान्यता को स्वीकार करके चलना निरन्तर कठिन होता जा रहा है, मैंने शुरू में जो तार्किक बहस उठायी उसका उद्देश्य केवल इतना था कि इस कठिनाई के एहसास को अवरुद्ध करने वाले जो भी तार्किक गुंजलक हमने अपनी कल्पना के चारों ओर लपेट लिये हैं उनसे बाहर निकल जाने का रास्ता साफ हो और हम इस ढलती हुई बीसवीं शताब्दी के यथार्थ को उसके मोहक आवरणों से थोड़ा अलग करके देख सकें।

स्वप्नदर्शी मन जब सपने देखते-देखते रुक जाता है और उन सपनों को कहीं साकार होते नहीं पाता तो खतरनाक पाखण्ड में पड़ता है वह पाखण्ड यथार्थ के किसी उदाहरण को जल्दी से स्वप्न का साकार रूप मान लेने का; ताकि अपने को स्वप्न की सार्थकता का आश्वासन दे सके, या फिर बहुत कड़ुवाहट और तेज़ी के साथ उन स्वप्नों पर आक्रमण शुरू करता है। इस आक्रमण की शक्ल चीखती हुई मूल्यहीनता, अर्थहीनता और बड़बड़ाहट की होती है। दोनों ही शक्लें उस घबराये हुए जिद्दी मन की हैं जो स्वप्न और यथार्थ की दुर्लव्य खाई को तो देखता है लेकिन उन आधारभूत मान्यताओं पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाना चाहता जिसके कारण इस खाई का निर्माण हुआ है।

बीसवीं शताब्दी के बहुत से अन्तर्विरोधों में से एक का उल्लेख उदाहरण के लिए काफी है। हमने बीसवीं सदी को मूलतः यान्त्रिकी और वैज्ञानिक उन्नति, विपुल उत्पादन और निरंतर विकासमान जीवन स्तर के रूप में प्रतिविम्बित किया। इस प्रतिबिंब में एक स्वप्नलोक जैसा गुण है। यथार्थ और स्वप्न के इस मिले-जुले रूपाकार को ही हमने बीसवीं शताब्दी का नाम दिया। काल के भीतर से विकसित होते हुए इस स्वप्न ने ही दैत्य की तरह दुनिया को गति दी या गतिहीनता पर कोड़े लगाये। यह प्रतिबिंब ही सारी दुनिया पर एक इकाई होने का ठप्पा लगाता है। उम्मीद की गयी कि साहित्य अपनी विविध आवाज़ों के साथ इस आधारभूत परिभाषा के साथ सामंजस्य स्थापित करेगा। लेकिन बीसवीं शताब्दी ने परिभाषा के इस दर्पण में अपनी जो छाया देखी उसमें साहित्य या साहित्यिक सृजनशीलता का कोई समावेश है ही नहीं। अगर छाया सचमुच ऐसी ही है तो अब तक साहित्य को

चुप हो जाना चाहिए था। साहित्य निर्मित होता रहा है, यह इसका प्रभाव है कि साहित्य ने मानव सभ्यता से उलझने के अपने दावों के बावजूद या तो दोयम दर्जे की भूमिका स्वीकार कर ली या फिर दर्पण में दिखती छाया सही नहीं है। इस शताब्दी के आरम्भ में स्पेंगलर ने जो छाया देखी थी उसमें साहित्य अनुपस्थित था। स्पेंगलर द्वारा दी हुई परिभाषा स्वीकार कर ली गयी लेकिन उसके परिणामों को नहीं स्वीकार किया गया-यही अन्तर्विरोध है। इसी अन्तर्विरोध से छुटकारा पाने के लिए साहित्य ने इस शताब्दी में विश्वस्तर पर अपने को नये रूपों में ढालने की कोशिश की है-क्या अन्तर्विरोध से छुटकारा सचमुच मिल गया? जिस युगबोध को बार-बार ध्वनित करने की कोशिशें की गयीं वह सब रह-रहकर बीमार आदमी के करवटें बदलने की तरह क्यों लगता है ?

क्या इस आधारभूत मान्यता पर प्रश्नचिह्न लगाने का अवसर आ गया है? हममें से अधिकांशतः जो वीसवीं शताब्दी की इस छाया के निर्माता कम रहे हैं, उत्साहित दर्शक अधिक रहे हैं, अक्सर इस बेचैनी को महसूस करते रहे हैं और तमाम विप्लवी प्रभावों के बावजूद इस बेचैनी के लक्षण भारतीय साहित्य में दीखते रहे हैं। अक्सर इस बेचैनी की रूपरेखा सामने स्पष्ट नहीं रही है और उसने आधारभूत प्रश्न का स्वरूप तो बड़े पैमाने पर शायद नहीं लिया। संशय की धुँधली आवाजें जरूर आती हैं। जिस रूप में मानव सभ्यता के जिस स्वप्न के रूप में यह बीसवीं शताब्दी हमारे लिए संदर्भ प्रस्तुत करती रही है-क्या यह सचमुच हमारा वास्तविक सन्दर्भ है-या सिर्फ एक मायालोक है जो हमें थोड़ा आविष्ट और थोड़ा हताश छोड़ जाता है? इस विडम्बना के भीतर से हमारी पर्याप्त प्रतिक्रिया की आवाज क्या है ?

विषय प्रवर्तन के लिए लिखे गये लेख की सीमा होती है। जैसा मैंने पहले ही निवेदन किया, मेरा काम सन्दर्भ को उजागर करने भर का है। कोई सिद्धान्त या मतवाद प्रस्तुत करने का नहीं। आज की तमाम साहित्यिक चीख-पुकार, आन्दोलन, टकराहट, गिरोह-बन्दियों, घोषणापत्रों की सतह के नीचे अगर मैं किसी हद तक उस गहरे अतल की ओर आपको उन्मुख कर सका हूँ, और आप महानुभावों को इस विचार-विमर्श में योगदान देने के लिए कुछ भी प्रेरित कर सका हूँ तो मैं अपने काम को पूरा समझेंगा। मेरे लिए इतना काफी होगा यदि मैं आपके सम्मुख स्पष्ट कर सका हूँ कि जिन मान्यताओं के ऊपर हम खड़े हैं उन पर फिर एक बार प्रश्नवाचक दृष्टि डालने की ज़रूरत है।

अन्त में, कवि सर्वेश्वर के ही कुछ शब्दों को उद्धृत करके मैं अपने इस विषय प्रवर्तन को समाप्त करने की इजाज़त चाहूँगा।

पाँव रखते ही
बाँस का पुल चरमराता डोलता है
कहीं नीचे बहुत गहरे
अतल खाई है।

संक्षिप्त विवेचन

आशा करते हैं कि विद्यार्थियों ने ध्यानपूर्वक निबंध का पाठ किया होगा।

साहित्यकार का संशय और हताशा

निबंध का आरम्भ ग़ालिब के उस शेर से होता है जो आत्म-संदेह और अपने कार्य की निरर्थकता के अनुभव को दिखाता है। एक लेखक पूरी उम्र सृजन में लगा देता है इस उम्मीद में कि वह समाज बदलेगा या मनुष्यता में कोई बुनियादी परिवर्तन लाएगा। लेकिन जब अंत में वह पाता है कि दुनिया वैसी ही है, तब वह पूछता है—'इसमें दम क्या है?' हालांकि ग़ालिब की शोहरत ने उनके संशय को गलत सिद्ध कर दिया, पर यह प्रश्न हर युग के लेखक के लिए शाश्वत बना रहता है।

विशाल चित्रफलक बनाम समकालीन विडम्बना

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के हवाले से लेखक ने एक बहुत बड़ी विडम्बना को सामने रखा है। अतीत का गौरव और वर्तमान की लाचारी जब हम वाल्मीकि, शेक्सपियर या टॉल्स्टॉय जैसे दिग्गजों को देखते हैं, तो साहित्य की उपयोगिता पर कोई सवाल ही नहीं उठता। उनका विस्तार मनुष्यता के इतिहास जितना बड़ा है। लेकिन जब आज का लेखक (जैसे 1970 के भारत का हिंदी लेखक) अपने परिवेश की गिरावट, नपुंसकता और भ्रष्टाचार को देखता है, तो उसे अपना लेखन बौना और अर्थहीन लगने लगता है।

क्रूर सत्य

हिटलर के सिपाही शेक्सपियर पढ़ते थे और साथ ही साथ नृशंसता भी करते थे। यह इस कड़वे सच की ओर इशारा है कि उच्च कोटि का साहित्य भी हमेशा मनुष्य को क्रूर होने से नहीं रोक पाता।

साहित्य और मठ / प्रतिष्ठान

लेखक ने साहित्य और प्रतिष्ठान के संबंधों पर भी गहरी चोट की है। साही का मानना है कि प्रतिष्ठानहीन साहित्य असंभव है: पुरस्कार, पत्रिकाएं, विश्वविद्यालय और गोष्ठियां साहित्य को समाज में स्थापित करती हैं। प्रतिष्ठान अक्सर सृजन की 'बेचैन रेखा' को कुचल देता है या उसे अपने सांचे में ढाल लेता है। लेखक का मानना है कि हमें प्रतिष्ठान को खत्म करने के बजाय उसे और अधिक लचीला, वैविध्यपूर्ण और उत्तरदायी बनाने की आवशकता है।

'वैश्विक साहित्य' और बीसवीं शताब्दी का मोहभंग

लेखक ने 'विश्व साहित्य' और 'आधुनिकता' की अवधारणा पर भी प्रश्न उठाया है। पहले विश्व साहित्य एक 'आदर्श' था (जैसे यूरोपीय महापुरुष)। दूसरे विश्व युद्ध के बाद, यह एक 'परिवर्तनशील चुनौती' बन गया। बीसवीं सदी को यांत्रिकी, विज्ञान और उत्पादन की सदी माना गया, लेकिन इस चमक-धमक वाले 'दर्पण' में साहित्य के लिए कोई जगह ही नहीं बची। साहित्य या तो हाशिए पर चला गया या उसने अपनी पहचान खो दी।

निष्कर्ष

निबन्ध का अंत इस विचार के साथ होता है कि हमें उन आधारभूत मान्यताओं पर फिर से विचार करना होगा जिन पर हमारा आज का साहित्य खड़ा है। क्या हम सिर्फ एक 'मायालोक' (भ्रम)

में जी रहे हैं? क्या हमारी बीसवीं सदी की उपलब्धियां वास्तव में मानवीय हैं? सर्वेश्वर की पंक्तियाँ उस अनिश्चितता को बखूबी दर्शाती हैं:

'पाँव रखते ही / बाँस का पुल चरमराता डोलता है / कहीं नीचे बहुत गहरे / अतल खाई है'। यह लेख किसी बने-बनाए उत्तर के बजाय एक खोज (Search) का आह्वान है। यह बताता है कि साहित्य का 'क्यों' कभी खत्म नहीं होगा, क्योंकि यही 'क्यों' साहित्य को जीवित और गतिशील रखता है।

सरल शब्दों में कहें तो विजयदेवनारायण साही का निबन्ध 'साहित्य क्यों?' पाठकों को यह बताने का प्रयत्न करता है कि साहित्य मनुष्य को 'भीतर से आज़ाद' करने की प्रक्रिया है। साथ ही यह भी बताने का प्रयास करता है कि मनुष्य केवल उपभोक्ता नहीं हैं, बल्कि संवेदनाओं और भावनाओं से रचा बसा प्राणी है। साही का मानना था कि जिस समाज में साहित्य मर जाता है, वह समाज अंततः आत्मिक रूप से मृत हो जाता है।

साही स्पष्ट रूप से घोषित करते है कि "साहित्य वह माध्यम है जो मनुष्य को उसकी अपनी ही संकीर्णताओं से मुक्त कर उसे ब्रह्मांड की संवेदना से जोड़ता है"।

15.6 सारांश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने

- साही के व्यक्तिगत जीवन का परिचय प्राप्त कर किया होगा।
- साही के साहित्यिक अवदान को समझा लिया होगा।
- साही की आलोचनात्मक एवं काव्यात्मक दृष्टि को जाना।
- साही की मौलिक दृष्टि से साहित्य के उद्देश्य एवं महत्त्व जाना होगा।
- साथ ही .... आशा करते हैं कि स्वयं भी साहित्य को देखने,समझने की नवीन दृष्टि प्राप्त की होगी।

15.7 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. विजयदेवनारायण साही रचना संचयन, सं. गोपेश्वर सिंह , 2021, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली।
2. आशंकाओं के द्वीप में लघु मानव, आनंद पाण्डेय, 2025, सर्व भाषा ट्रस्ट, नई दिल्ली।
3. https://44books.com/विजयदेवनारायण साही
4. समालोचन, ब्लॉग, https://samalochan.com/vijaydev-narayan-sahi/
5. https://samalochan.com/विजयदेव नारायण साही : एक कुजात मार्क्सवादी आलोचक : गोपेश्वर सिंह

15.8 सहायक/ उपयोगी पाठ्य सामग्री

हिंदी आलोचना का विकास, नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली।
हिंदी साहित्य और सम्वेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
हिंदी आलोचना, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।

15.9 निबंधात्मक प्रश्न

1. विजयदेवनारायण साही के व्यक्तित्त्व एक कृतित्त्व का विस्तार से वर्णन करते हुए उनकी समग्र साहित्यिक का विवेचन कीजिए।
2. पठित निबंध 'साहित्य क्यों' का समालोचनात्मक विवेचन कीजिए।